# प्रसाद-साहित्य और समीक्षा

डा० रामरतन भटनागर

१९५८

साहित्य प्रकाशन
मालीवाड़ा दिल्ली

प्रकाशक
साहित्य-प्रकाशन
मालीवाड़ा दिल्ली ।

मूल्य
आठ रुपया

मुद्रक
रामाकृष्णा प्रेस
कटरा नील, दिल्ली

# विषय-सूची

## हमारा आलोचना साहित्य

| | | |
|---|---|---|
| १. हिन्दी एकांकी उद्भव और विकास | डा० रामचरण मेहन्द्र | १२॥) |
| २. जैनेन्द्र साहित्य और समीक्षा | डा० रामरतन भटनागर | ७॥) |
| ३. 'प्रसाद' साहित्य और समीक्षा | डा० रामरतन भटनागर | ८) |
| ४. आचार्य कवि केशव | प्रो० कृष्णचन्द वर्मा | ३) |
| ५. हिन्दी काव्य दर्शन | प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त | ६) |
| ६. काव्य विवेचन | प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त | ६) |
| ७. साहित्य का स्वरूप | प्रो० सुरेशचन्द्र गुप्त | २॥) |
| ८. रवीन्द्र साहित्य और समीक्षा | | ३) |
| ९. टैगौर साहित्य दर्शन | | २॥) |

# 'प्रसाद'-साहित्य और समीक्षा

## 'प्रसाद' का जीवन

अन्य श्रेष्ठ कलाकारों की भांति जयशंकर 'प्रसाद' का सारा साहित्य उनके जीवन से संबंधित किया जा सकता है, परन्तु जीवन के बाह्य प्रसंगों और घटनाओं की अपेक्षा उनका आंतरिक जीवन ही उनके साहित्य में अधिक विकसित हुआ है। उनके बाह्य जीवन में उतना वैचित्र्य नहीं था। उनके साथियों और समसामयिकों के उल्लेखों, निर्देशों और संस्मरणों से हम उसकी एक निश्चित रूप-रेखा बना सकते हैं, परन्तु उनका आंतरिक जीवन उपन्यास, कहानी, कविता गीत और नाटक, निबंध में इस प्रकार बिखरा हुआ है कि उसके समन्वयात्मक रूप का निर्माण कुछ कठिन ही है।

'प्रसाद' का परिवार 'सुंघनी साहू' के परिवार के नाम से प्रसिद्ध है। काशी में इस परिवार को इतनी विशिष्टता प्राप्त थी कि काशी-नरेश को छोड़कर 'जयशंकर', 'जयमहादेव' कहकर इसी परिवार को अभ्यर्थना मिलती थी। 'प्रसाद' के पितामह श्रीरत्नसाहु अपने समय की काशी के प्रमुख संभ्रांत पुरुषों में से थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। पहली से शीतलप्रसाद का जन्म हुआ। यह जीवन भर अविवाहित रहे, और अँगरेजी स्कूल में मास्टर के रूप में काम करते रहे। दूसरी स्त्री से देवीप्रसाद, बैजनाथप्रसाद, गिरिजाशंकर, जित्तूसाह और गौरीशंकर उत्पन्न हुए। दूसरी स्त्री से ही वंश चला। देवीप्रसाद की पाँच संतानें हुईं। सबसे बड़ी देवकी थीं। इन्हीं के पुत्र अंबिकाप्रसाद गुप्त थे जिन्होंने 'प्रसाद' जी के आग्रह से उन्हीं की देख-रेख में 'इंदु' निकाला। देवकी के बाद शंभुरत्न, उनके बाद सेवकी, फिर प्यारी और सबसे छोटे जयशंकर। शंभुरत्न के एक लड़का हुआ, परन्तु उसका देहान्त हो गया। सेवकी और प्यारी निःसंतान रहीं। बैजनाथप्रसाद के दो लड़के हुए, जिनकी मृत्यु हो

गई। गिरजाशंकर के दो पुत्र हुए—भोलानाथ और अमरनाथ। जित्तूसाह के पुत्र हुआ—शिवशंकर। गौरीशंकर निःसंतान रहे।

इस तरफ़ 'प्रसाद' थे। दूसरी तरफ गिरजाशंकर और उनके दो पुत्र भोलानाथ और अमरनाथ। तीसरी ओर शिवशंकर। पिता की मृत्यु के बाद 'प्रसाद' के बड़े भाई शंभुरत्न ही इस परिवार के स्वामी हुए। विनोदशंकर व्यास ने उनके संबंध में लिखते हुए लिखा है कि उनका खर्च लंबा था और वह बड़े ठाठ-बाट से रहते थे। चाचा गिरजाशंकर ने उसका विरोध किया और धीरे-धीरे यह विवाद कलह का रूप ग्रहण करने लगा।

इस सम्मिलित परिवार में ही १८८९ ई० में 'प्रसाद' का जन्म हुआ। वर्ण की दृष्टि से यह कान्यकुब्ज (हलवाई) वैश्य-कुल का परिवार था। पितामह शिवरत्न-साहु की उदारता और उनके दया-दान को अभी तक लोग भूले नहीं थे। स्वयं 'प्रसाद' के पिता बाबू देवीप्रसाद भी विद्वानों और कलाविदों का आदर करते थे।
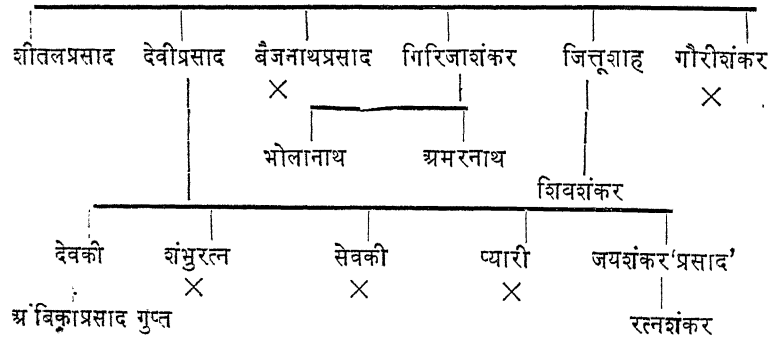
'प्रसाद' के प्रारंभिक जीवन के कुछ विवरण उनके जीवन-इतिहास को स्पष्ट करने में अनिवार्य बन जाते हैं। १९०१ ई० में उनके पिता का देहान्त हो गया। और इस तरह १२ वर्ष की आयु में ही वह पितृ-हीन हो गये। पिता बहुत-सा कर्ज छोड़कर मरे थे और उनकी मृत्यु के बाद कारोबार भी कुछ शिथिल पड़ गया। तीन वर्ष बाद (१९०४) माता की भी मृत्यु हो गई। इस समय 'प्रसाद' १५ वर्ष के किशोर-मात्र थे। पिता के बाद बड़े भाई ने व्यापार सँभाला। दो वर्ष बाद (१९०६ में) वह भी चल बसे। इसमें संदेह नहीं कि यह एक बहुत बड़ा आघात था, और इसने 'प्रसाद' के जीवन की दिशा एकदम बदल दी। सारे कारोबार का बोझ पर आ पड़ा। 'दुकान' उनके जीवन का एक परमावश्यक अंग बन गई और

साहित्य को गौण स्थान मिला। ऋण के बोझ और दुकान की व्यवस्था से बँधे न रहने पर वह साहित्य को और भी बहुत कुछ दे सकते थे। लगभग तीस वर्षों तक (१६०६ से १६३६) 'प्रसाद' दुकान, घर और साहित्य की त्रिधारा में बहते रहे। लगभग सारा जीवन व्यवसाय सँभालने में लग गया और केवल अंतिम वर्ष में ही वह ऋण-मुक्त होकर संतोष की साँस ले सके थे। उन्होंने अपने भावी साहित्यिक जीवन की एक रूप-रेखा भी बनाई थी और एक निश्चित ढंग से काम करना चाहते थे, परन्तु वह सपना उनके साथ ही चला गया। उनकी पहली रचना १६०८ में प्रकाशित हुई। कदाचित् इसी समय उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ अपनी कोई रचना आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास भेजी, परन्तु उनकी आलोचना उन्हें पसन्द नहीं आई। फलतः उन्होंने इंदु के संबंध में एक योजना तैयार की। १६०६ से १६१६ तक यह पत्र मासिक पुस्तक के रूप में बराबर प्रकाशित होता रहा। बाद में कदाचित् १६२४ में उनको नया रूप-रंग देकर पुनर्जीवित करने की चेष्टा की गई थी, परन्तु वह असफल रही। केवल दो-तीन अंक ही निकल सके।

इन तीस वर्षों के साहित्यिक जीवन की कहानी इस प्रकार है—

१६०६ उर्वशी (चंपू)
१६१० प्रेम-राज्य (कविता)
१६१०—सज्जन (ऐकांकी)
१६१२ कल्याणीपरिणय (एकांकी), कानन-कुसुम (काव्य), छाया (कहानी), करुणालय (गीतिनाटच)
१६१३ प्रेम-पथिक (काव्य)
१६०६—१६१३ 'चित्राधारा' (प्रारंभिक रचनाएँ, प्रकाशित १६२८)
१६१४ महाराणा का महत्व (काव्य,) प्रायश्चित्त (एकांकी)
१६१५ राज्यश्री (नाटक)
१६०६—१६१६ 'इंदु' (संपादकीय) और 'इंदु' में प्रकाशित अन्य रचनाएँ।
१६२१ विशाख (नाटक)
१६२२ अजातशत्रु (नाटक)
१६२३—कामना (नाटक)
१६२५—आँसू (काव्य)
१६२५ जनमेजय का नाग-यज्ञ (नाटक), प्रतिध्वनि (कहानी)
१६२७ झरना (काव्य: १६१८-१६२७ के बीच की लिखी स्फुट रचनाएँ)
१६२८ स्कन्दगुप्त (नाटक)
१६२६ एक घूँट (एकांकी), आकाशदीप (कहानी)

१९३० कंकाल (उपन्यास)
१९३१ चंद्रगुप्त मौर्य (नाटक), आँधी (कहानी)
१९३३ ध्रुवस्वामिनी (नाटक)
१९३४ तितली (उपन्यास)
१९३५ लहर (काव्य:१९२७–१९३५ की रचनाएँ)
१९३६ इंद्रजाल (कहानी), कामायनी (महाकाव्य,१९२६–१९३६ के बीच की रचना), इरावती (अपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास)।
१९३०–३६ 'काव्य और कला' निबंध 'द्विवेदी–अभिनन्दन–ग्रन्थ' में प्रकाशित 'इंद्र'–शीर्षक निबंध।

'हंस' (१९२८) और 'जागरण' (पाक्षिक १९३२) में भी संपादकीय और अन्य प्रकार की सामग्री 'प्रसाद' की देन है। 'हंस' कुछ दिनों बाद प्रेमचन्द के हाथ में आ गया। पाक्षिक जागरण के १२ अंक निकले। फिर इसे बंद कर देना पड़ा। इसी में 'प्रसाद' का 'तितली' उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था, परन्तु संपूर्ण उपन्यास प्रकाशित होने से पहले ही 'जागरण' बंद हो गया। बाद में यह उपन्यास १९३४ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इस तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' का साहित्यिक कृतित्व बहुत विशाल है। इसे हम दो कालों में बाँट सकते हैं। १९०८ से १९२५ तक के समय को हम प्रयोग–काल कह सकते हैं। ३६–३७ वर्ष की अवस्था में 'प्रसाद' की प्रौढ़तर काव्य-कृति आँसू हमारे सामने आती है, और उनकी साहित्य-कला का विकास अत्यन्त तीव्र गति से होता है। उनकी लगभग सभी महत्व-पूर्ण रचनाएँ अगले दस वर्ष में आई। नाटक, उपन्यास, कहानी कविता और निबंध के पाँच विविध क्षेत्रों में इतनी उच्च कोटि का कला-प्रयत्न इन दस वर्षों में सिमट आया है कि हम 'प्रसाद' की साधना से चमत्कृत हो जाते हैं। इन रचनाओं की पृष्ट-भूमि में अध्ययन और चिंतन की लंबी शृंखला रही होगी। 'प्रसाद' की रचनाओं के इस उत्तर काल को हम प्रौढ़काल कह सकते हैं। साहित्य क विभिन्न अंगों में उनका योग इस प्रकार है—

क चंपू— उर्वशी (१९०९), प्रेम-राज्य (१९१०)

ख काव्य—चित्रधारा (१९०८–१८), करुणालय (गीतिनाट्य, १९१३), प्रेम-पथिक (१९१३), महाराणा का महत्व (१९१४) कानन–कुसुम (१९१२), आँसू (१९२५–२६), झरना (१९२७), लहर (१९३५), कामायनी (१९३६)

ग नाटक—सज्जन (१९१०–११), कल्याणी परिणाम (१९१३), प्रायश्चित (१९१४), राज्यश्री (१९१५), विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२),

दुर्घटना हो गई। 'प्रसाद' नाव पर घूमने निकले थे। स्नान के लिए जब वह नाव से उतर रहे थे, तो सहसा पानी में गिर पड़े। किसी तरह लोगों ने उन्हें बाहर निकाला। वहाँ के भीलों ने उन लोगों का विशेष आदर-सत्कार किया था। 'प्रसाद' की रचनाओं में भीलों का जो मार्मिक वर्णन है, वह उसी अवस्था का अन्वेषण है। झारखंड में मुंडन होने के कारण ही उनका नाम झारखंडी पडा था।" (दिन-रात, पृ० १९) इसमें सन्देह नहीं कि किशोरावस्था के आरम्भ के परिचित इस पर्वत-वन-प्रदेश के अद्भुत सौंदर्य ने कवि के मन पर विशेष प्रभाव डाला। 'प्रसाद' का प्रारम्भिक काव्य प्राकृतिक सुषमा के उन्मेषपूर्ण वर्णन से भरा पड़ा है। उनके कथा-साहित्य में भी बुन्देलखंड के वन्य जीवन और प्राकृतिक छटा के अनेक दृश्य हैं। संवेदना शील बालक के मन पर उन प्रारम्भिक दिनों में प्रकृति की जो छाप पड़ी, उसे उसने बराबर सँजोए रखा। हिन्दी-काव्य के एक नये उपादान के रूप में बाद में यह संवेदना प्रकट हुई।

१२ वर्ष की आयु में पिता का देहान्त हो गया। फल-स्वरूप संपत्ति के सम्बन्ध में पारिवारिक कलह का आरम्भ हुआ। लगभग तीन वर्ष तक यह पारिवारिक कलह भयंकर रूप से चलता रहा। 'प्रसाद' की रचनाओं में पारिवारिक कलह के अनेक सफल चित्र मिलते हैं। उन्होंने अपने चारों ओर बड़ी सूक्ष्मता से देखा था और जो देखा, उसका बड़ी मार्मिकता से साहित्य में उपयोग किया। कुछ दिनों तक यह पारिवारिक विग्रह जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था। दोनों ओर से गुण्डे रक्खे गये। पंचायतें हुईं। अन्त में मुकदमा अदालत में पहुंचा। झगड़ा प्रमुख्यतया नारियल बाजार वाली दुकान के लिये था। उन दिनों सुर्ती के व्यापार में इस दुकान की सबसे अधिक प्रसिद्धि थी। दुकान पर शम्भुरत्न का कब्जा था, परन्तु दूसरे पक्ष इसे हथियाना चाहते थे। घर उसी प्रकार सम्मिलित परिवार के रूप में चल रहा था, परन्तु बाहर एक दूसरे के जानलेवा थे। यह मुकदमा २-३ वर्ष चला और उसमें लाखों रुपये खर्च हुए। कुछ दिनों के लिए दुकान के काम के लिए रिसीवर की भी नियुक्ति हुई, परन्तु अंत में अदालत ने दुकान पर शम्भुरत्न का अधिकार ही स्वीकार किया। मुकदमा तय होने के दो वर्ष बाद ही शम्भुरत्न का देहान्त हो गया और इस प्रकार १७ वर्ष की आयु में व्यवसाय, गृहस्थी और कर्ज का सारा बोझ 'प्रसाद' पर आ पड़ा। उस समय तक उन्होंने साहित्य-जगत् में प्रवेश नहीं किया था, परन्तु उनके साहित्य और सामाजिक संस्कार बहुत कुछ बन चुके थे।

इसमें सन्देह नहीं कि अगले १५ वर्ष 'प्रसाद' के लिए बड़े असुविधाजनक थे। उनकी रचनाओं में उनकी उस समय की मनस्थिति पूर्ण रूप के प्रतिबिंबित है। वह प्रकृति-प्रेम, पारिवारिक असंतोष और प्रेम के झूलों में झूल रहे थे। 'चित्राधार' की रचनाएं, 'कानन-कुसुम' 'आँसू' और 'झरना' की कविताएँ और 'छाया' की कहानियाँ

उनके इस समय के मानसिक आन्दोलनों को स्पष्ट रूप से उपस्थित करने में समर्थ हैं। इन दिनों में भी उन्होंने साहित्य-चेतना को जाग्रत रक्खा और 'इंदु' (१६०६-१६१६) के द्वारा हिन्दी-साहित्य को नया रूप देने की चेष्टा की—यह कम आश्चर्य की बात नहीं। साधारण प्रतिभावाला व्यक्ति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य नायकत्व को स्वीकार कर लेता और द्विवेदी-युग की कविता-कला से भिन्न किसी नई शैली के आविष्कार की भी बात उसके मन में नहीं उठती, परन्तु 'प्रसाद' का स्वतन्त्र अध्ययन बंगला, अंगरेजी, उर्दू और संस्कृत की सर्वश्रेष्ठ परिपाटियों के परिचय से आगे बढ़ा और उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में अपने लिये नया मार्ग निकालने का साहस किया। आचार्य द्विवेदी द्वारा किसी रचना के अस्वीकृत हो जाने पर ही 'सरस्वती' से होड़ लेने की बात उनके मन में आई। 'इंदु' का जन्म इसी स्पर्धा के फल-स्वरूप हुआ। इसके बाद उन्होंने अपनी कोई भी रचना 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ नहीं भेजी। इससे यह स्पष्ट है कि वह अपनी साहित्यिक प्रतिभा के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से आश्वस्त थे। कविता, कहानी, गद्य-गीत, और नाटक के क्षेत्र में उनकी मौलिकता के सम्बन्ध में आज भी सन्देह नहीं।

" 'प्रसाद' की याद" शीर्षक अपने एक धारावाहिक लेख में श्री रायकृष्णदास ने 'प्रसाद' से अपनी पहली भेंट और उनके प्रारम्भिक साहित्यिक विकास की एक रूप-रेखा उपस्थित की है। 'प्रसाद' की पहली प्रकाशित रचना 'भारतेन्दु' (१६०७) में मिलती है। यह पत्रिका वस्तुतः काशी की अग्रवाल-स्पोर्ट्स-क्लब नाम वाली अग्रवाल युवकों की गोष्ठी (क्लब) की मुख्य पत्रिका थी। यह पहले लिखित पत्रिका थी, परन्तु बाद में लेखों की उत्कृष्टता देखकर क्लब ने एक छोटी-सी पत्रिका निकालना निश्चित किया, और 'भारतेन्दु' नाम से उसे निकाला। काशी में भारतेन्दु का गौरव अब भी पूर्ण तेज में तप रहा था, अतः यह नाम उपयुक्त ही था। एक वर्ष बाद यह पत्रिका बन्द हो गई। बन्द होने पर 'प्रसाद' जी ने अपने भांजे अंबिकाप्रसाद गुप्त द्वारा 'भारतेन्दु' के पुनः प्रकाशन की अनुमति प्राप्त करने के लिए उद्योग किया। अनुमति न मिलने पर ही उन्होंने इंदु (१६०६-१६) नाम से नई पत्रिका का प्रवर्त्तन किया। इस समय तक परिवार का सारा भार 'प्रसाद' पर आ पड़ा था, परन्तु उसके बीच में ही उनकी निर्मातृ प्रतिभा अपने को व्यक्त करने के लिये व्याकुल हो रही थी। उन दिनों 'प्रसाद' नागरी-प्रचारिणी-सभा के [illegible] में नित्य जाते थे। पुस्तकालय के अध्यक्ष—पंडित केदारनाथ पाठक उस समय के हिन्दी के उत्साही कार्यकर्ताओं में से थे। 'प्रसाद' जी की साहित्यिक प्रतिभा को पहचानने और उसे उत्तरोत्तर विकसित करने में उनकी प्रेरणा ने बड़ी सहायता दी। श्रीरायकृष्णदास जी ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—'पाठकजी जिसमें भी साहित्यिक बीज देखते. उसे साहित्य-

मनन, बंगला-अध्ययन और लेखन में प्रवृत्त कराने में कोई दकीका उठा न रखते। वह एक अच्छे मित्र थे, अतः बहुत जल्दी घुल-मिल जाते, यद्यपि झगड़ते भी उन्हें देर न लगती। काशी के सभी विद्वानों के वह अन्तरंग थे।" उन्होंने ही रायकृष्णदास और 'प्रसाद' में मैत्री-सूत्र दृढ़ दिया। १९०९ के कार्तिक के अन्त में गंगा-स्नान के उपरांत नाव पर श्रीरायकृष्णदास की 'प्रसाद' से पहली भेंट हुई। उसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—"सवेरे की सुहावनी पछवा बयार सामने गंगा के घाट पर लहरियों की चुन्नट में विरच रही थी। नाव पर मेला आ-जा रहा था और मैं उत्सुकता से उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। पाठकजी उन्हें लिए हुए पहुंचे, ठिगना, गठा हुआ, गोरा भव्य शरीर। वह गुलाबी पीताम्बर पहने और उसी के जोड़ का उपरना ओढ़े थे। गले में एक फूलमाला पड़ी हुई थी। भव्य ललाट पर विभूति का उज्ज्वल त्रिपुंड मुख-मंडल की प्रभा को और भी आलोकित कर रहा था। 'प्रसाद' जी की रूप निकाई का क्या कहना। मेरा हृदय उस झाँकी से खिल उठा।······आज घरेलू वातावरण में उनके व्यक्तित्व का निकट परिचय मिला। सलीका, तकल्लुफ, नाज-अन्दाज, अदा और शिष्टता के पुंज, कुछ सकुचने से इस समवयस्क से दो ही चार बातों में प्रेम का नाता जुड़ गया। स्वाभावतः हम लोगों की अधिकांश बातें साहित्य के सम्बन्ध में थीं। उसी में मैंने जाना कि हिन्दी-साहित्य को बहुत बड़ी देन देना इस व्यक्तित्व ने ठान रक्खा था। ठान ही नहीं रक्खा है, उसकी क्षमता भी है इसमें। हिन्दी के परपट मैदान में उस समय जो कुछ भी थोड़ा घना था—निजी व मंगनी लिया हुआ, उससे कुछ नवीन, कुछ अनूठा देने की भावना और संकल्प है उसमें।" इसका कुछ आभास वह अपने 'तिलोत्तमा' चंपू में दे भी चुके थे, जो उन्हीं दिनों प्रकाशित हुआ था।

नवीन हिन्दी-साहित्य का जन्म काशी में ही हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द (१८५०-८५) उसके प्रवर्तक थे। उनकी मंडली के अधिकांश सदस्य भी काशी के ही थे। उनके व्यक्तित्व ने हिन्दी की नई प्रवृत्तियों को साधारण जनता के लिए आकर्षक बनाया और उनके कर्तव्य के कारण पंजाब से बिहार और इंदौर से हिमालय तक हिन्दी की चर्चा चलने लगी। उनके बाद उनके समसामयिकों में चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' और पं० बालकृष्ण भट्ट अग्रगण्य थे। उनके अतिरिक्त प्रताप नारायण मिश्र और भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास ने भी भारतेन्दु की प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाया। १९०७ ई० तक जब 'प्रसाद' ने साहित्यिक जगत् में प्रवेश किया, यह मंडली बहुत कुछ मौन हो चुकी थी। प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्णदास दिवंगत हो चुके थे, और चौधरी और भट्ट अपना अधिकांश लेखन-कार्य समाप्त कर चुके थे। फिर भी उपन्यास के क्षेत्र में किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री और गोपालराम गहमरी की प्रतिभा समस्त हिंदी-प्रदेश को चकित कर रही थी और नागरी-प्रचारिणी-सभा (१८९९)

की स्थापना ने उसे साहित्यिक खोज और अध्ययन का एक बड़ा केंद्र बना दिया था। इसमें संदेह नहीं कि काशी की इस साहित्यिक परम्परा, विशेषतः 'भारतेन्दु' के व्यक्तित्व उनकी रचनाओं और उनकी प्रसिद्धि ने, 'प्रसाद' को साहित्य-क्षेत्र में उतरने की प्रेरणा दी। उनकी प्रारंभिक ब्रजभाषा की कविताओं और नाटकों पर भारतेन्दु की कला की गहरी छाप है। वह कदाचित् भारतेन्दु का मार्ग बचा कर चलना चाहते थे। उन्होंने 'चंपू' से आरंभ किया, परन्तु बाद में वह नाटक और काव्य के उन दो क्षेत्रों को ही लेकर चले जिनमें भारतेन्दु का कर्तृत्व विशेष था। अपनी काव्यमय भावुकता और ऐतिहासिक प्रतिभा के कारण वह 'कहानी' के नये क्षेत्र को भी लेकर चले। उपन्यास का क्षेत्र उन्होंने किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और समसामयिकों में 'उग्र' तथा 'प्रेमचन्द' के लिए छोड़ दिया। बाद में उनहोंने इस क्षेत्र में भी 'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती' जैसी कृतियाँ दीं। कदाचित 'इरावती' के ढंग के ६–१० छोटे उपन्यास वह हिन्दी को देना चाहते थे, पर दे न सके। 'इरावती' भी अपूर्ण रही। फिर भी भारतेन्दु के बाद रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में उनकी विविधता, भावुकता और साहित्यिक दृष्टि का समुचित स्वरूप अन्य समसामयिकों की अपेक्षा 'प्रसाद' की रचनाओं में ही अधिक मिलता है।

रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु की प्रतिभा 'प्रसाद' में विकसित हुई तो उनका क्रियात्मक तेज, उनका साहित्यिक नेतृत्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ग्रहीत हुआ। रचनात्मक प्रतिभा द्विवेदी जी में विशेष नहीं थी, परन्तु उन्होंने 'सरस्वती' (१६०३-१८) के माध्यम से हिन्दी गद्य-पद्य को नई दिशा दी। पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली और ब्रज भाषा को लेकर भारतेन्दु के समय से ही एक विवाद चल रहा था। उन्होंने इस महत्वपूर्ण प्रश्न को सदा के लिए हल कर दिया। साथ ही उन की 'सरस्वती' खड़ी बोली के प्रारंभिक प्रयोगकर्ताओं के लिए सदैव खुली रही। इस क्षेत्र में कामता प्रसाद गुरु, रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम 'शंकर' शर्मा, सनातन शर्मा मलकानी, सत्यशरण रतूड़ी और मैथिलीशरण गुप्त 'प्रसाद' की अवतारणा से पहले ही प्रसिद्धि पा चुके थे। बंलगा के अतुकांत और मुक्त छंद की ओर भी हिन्दी वालों का ध्यान द्विवेदी जी ने ही आकर्शित किया थी। रवीन्द्र के गल्प, माइकेल मधुसूदन दत्त, हेमचन्द और नवीनचन्द सेन के प्रबंध-काव्य, हाली का 'मुसद्दस' रवि वर्मा के पौराणिक चित्र इत्यादी की ओर उन्होंने ही हिन्दी कवियों को आकर्शित किया। उनकी वृत्ति स्वच्छंदतावादी नहीं थी, फलतः रवींद्र ठाकुर की कविताएं उन्हें प्रभावित नहीं कर सकीं। बाद में जब 'प्रसाद', 'पंत', 'निराला' के प्रयोगों के द्वारा हिन्दी में स्वच्छंदतावादी (छायावाद) काव्य की नीव पड़ी, तो अपनी नैतिक और पौराणिक (क्लासिकल) वृत्ति के कारण उन्होंने उसका विरोध भी किया। यह प्रसिद्ध ही है

कि उन्होंने निराला की 'जुही की कली' कविता लौटा दी थी और इसी प्रकार 'प्रसाद' की एक रचना को लौटाते हुए उन्होंने उन्हें इतना चिढ़ा दिया था कि 'प्रसाद' ने जीवन भर सरस्वती में अपनी कोई रचना प्रकाशित नहीं कराई—यद्यपि उन दिनों 'सरस्वती' की अवहेलना बड़े ही साहस का कार्य था-और स्वतंत्र रूप से 'इंदु' का प्रकाशन आरंभ किया। 'इंदु' के संपादकीय लेखों से 'प्रसाद' के साहित्यिक आदर्शों का स्पष्ट पता लग जाता है। द्विवेदी जी के प्रति आदर रखते हुए भी वह काव्य और साहित्य के संबंध में उनकी मान्यताओं से समझौता नहीं करना चाहते थे—करते तो वह स्वयं उनकी प्रतिभा के लिए घातक होता और हिन्दी का एक प्रधान युगस्तंभ खो जाता।

'प्रसाद' के कर्तृत्व के समय (१६०६–३६) में भी काशी हिन्दी का बड़ा केन्द्र रहा है-प्रेमचन्द,दीन, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, 'उग्र', हरिऔध, उनके समकालीन रहे हैं। पारसी स्टेज पर उर्दू के प्रसिद्ध नाटकों के लेखक आगाहश्र भी काशी के ही थे और 'प्रसाद' के परिचितों में थे। इनमें रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास, और 'उग्र' उनके अन्तरंग थे, क्यों येही मित्र थे, इसकी व्याख्या करते हुए उग्र लिखते हैं—"मेरी राय में 'प्रसाद' गरीबों के नहीं, अमीरों के कवि थे, इबारत-पसन्द। कई पुश्त के सुखी विनोदशंकर के पास इबारत थी—असली। इधर प्रेमचन्द, दीन, इत्यादि के पास क्या धरा था—'दर नहीं दास्तां नहीं। विनोद के बाद या पहले उनके यह अन्तरन्ग जिगरी मित्र हैं। कलविन्द रायकृष्ण दास, जिनकी रईसी, इबारत, नजाकत हिन्दी में मशहूर हैं।" व्यास जी ने 'उग्र' के इस कथन से असहमति प्रगट की है, परन्तु 'प्रसाद' के साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनका साहित्य अभिजात्य की नींव पर खड़ा है। उसमें वैभव का चित्रण है, अतीत के सपने हैं, उन सपनों के छूटने का दुःख है और उस पीड़ा को ऐश्वर्य के रूप-रंगों और अभिजात्यपूर्ण प्रतीकों के द्वारा प्रगट किया गया है। इस तरह वह रवीन्द्रनाथ के निकट आते हैं। शरदचंद या प्रेमचन्द की जन-संवेदना और मध्यवर्गीय दृष्टि से वह बहुत दूर पड़ते हैं। जहाँ उन्होंने जन-जीवन का चित्रण उपस्थित किया है वहाँ भी वह दार्शनिक और कवि की भांति तटस्थ रहे हैं। उनका विद्रोह और उनका सुधारवाद भी अमीरी की एक भंगिमा है।

'प्रसाद' के इस बाहरी जीवन से उनका अन्तर्जीवन कहीं अधिक महत्वपूर्ण है किशोर जीवन के दुःखों ने उन्हें जीवन-मरण के रहस्योदघाटन की ओर उन्मुख किया और वह 'सुख:दुख' की व्याख्या को साहित्य का एक विषय बनाकर चले। भगवान बुद्ध के करुणा के संदेश ने उन्हें विशेषतया प्रभावित किया। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में निराशा की झलक इतनी स्पष्ट है कि उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। दुःखों, कष्टों की विवेचना करते हुए बौद्ध-दर्शन ही उन्हें सहारा देता जान

पड़ता है। बाद में वह गीता के निष्काम कर्म और शैवागमों केअद्वैतमूलक आनन्दवाद का भी दिग्दर्शन करा कर चले है। वास्तव में वह शैव-संस्कृति के वरेण्य प्रतीक थे। 'कामायनी' और 'इरावती' में हम उन्हें शैवागमों के आनन्दवाद को आधुनिक मनोविज्ञान की भूमि देते हुए दिखलाई पड़ते हैं। नाटकों में वह बुद्ध की करुणा के संदेश-वाहक जान पड़ते हैं। इस प्रकार उनके जीवन-दर्शन के दो महत्वपूर्ण अंग उनके साहित्य की भित्ति हैं। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से स्वयं अपने को ढूंढा है। 'आँसू' में जो व्यक्तित्व निराशा, पीड़ा और दुःख से टूट सा गया है, जिसका कहना है—

> **निर्मोह काल के पट काले, पट पर कुछ अस्फुट लेखा।**
> **सब लिखी पड़ी रह जाती, सुख-दुख मय जीवन लेखा॥**

वही 'कामायनी' के अन्तिम सर्गों में आनन्द का उपासक बन ज्ञान, भाव और कर्म के समुच्चय और जीवन की अखंड एकता में विश्वास करता हुआ कहता है—

> **समरस थे जड़ या चेतन,**
> **सुन्दर साकार बना था।**
> **चेतनता एक विलसती,**
> **आनन्द अखंड घना था॥**

यह व्यक्तित्व की कितनी बड़ी साधना है, कितनी बड़ी जीत है, साधारणतः समझ में नहीं आता और इसी से आलोचक 'प्रसाद' को पलायनवादी कह देते हैं। 'प्रसाद' का पलायनवाद और भाग्यवाद उनके व्यक्तित्व का प्रारम्भिक असंतुलित और विश्रंखलित अंग है जिसे बाद में एक अखंडित, अविभाजित कर्मप्रधान समरसतामूलक आनन्दवाद की परिणिति दी गई है। 'प्रसाद' के संपूर्ण साहित्य को उनके व्यक्तित्व के इसी संक्रमिक विकास की दृष्टि से देखना होगा।

इस अन्तर्जीवन का एक अंश वैभव और बिलास के सपने भी देखता है। फलतः 'प्रसाद' के साहित्य में बहुत कुछ अवचेतन से उमड़ती हुई स्वर्णिम स्मृतियाँ उद्भासित हैं। 'आँसू' में वह स्वयं आश्चर्यचकित होकर पूछते हैं—

> **मानस-सागर के तट पर,**
> **क्यों लोल लहर की घातें।**
> **कलकल ध्वनि से कहती हैं,**
> **कुछ विस्मृत बीती बातें॥**

यही अवचेतन-भाव अतीतगामी बन जाने पर 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' और 'इरावती, की सृष्टि करता है। अपने युग की राष्ट्रीय भावना का प्रतिबिम्ब भी इन रचनाओं में है, परन्तु अतीत की स्वर्णिम चित्रपटी प्रसाद'

के उस सपने को ही उभारती है जो उन्होंने जीवन के आरम्भ में अपने चारों ओर देखा था—और कल्पित किया था। यही प्रवृत्ति उनकी रचनाओं को स्वच्छन्दवादिता प्रदान करती है। सुदूर अतीत के प्रति अनुरंजना, रहस्यमूलक चिंतन और नाटकीय ऐतिहासिक कर्तृत्व इसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृति के अंग है।

'प्रसाद' के स्वयं अपने अनुभव, उनके प्रेम-प्रसंग, उनके हास-परिहास और उनके क्रान्तिकारी विचार भी उनकी रचनाओं के विशिष्ठ अंग हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताओं और छाया' की कहानियों में प्रेमी की निष्ठुरता और उत्सर्ग के भी चित्र हैं—यही चित्र इतिहास की पृष्ठ-भूमि पाकर और भी मनोरंजक बन जाते हैं। 'दिन रात' में विनोदशंकर व्यास ने उनके कुछ प्रेम-प्रसंगो का मार्मिक वर्णन किया है। एक में श्यामा नाम की एक कथकिन का उल्लेख है जो प्रसाद' जी के यहाँ रजदन्ती नाम की विख्यात जौन्हारिन के साथ आती थी—श्यामा दुबली पतली संवलिया रंग की थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें थीं और लंबा कद था। 'प्रसाद' बड़े हंसमुख और दिल्लगी पसंद थे—मजाक में ही यह संबंध बढ़ता गया। भगवती नाम की दूसरी वेश्या तो उनपर इतनी रीझ उठी थी कि एक दिन दस पंद्रह हजार के आभूषण लेकर उपस्थित हो गई। वह अब बाजार में बैठना नहीं चाहती थी। चाहती थी 'प्रसाद' कुछ व्यवस्था कर दें, परंतु 'प्रसाद' किसी स्थायी झंझट में नहीं फँसना चाहते थे। नारियल-बाजार की दुकान के सामने वाली किशोरीबाई भी उनपर आसक्त थी परंतु उससे हँसी-दिल्लगी कर लेने पर भी 'प्रसाद' उससे विरक्त रहे। काशी की प्रसिद्ध सिद्धेश्वरी बाई के संगीत का आनन्द 'प्रसाद'-मंडली ने कई बार लिया—जिस प्रकार से 'प्रसाद' के मित्रों ने उसका उल्लेख किया है उससे उनके निकटतम संबंध की ही सूचना मिलती है। इस राग-रंग में भी 'प्रसाद' बहुत कुछ चिन्तानिमग्न और विरक्त रहे। उनके मानस की अंतलस्पर्शी गहराई हमें इन प्रेम-प्रसंगों या चुहलों में नहीं मिलती। इनसे 'प्रसाद' लांछित नहीं हैं—कलाकार के अन्तः स्रोत में, उसकी भावुकता के प्रवाह में, न जाने क्या-क्या बह कर एकरूप हो जाता है—इसीसे उसका अन्यतम व्यक्तित्व उसकी रचनाएँ उभरती हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इस भावुक, अतिजीवी, चिंता-गंभीर व्यक्ति ने घर और दुकान के बीच, काशी के प्रसिद्ध घाटों बाजारों, विश्वनाथ के मन्दिर और गली कूचों से इतनी सामग्री इकट्ठी की कि वह उसके कथा-साहित्य और नाटकों का व्यापार-वैभव बन गई।

'प्रसाद' की साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चिंता उनके 'काव्य और कला' शीर्षक निबंधों में प्रस्फुटित हुई है और उनके ऐतिहासिक ज्ञान के लिए उनके नाटकों के वक्तव्य पठनीय हैं। इंद्र नाम से वह एक पौराणिक नाटक लिखना चाहते थे—इस नाटक के संबंध में उनका आधार हमें उनके उस लेख में मिलता है जो

द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ में प्रकाशित हुआ था। 'कामायनी' में उन्होंने वेदों ब्राह्मण-ग्रंथों और पुराणों की कथावस्तु और तथ्य को कुछ इस तरह समेट लिया है कि हम चकित रह जाते हैं। राखाल दास बनर्जी के ऐतिहासिक उपन्यासों शेक्सपीअर और डी० एल० राय के नाटकों और उर्दू एवं संस्कृत कवियों की लाक्षणिक अभिव्यजना से भी वह सूक्ष्म रूप से परिचित हैं। रवि बाबू के संपूर्ण साहित्य का उनका अध्ययन विस्तृत जान पड़ता है। कदाचित् गीतांजलि के अंगरेजी संस्करण से प्रभावित होकर उन्होंने गद्य-गीत भी लिखे थे। बाद में इन्हें उन्होंने कहानियों और उपन्यासों में गूंथ कर कानन-कुसुम' के पद्यों का निर्माण किया। रवीन्द्र की कहानियों की भावुकता, काव्यात्मक वातावरण, उनकी साहित्य व्यंग-कला उन्होंने अपनी कहानियों में अपनाई है और चित्रण की जो सूक्ष्मता और विशदता हमें 'तितली' में मिलती है वह रवि बाबू के उपन्यासों को छोड़कर और कहीं नहीं मिलती। फिर भी सब कुछ 'प्रसाद' के अपने व्यक्तित्व और उनकी अपनी साहित्य-साधना में तपकर उनमें इतना एकरूप हो गया है कि उन्हें पढ़ते हुए हमें रवीन्द्र की कोई विशिष्ट रचना याद नहीं आती— सब पर प्रसादत्व की अमिट छाप है। रवीन्द्रनाथ का साहित्य अप्रतिम है। न आकार में, न प्रकार में, न सामर्थ में—इस युग के किसी एक भारतीय साहित्यिक का साहित्य उनके समकक्ष नहीं रखा जा सकता। उनमें एक साथ कालिदास, विद्यापति, कबीर, शैली, विक्टर ह्यूगो, तालसताय, और मोपासां एकाकार हो गये जान पड़ते हैं। अपने ६५ वर्षों के साहित्यिक जीवन में रवीन्द्र कई जीवन जिये। वह प्राचीनों में प्राचीन और पूर्ण आधुनिक है। नवनवोन्मेषिनी काव्य-प्रतिभा और प्रयोगशीला तथा बौद्धिकता का अद्भुत सामंजस्य उनकी रचनाओं में हैं। 'प्रसाद' क्या हिंदी के सब आधुनिक कलाकार भी मिलकर उन तक नहीं पहुंचते, परन्तु यदि किसी एक कलाकार को हम हिंदी वाले उनके समकक्ष रख सकते हैं तो वह 'प्रसाद' ही हैं। दोनों का अभिजात्य, सांस्कृतिक निष्ठा, कला-भंगिमा, भाषा-सौष्ठव और बौद्धिक एश्वर्य समान धरातल पर चलता है। ४६-४७ वर्ष की कच्ची आयु में ही 'प्रसाद' बीच में से उठ गये। इसे हिंदी का दुर्भाग्य ही कहेंगे।

संक्षेप में, यह 'प्रसाद' के जीवन और व्यक्तित्व की सामान्य रूप-रेखा है। काव्य-क्षेत्र में उनके एक ओर मैथिलीशरण 'गुप्त' और भारतेन्दु हैं और दूसरी ओर 'पंत' 'निराला' और महादेवी हैं। कहानी और उपन्यास के क्षेत्रों में साहित्य-कला का आरम्भ इन्हीं से होता है। १९११ में 'ग्राम' शीर्षक उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई। उससे पहले हिंदी में अनूदित कहानियों के अतिरिक्त और क्या था? उपन्यास के क्षेत्र में वह बाद में आये। परन्तु दोनो क्षेत्रों में प्रेमचंद के समकक्ष, परन्तु उनसे भिन्न कथा-कला की प्रतिष्ठा उन्होंने की। आज भी इन दोनों क्षेत्रों में ये दोनों पर-

स्पर पूरक जान पड़ते हैं। 'कंकाल' (१०२८) के प्रकाशन के बाद से प्रेमचंद ने उनकी वस्तुवादी प्रतिभा का स्वागत किया था। इतिहास के गड़े मुर्दे उखेड़ने की कला से भिन्न एक नई कला के दर्शन उन्हें उसमें हुए थे। 'तितली' से भी वह आश्वस्त हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों आदर्शवादी कलाकार थे। वस्तुवादी (यथार्थवादी) न 'प्रसाद' थे, न प्रेमचंद--परन्तु 'प्रसाद' में अभिजात्य, साहित्य-कला और पांडित्य की झलक थी और प्रेमचंद जन-जीवन और आत्मानुभूति के बल पर बढ़े थे। नाटक के क्षेत्र में वह अप्रतिभ रहे। भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में 'प्रसाद' का ही नाम लिया जाता है। उनके जीवन-काल में 'इबसन' और 'शा' के वस्तुवादी कला के आधार पर नये नाटक हिंदी में आने लगे थे परन्तु 'प्रसाद' का उनसे विरोध था। वह कालिदास शेक्सपीयर की परम्परा के नाटककार थे। ऐतिहासिक नाटकों की उनकी कला उनकी अपनी चीज थी। उसमें उनकी राष्ट्रीयता कवि-प्रतिभा, नाटकीय परिस्थितियों की अवतारणा की शक्ति, संवाद-कला और चरित्रांकन-कौशल की परिपूर्ण अन्तर्योजना है। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें हमें पूर्वीय आदर्शवादी, काव्यात्मक नाटकीय कला और पश्चिमी रोमांटिक ऐतिहासिक नाटकीय कला का पूर्ण वैभव मिल जाता है। ये नाटक अपनी श्रेणी की विशिष्ट वस्तु हैं। गद्य-शैलीकार के रूप में भी 'प्रसाद' कम महत्वपूर्ण नहीं। भारतेन्दु के बाद गद्य का इतना व्यापक और भाव प्रधान प्रयोग कदाचित् अन्य किसी लेखक में हमें नहीं मिलेगा। इस गद्य-शैली का अभिजात्य देखते ही बन पड़ता है। साहित्य-चिंतन के रूप में भी उन्होंने हमें बहुत कुछ दिया। और उसमें हमें काव्य और कला को परखने की नई दृष्टि भी मिल जाती है। इस क्षेत्र में वह इकेले अवश्य नहीं हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनकी स्थापनाएँ नवीद और क्रांतिकारी हैं। पश्चिमी आलोचकों और साहित्यिकों की मान्यताओं को उन्होंने आँख मूँदकर स्वीकार नहीं कर लिया है।

'प्रसाद' के व्यक्तिगत जीवन और चरित्र पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। अभी उनके पत्र अप्रकाशित हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य का क्रम-विकास भी अभी हम अच्छी तरह उपस्थित नहीं कर सके हैं। उनके मनस्तत्व और उनके साहित्य के आधार-स्रोतों को अभी हमें गंभीर अध्ययन और अन्वेषण का विषय बनाना है। फिर भी यह निश्चित है कि बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के साहित्य में उनका बड़ा ऊँचा स्थान है—उन जैसी चतुर्मुखी प्रतिभा वाला व्यक्ति तो कदाचित् कोई नहीं है। कविता के क्षेत्र में वह एक नई धारा के प्रवर्तक हैं। साहित्यिक गीतों के जन्मदाता हैं। कहानी-कला का आरम्भ उन्हीं में होता है और रोमांटिक–प्रतीकात्मक–ऐतिहासिक कहानी के क्षेत्र में वह प्रेमचंद को भी पीछे छोड़ जाते हैं।

# प्रसाद की विचारधारा

साहित्य मनुष्य के आंतरिक जीवन और उसकी विचारधार का क्षण-क्षण का आलेखन है। वह संपूर्ण मनुष्य की कृति है, खंड मनुष्य की नहीं। अतः साहित्यकार की रचना की पृष्ठि-भूमि से पूर्णतयः परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी विचारधारा की अनेकानेक तरंग-भंगिमाओं से भली भांति परिचित हों, उसके भाव-जगत् की तरंगों के साथ, उसके विचारों के आलोड़न-विलोड़न और घात-प्रतिघात से परिचित हो। 'प्रसाद' जागरूक कलाविद थे। साहित्य उनके लिए आमोद-प्रमोद और विलास की वस्तु नहीं था ; वह अवकाश के क्षणों का उपयोग-मात्र न होकर उनके व्यक्तित्व की जीवन-व्यापी साधना था। इसी लिए वह उनके बौद्धिक जीवन से पूर्ण रूप से संयुक्त है।

इस अध्याय में हम 'प्रसाद' की सामाजिक तथा सांस्कृतिक विचारधारा पर दृष्टिपात करेंगे। कर्म, दर्शन, राजनीति, मानव। इतिहास, समसामयिक जीवन और मानव के कुछ मौलिक प्रश्नों के संबंध में कवि ने क्या सोचा था, जो सोचा था वह किस रूप में उसका अपना बन सका, यही हमारा विषय रहेगा। उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को हम अगले अध्ययन में लेंगे।

'प्रसाद' के साहित्य में, मुख्यतः उनके काव्य में, जीवन-दर्शन के रूप में एक निश्चित चिन्ता मिलती है। यह जीवन-दर्शन अपनी व्यपकता में धर्म, दर्शन और आधुनिक जीवन को समेट लेता है और कुछ मौलिक और कुछ सामयिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित करता है। 'प्रसाद' के समाधान से चाहे हमें मतभेद हो, परन्तु इन मौलिक प्रश्नों के महत्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। आदिम प्रज्ञा के प्रादुर्भाव से ही मनुष्य इन प्रश्नों को उठाता रहा है। परन्तु इन चिरंतन प्रश्नों के

साथ अपने युग के कुछ प्रश्नों का समाधान भी हमें 'प्रसाद' में मिलता है। उन पर भी हमें वैयक्तिक विचार करना होगा। चिरंतन प्रश्न 'प्रसाद' के जीवन के कटु अनुभवों से प्रसूत हैं और समसामयिक वार्ता ब्रह्म-जगत के द्वन्द और असंतुलन एवं पश्चिमी-पूर्वी संस्कृति के संघात के रूप में उपस्थित होते हैं। काव्य के अतिरिक्त 'प्रसाद' के नाटक और 'इरावती' उपन्यास भी ऐसी सामग्री प्रस्तुत करते हैं जो उनकी जीवन संबन्धी चिन्ता से संबद्ध है।

१७-१८ वर्ष की आयु में जब 'प्रसाद' ने अपनी लेखनी उठाई, वह दुःख, प्रताड़ना, मृत्यु और कालचक्र के परिवर्तन से पूर्ण रूप से परिचित हो गये थे। एक बड़े और अपरिचित व्यवसाय का भार उनपर आ पड़ा था। घर में भी विश्रृंखलता का राज्य था। माता पिता और ज्येष्ठ माता की मृत्यु की विभीषिका उनके नेत्रों के सामने नाच रही थी। फलतः उनकी किशोर बुद्धि में जीवन-मरण और सुख-दुःख संबंधी जिज्ञासा उठ चुकी थी और उन्होंने अपने ढंग पर इन प्रश्नों का समाधान भी कर लिया था। कठोर परिस्थितियाँ मनुष्य को तोड़ देती हैं और वह भाग्यवादी बन जाता है। 'प्रसाद' के संबंध में भी यही हुआ। १९३० तक की उनकी सभी रचनाओं में हमें भाग्यवाद के प्रति उनकी गहरी आस्था मिलती है। बाद में वह परिस्थितियों से ऊपर उठकर अद्वैतमूलक आनन्दवाद और कर्मण्यता के उपासक बन जाते हैं। एक तरह से यह परिवर्तन स्वयं उनके भीतर के सामंजस्य और समरस्य की प्राप्ति का सूचक है। उनकी आरंभिक रचनाएँ भाग्यवाद से प्रभावित हैं। 'जनमेजय' में 'अखंडनीय कर्मलिपि' की दुहाई दी जाती है और व्यास 'नियति, केवल नियति' कहकर मनुष्य के क्षुद्र प्रयत्नों की असारता प्रगट करते हैं। 'चन्द्रगुप्त' का शकटार नियति को सम्राटों से भी प्रबल बतलाता है। स्वयं चन्द्रगुप्त जैसा कर्मठ योद्धा भाग्यवाद में विश्वास करता है। वह कहता है—'विधाता की स्याही की एक बूंद गिरकर भाग्यलिपि पर कलिमा चढ़ा देती है।' इसे ही काव्यत्मक शब्दों में 'स्कंदगुप्त' के मुँह से सुन लीजिये— 'लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जलबिंदु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला। मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है जैसे अग्नि-रेखाओं से कृष्ण-मेघ में बिजली की वर्ण-माला—एक क्षण में प्रज्ज्वलित दूसरे क्षण में विलीन होने वाली। भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है।' 'आजातशत्रु' का बिंबसार तो अपने भाग्यवादी दर्शन के कारण ही अपने महत्व को कुंठित कर लेता है। उसके आत्मकथन नियतिवाद की सुन्दर व्याख्या है। 'आह ! जीवन की क्षणभंगुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल

अक्षरों में लिखे अदृष्ट के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है और जीवन के संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक प्रकांड तांडव करता है। फिर भी प्रवृत्ति उसे अंधकार की गुफा में लेजाकर उसका शांतिमय रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है। किंतु वह कब मानता है ? मनुष्य व्यर्थ महत्व की आशंका में मरता है; अपनी नीची, किंतु सुदृढ़ परिस्थिति से उसे संतोप नहीं होता; नीचे से ऊँचे चढ़ना ही चाहता है, चाहे फिर गिरे भी तो क्या ?' इस भाग्यवाद के कारण मनुष्य एकदम अशक्त है। उससे किसी भी दृढ़ता की आशा व्यर्थ है। बिंबसार कहता है—'भगवान् असंख्य ठोकरें खाकर लुढ़कते लुए जड़ ग्रहपिंडों से भी इस चैतन्य मानव की बुरी गति है। धक्के खाकर भी वह निर्लज्ज सभा से नहीं निकलना चाहता। कैसी विचित्रता है ?'

परन्तु अदृश्य पर विश्वास रख कर क्या मनुष्य एकदम निश्चेष्ट हो जाय ? 'प्रसाद' नियतिवादी होते हुए भी अकर्मण्यता और निश्चेष्टा का उपदेश नहीं देते। जीवक के शब्दों में वह कहते हैं—'अदृष्ट तो मेरा सहारा है। नियति की डोरी पकड़कर मैं निर्भय कर्म-कूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर भी क्यों बनूँ—मर्म से क्यों विरक्त रहूँ ?' वस्तुत: नियतिवाद एक विचारधारा है। उससे कर्म-अकर्म का कोई संबंध नहीं है। मनुष्य कुछ नहीं करता, प्रकृति कराती है। गुण गुणों को बर्तते हैं। यह विचारधारा कोई आज की नहीं, बहुत प्राचीन है। इस विचारधारा की अनेक प्रतिक्रियाएँ संभव हैं। बिंबसार एक प्रतिक्रिया है, जीवन का सिद्धांत एक दूसरी प्रकार की प्रतिक्रिया को उपस्थित करता है। जो मनुष्य नियति को प्रधान मानकर अस्त्र डाल दे और पराजय तथा तज्जन्य अवसाद को स्वीकार करले या नियतिवाद में मानव-जीवन के लिए अथक कर्मवाद का पाठ पढ़े। जो होता है वह तो निश्चित ही है, वह तो होगा ही, फिर मनुष्य क्यों अकर्मण्य बना बैठा रहे। हार-जीत उसके हाथ में नहीं है, परन्तु बाज़ी तो वह पूरी जागरूकता के साथ खेल सकता है। इसीलिए व्यास जनमेजन को उपदेश देते हैं—'जो हो रहा है, उसे होने दो। अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करनें का उद्योग करो—मन को शांत रखो।'

'प्रसाद' नियति को अन्धी बतलाते है। व्यास के शब्दों में 'दंभ और अहंकार से पूर्ण मनुष्य अदृष्ट शक्ति के क्रीड़ा-कन्दुक हैं। अन्ध नियति कर्तृत्व-मद से मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कर्म कराती है और ऐसी ही क्रांति के समय विराट् का वर्गीकरण होता हैं। यह एकदेशीय विचार नहीं है। इसमें व्यक्तित्व की मर्यादा का ध्यान नहीं रहता, 'सर्वभूतहित' की कामना पर ही लक्ष्य रहता है।' इस प्रकार वह नियति उछृंखल नही है, 'सर्वभूतहित'—सबका कल्याण—यही

उसका लक्ष्य है तो वह नियति के थपेड़ों से दुःखी न हो। उत्थान और पतन, दुःख और सुख, हास और अश्रु प्रकृति की योजना के द्विविध रूप हैं और इन शब्दों के द्वारा ही विश्व-जीवन प्रकृतिशील रह पाता है। 'आंसू' की परिणति इसी सत्य को सम्मुख रखती है :

**फिर तम-प्रकाश झगड़े में,**
**नव ज्योति विजयिनी होती।**
**हँसता यह विश्व हमारा,**
**बरसाता मंजुल मोती।**

प्रारम्भिक रचनाओं में नियति की क्रूरता और भाग्य की अनस्थिरता की जो व्यंजना है, वह 'आंसू' तक पहुंचते-पहुँचते अपने भीतर ही अपना समाधान उपस्थित कर लेती है और इस प्रकार कवि के जीवन का एक अध्याय समाप्त हो जाता है और वह शक्ति और आनन्द के नये स्रोतों की ओर उन्मुख होता है। 'नियति-नटी का कौतुक नृत्य' उसके लिए दुःख की नहीं, समरस्य की वस्तु बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट है कि जीवन की असारता और मानव की असमर्थता तथा क्षुद्रता का संपूर्ण अंकन 'प्रसाद' के साहित्य में मिल जाता है। उनके लिए जीवन एक रहस्मय, उलझी हुई, कल्पनातीत वस्तुस्थिति है और मानव बहुधा उस से निराश हो जाता है। वायु की भटकी हुई तरंग की भाँति अपनी असहाय अवस्था की अनुभूति होने पर मनुष्य अपने को अपदार्थ समझने लगता है। 'प्रसाद' के अनेक पात्रों ने इस वस्तुस्थिति का अनुभव किया है। परंतु 'प्रसाद' यह भी मान लेते हैं कि नियति की सत्ता को सर्वोपरि मानकर भी मनुष्य चल सकता है। वह विश्व-मैत्री, सहवेदन और करुणा के भाव से ओतः प्रोत है। समझ ले कि 'भगवान् दुखियों से अत्यंत स्नेह करते हैं। दुःख भगवान् का मंगलमय उपहार हैं। दुःख की सहानुभूति हृदय को हृदय के समीप पहुँचाती है। मानवता का यही तो प्रधान उपकरण है।' इस प्रकार 'प्रसाद' बुद्ध के मैत्र और करुणा के उपदेश की ओर बढ़ते हैं और भगवान् बुद्ध उनके लिए एक महान् प्रतीक बन जाते हैं। 'राज्यश्री' में ही हमें पहली बार करुणा के इस संदेश का साक्षात्कार होता है और 'अजातशत्रु' में स्वयं गौतम के मुँह से इसकी दीक्षा की व्यवस्था की गई है। इस नाटक में गौतम और मल्लिका इत्यदि करुणा के प्रतीक बन कर ही उपस्थित होते हैं। शेक्सपियर ने 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' में पोर्शिया के मुँह से जिस प्रकार करुणा और क्षमा की अभ्यर्थना कराई है, उसी प्रकार 'प्रसाद' वासवी के मुख से नाटक के पहले अंक के प्रथम दृश्य में करुणा का गौरव-गान हमारे समक्ष रख देते हैं। उनके अनुसार प्रकृति और मनुष्य के सारे व्यापारों में एक सार्वभौम सहज सहानुभूति की भावना की परिव्याप्ति है। इसे ही मूल मानव-भाव या करुणा कहना होगा।

क्षणिकवाद और दु:खवाद 'प्रसाद' के इस करुणावाद की पृष्ठभूमि हैं। जो कुछ है, वह सब क्षणभंगुर है। एक भी क्षण के लिए नाश और मृत्यु का क्रम नहीं रुकता। जो कुछ भी दृश्यमान है वह नश्वर है, अतः परिणाम में दु:ख ही हाथ लगता है। जो क्षणिक सुखों को स्थायी मान लेते हैं वे बड़ी भूल करते हैं--जब इस जगत् में कहीं स्थायित्व है ही नहीं तो सुख ही किस प्रकार स्थायी होगा। गौतम कहते हैं:--

चंचल चंद्र, सूर्य है चंचल,
चपल सभी ग्रह-तारा हैं।
चंचल अनिल, अनल, जल-थल सब
चंचल जैसे पारा है।
जगत प्रकृति से अपने चंचल
मन की चंचल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चंचला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

मनुष्य यदि विश्व की इस क्षणभंगुरता से परिचित हो जायें या यदि वह इस भय को अपने हृदय में स्थान दे लें, तो उनके हृदय में सात्विक वैराग्य का जन्म स्वत: ही हो जाये और वह पर-दु:ख-कातरता से द्रवित हो लोक हित को अपने जीवन का महामन्त्र बना लें। अपने एक पात्र के मुँह से 'प्रसाद' कहलाते हैं--'यह तो मैं नहीं कहता कि इस पुतले को बनाकर दु:ख का संबल देकर विधाता ने क्यों अनन्त पथ का यात्री बनाया, पर इससे इतना भयभीत क्यों रहूँ ? उस करुणा-निधान की सहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दु:खों में भगवान् के समीप होता है।' इस प्रकार अन्त में तो भगवान् की करुणा ही मनुष्य का एकमात्र अवलम्बन है। परन्तु करुणा को एक व्यापक जीवन-दर्शन मानकर मनुष्य अपने जीवन को बहुत कुछ संतुलित और सुखी बना सकता है। इस प्रकार 'प्रसाद' करुणा को मानव-जीवन की एकमात्र इकाई बनाना चाहते हैं। वह उसे ही सृष्टि के विकास का मूलमंत्र समझते है। मूलगंधकुटी बिहार के समारोहोत्सव पर उन्होंने मंगलाचरण के रूप में जो छंद पढ़े थे वे करुणा की ही जयध्वनि थे। करुणा के नाते ही गौतम 'प्रसाद' को प्रिय थे। बचपन से तरुणाई तक दु:ख के निर्ममता के कठिन प्रहार जिसने सहे, उससे यही आशा की जा सकती है। 'अशोक की चिंता' में वह हिंसा और पीड़ा से जर्जर मानव के सम्मुख करुणा का सन्देश ही रखते हैं।

संस्सृति के विक्षत पग रे !
यह चलती है डगमग रे !
अनुलेप अदृश तू लग रे !

उसका लक्ष्य है तो वह नियति के थपेड़ों से दुःखी न हो। उत्थान और पतन, दुःख और सुख, हास और अश्रु प्रकृति की योजना के द्विविध रूप हैं और इन शब्दों के द्वारा ही विश्व-जीवन प्रकृतिशील रह पाता है। 'आंसू' की परिणति इसी सत्य को सम्मुख रखती है :

**फिर तम-प्रकाश झगड़े में,**
**नव ज्योति विजयिनी होती।**
**हँसता यह विश्व हमारा,**
**बरसाता मंजुल मोती।**

प्रारम्भिक रचनाओं में नियति की क्रूरता और भाग्य की अनास्थरतद की जो व्यंजना है, वह 'आंसू' तक पहुंचते-पहुँचते अपने भीतर ही अपना समाधान उपस्थित कर लेती है और इस प्रकार कवि के जीवन का एक अध्याय समाप्त हो जाता है और वह शक्ति और आनन्द के नये स्रोतों की ओर उन्मुख होता है। 'नियति-नटी का कौतुक नृत्य' उसके लिए दुःख की नहीं, समरस्य की वस्तु बन जाता है।

फिर भी यह स्पष्ट है कि जीवन की असारता और मानव की असमर्थता तथा क्षुद्रता का संपूर्ण अंकन 'प्रसाद' के साहित्य में मिल जाता है। उनके लिए जीवन एक रहस्मम, उलझी हुई, कल्पनातीत वस्तुस्थिति है और मानव बहुधा उस से निराश हो जाता है। वायु की भटकी हुई तरंग की भाँति अपनी असहाय अवस्था की अनुभूति होने पर मनुष्य अपने को अपदार्थ समझने लगता है। 'प्रसाद' के अनेक पात्रों ने इस वस्तुस्थिति का अनुभव किया है। परंतु 'प्रसाद' यह भी मान लेते है कि नियति की सत्ता को सर्वोपरि मानकर भी मनुष्य चल सकता है। वह विश्व-मैत्री, सहवेदन और करुणा के भाव से ओतः प्रोत है। समझ ले कि 'भगवान् दुखियों से अत्यंत स्नेह करते हैं। दुःख भगवान् का मंगलमय उपहार हैं। दुःख की सहानुभूति हृदय को हृदय के समीप पहुँचाती है। मानवता का यही तो प्रधान उपकरण है।' इस प्रकार 'प्रसाद' बुद्ध के मैत्र और करुणा के उपदेश की ओर बढ़ते हैं और भगवान् बुद्ध उनके लिए एक महान् प्रतीक बन जाते हैं। 'राज्यश्री' में ही हमें पहली बार करुणा के इस संदेश का साक्षात्कार होता है और 'अजातशत्रु' में स्वयं गौतम के मुँह से इसकी दीक्षा की व्यवस्था की गई है। इस नाटक में गौतम और मल्लिका इत्यदि करुणा के प्रतीक बन कर ही उपस्थित होते हैं। शेक्सपियर ने 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' में पोर्शिया के मुँह से जिस प्रकार करुणा और क्षमा की अभ्यर्थना कराई है, उसी प्रकार 'प्रसाद' वासवी के मुख से नाटक के पहले अंक के प्रथम दृश्य में करुणा का गौरव-गान हमारे समक्ष रख देते हैं। उनके अनुसार प्रकृति और मनुष्य के सारे व्यापारों में एक सार्वभौम सहज सहानुभूति की भावना की परिव्याप्ति है। इसे ही मूल मानव-भाव या करुणा कहना होगा।

क्षणिकवाद और दु:खवाद 'प्रसाद' के इस करुणावाद की पृष्ठभूमि हैं। जो कुछ है, वह सब क्षणभंगुर है। एक भी क्षण के लिए नाश और मृत्यु का क्रम नहीं रुकता। जो कुछ भी दृश्यमान है वह नश्वर है, अतः परिणाम में दुःख ही हाथ लगता है। जो क्षणिक सुखों को स्थायी मान लेते हैं वे बड़ी भूल करते हैं—जब इस जगत् में कहीं स्थायित्व है ही नहीं तो सुख ही किस प्रकार स्थायी होगा। गौतम कहते हैं:—

> **चंचल चंद्र, सूर्य है चंचल,**
> **चपल सभी ग्रह-तारा हैं।**
> **चंचल अनिल, अनल, जल-थल सब**
> **चंचल जैसे पारा है।**
> **जगत प्रकृति से अपने चंचल**
> **मन की चंचल लीला है।**
> **प्रतिक्षण प्रकृति चंचला जैसी**
> **यह परिवर्तनशीला है।**

यदि विश्व की इस क्षणभंगुरता से परिचित हो जायें या यदि वह इस भय को अपने हृदय मे स्थान दे लें, तो उनके हृदय में सात्विक वैराग्य का जन्म स्वत: ही हो जाये और वह पर-दुःख-कातरता से द्रवित हो लोक-हित को अपने जीवन का महामन्त्र बना लें। अपने एक पात्र के मुँह से 'प्रसाद' कहलाते है—'यह तो मैं नहीं कहता कि इस पुतले को बनाकर दुःख का संबल देकर विधाता ने क्यों अनन्त पथ का यात्री बनाया, पर इससे इतना भयभीत क्यों रहूँ? उस करुणा-निधान की सहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दुःखों में भगवान् के समीप होता है।' इस प्रकार अन्त में तो भगवान् की करुणा ही मनुष्य का एकमात्र अवलम्बन है। परन्तु करुणा को एक व्यापक जीवन-दर्शन मानकर मनुष्य अपने जीवन को बहुत कुछ संतुलित और सुखी बना सकता है। इस प्रकार 'प्रसाद' करुणा को मानव-जीवन की एकमात्र इकाई बनाना चाहते हैं। वह उसे ही सृष्टि के विकास का मूलमंत्र समझते है। मूलगंधकुटी बिहार के समारोहोत्सव पर उन्होंने मंगलाचरण के रूप में जो छंद पढ़े थे वे करुणा की ही जयध्वनि थे। करुणा के नाते ही गौतम 'प्रसाद' को प्रिय थे। बचपन से तरुणाई तक दुःख के निर्ममता के कठिन प्रहार जिसने सहे, उससे यही आशा की जा सकती है। 'अशोक की चिंता' में वह हिंसा और पीड़ा से जर्जर मानव के सम्मुख करुणा का सन्देश ही रखते हैं।

> **संसृति के विक्षत पग रे!**
> **यह चलती है डगमग रे!**
> **अनुलेप अदृश तू लग रे!**

मृदु दल बिखेर इस मग रे !
कर चुके मधुप मधुपान भंग ।
भुनती बसुधा, तपते मग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति मग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग !

परन्तु 'प्रसाद' के जीवन-दर्शन का अन्तिम रूप 'आनन्दवाद' है। 'कामायनी' और 'इरावती'-जैसी कुछ कहानियों में 'प्रसाद' ने इसी आनन्दवाद को विकसित एवं पुष्ट किया है। उनका कहना है कि उपनिषदों और बुद्ध से पूर्व यही आनन्दवाद आर्यो का मूल जीवन-दर्शन था और यही आर्य-संस्कृति का मूलाधार था। उत्तर 'प्रसाद' अहिंसा, अनात्म और अनित्यता की भावना को आर्यो के आनन्दवाद का विरोधी मानते हैं और उन्हें जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण के विकास के लिए हानिकारक समझते हैं। इसीलिए इरावती' में आनन्द का प्रचारक ब्रह्मचारी कहता है—'सर्व-साधारण आर्यो में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी। 'इरावती' में 'प्रसाद' स्पष्ट रूप से बौद्ध-दर्शन के 'सर्वक्षणिकम्' सिद्धान्त और उसके अनात्मवाद के विरोधी हैं। 'कामायनी' में वह आत्मवाद का ही शंखनाद करते हैं। अपने इस पर-दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्व दृष्टिकोण से जोड़ने का भी प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन ही गौतम का उद्देश्य था। उनका अनात्मवाद उपनिषदों के 'नेति-नेति' की ही प्रतिध्वनि है। गौतम का करुणावाद इस आत्मवाद का ही एक महत्वपूर्ण चरण है। अपने कुछ निबंधों में उन्होंने आत्मवाद और आनन्दवाद के ऐतिसाहिक विकास की रूपरेखा भी उपस्थित की है और कदाचित् 'इन्द्र' नाम के अपने नाटक में वह इस विषय को कला का रूप देना चाहते थे। उनके व्यक्तित्व के माध्यम से करुणावाद और आनन्दवाद के दो विरोधी तत्व एक बनने जा रहे थे।

इस आनन्दवाद का दार्शनिक आधार शैवाद्वैत है। 'कामायनी' में शिव-शक्ति के रूपक का सहारा लेकर 'प्रसाद' ने अद्वैतवाद को बड़ी विशदता से अभिव्यंजित किया है। श्रद्धा और मनु कैलाश पर तप कर रहे हैं। उन्होंने तप और श्रद्धा के बल पर जीवन के सत्य की उपलब्धि कर ली है। मनु इड़ा को कैलाश की ओर इंगित करके कहते हैं—

यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया ।
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ।

'प्रसाद' इस जीवन को एक महान् चेतन-सागर समझते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करती है उसी प्रकार मानव के भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व हैं। नक्षत्र और बुदबुद के रूपकों से उन्होंने इस अभेदत्व को स्पष्ट किया है। जीवन की अखंडता, अविच्छिन्नता और समरसता ही उनके महाकाव्य के अन्तिम सर्गों का विषय है। यह अद्वैत वेदांत का विशुद्ध काव्यात्मक रूप है। अद्वैतवादी के लिए अभेदत्व, अखंड, आनन्द और विशुद्ध रसमयता के सिवाय इस सृष्टि में और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार उत्तर 'प्रसाद' का दृष्टिकोण विशुद्ध अद्वैतवादी दृष्टिकोण बन जाता है। वह एक मात्र परमात्मतत्व या शिवतत्व की अवस्थिति ही मानते हैं। अद्वैत की ऊँची स्थिति पर पहुंच कर केवल एक चिरन्तन चेतन-तत्त्व को छोड़कर और कुछ नहीं रह जाता। अद्वैतवादी के लिए यह सुख-दुःख पूर्ण विश्व उस चेतन पुरुष का शरीर है।

अपने दुख-सुख से पुलकित
वह मूर्त्त विश्व सचराचर,
चित का विराट वपु मंगल
वह सत्य सतत चिर सुन्दर।

'कामायनी' के अन्त में उन्होंने इस अद्वैतवादी भाव को जन-सेवा की भित्ति बनाया है, क्योंकि :

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है;
अपना ही अणु-अणु कण-कण,
द्वयता ही तो विस्मृति है।

यह अद्वैतभावांकित जन-सेवा का आनन्द-मार्ग 'प्रसाद' की हिन्दी को सबसे बड़ी देन है। इसमें उपनिषदों के अद्वैत, शैवागमों के आनन्दवाद और आधुनिक युग के कर्मवाद (जन-सेवा) का पूर्ण समन्वय हो जाता है। 'कामायनी' में इस चेष्टा की तर्क-वितर्क और दार्शनिक रेखाओं से पुष्टि मिलती है। शिव-तांडव उनके इस दार्शनिक दृष्टिकोण का महान् प्रतीक बनकर हमारे सामने आता है। कदाचित इसी दृष्टिकोण के कारण आचार्य नंददुलारे बाजपेयी ने उन्हें 'आधुनिक शैव' कहा है।

मृदु दल बिखेर इस मग रे !
कर चुके मधुप मधुपान भंग।
भुनती वसुधा, तपते मग,
दुखिया है सारा अग-जग,
कंटक मिलते हैं प्रति मग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग !

परन्तु 'प्रसाद के जीवन-दर्शन का अन्तिम रूप 'आनन्दवाद' है। 'कामायनी' और 'इरावती'-जैसी कुछ कहानियों में 'प्रसाद' ने इसी आनन्दवाद को विकसित एवं पुष्ट किया है। उनका कहना है कि उपनिषदों और बुद्ध से पूर्व यही आनन्दवाद आर्यों का मूल जीवन-दर्शन था और यही आर्य-संस्कृति का मूलाधार था। उत्तर 'प्रसाद' अहिंसा, अनात्म और अनित्यता की भावना को आर्यों के आनन्दवाद का विरोधी मानते हैं और उन्हें जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण के विकास के लिए हानिकारक समझते हैं। इसीलिए इरावती' में आनन्द का प्रचारक ब्रह्मचारी कहता है—'सर्व-साधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी। 'इरावती' में 'प्रसाद' स्पष्ट रूप से बौद्ध-दर्शन के 'सर्वक्षणिकम्' सिद्धान्त और उसके अनात्मवाद के विरोधी हैं। 'कामायनी' में वह आत्मवाद का ही शंखनाद करते हैं। अपने इस पर-दृष्टिकोण को उन्होंने पूर्व दृष्टिकोण से जोड़ने का भी प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन ही गौतम का उद्देश्य था। उनका अनात्मवाद उपनिषदों के 'नेति-नेति' की ही प्रतिध्वनि है। गौतम का करुणावाद इस आत्मवाद का ही एक महत्वपूर्ण चरण है। अपने कुछ निबंधों में उन्होंने आत्मवाद और आनन्दवाद के ऐतिसाहिक विकास की रूपरेखा भी उपस्थित की है और कदाचित् 'इन्द्र' नाम के अपने नाटक में वह इस विषय को कला का रूप देना चाहते थे। उनके व्यक्तित्व के माध्यम से करुणावाद और आनन्दवाद के दो विरोधी तत्व एक बनने जा रहे थे।

इस आनन्दवाद का दार्शनिक आधार शैवाद्वैत है। 'कामायनी' में शिव-शक्ति के रूपक का सहारा लेकर 'प्रसाद' ने अद्वैतवाद को बड़ी विशदता से अभिव्यंजित किया है। श्रद्धा और मनु कैलाश पर तप कर रहे हैं। उन्होंने तप और श्रद्धा के बल पर जीवन के सत्य की उपलब्धि कर ली है। मनु इड़ा को कैलाश की ओर इंगित करके कहते हैं—

यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया ।
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ।

'प्रसाद' इस जीवन को एक महान् चेतन-सागर समझते हैं। जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करती है उसी प्रकार मानव के भी भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व हैं। नक्षत्र और बुदबुद के रूपकों से उन्होने इस अभेदत्व को स्पष्ट किया है। जीवन की अखंडता, अविच्छिन्नता और समरसता ही उनके महाकाव्य के अन्तिम सर्गों का विषय है। यह अद्वैत वेदांत का विशुद्ध काव्यात्मक रूप है। अद्वैतवादी के लिए अभेदत्व, अखंड, आनन्द और विशुद्ध रसमयता के सिवाय इस सृष्टि में और कुछ है ही नहीं। इस प्रकार उत्तर 'प्रसाद' का दृष्टिकोण विशुद्ध अद्वैतवादी दृष्टिकोण बन जाता है। वह एक मात्र परमात्मतत्व या शिवतत्त्व की अवस्थिति ही मानते हैं। अद्वैत की ऊँची स्थिति पर पहुंच कर केवल एक चिरन्तन चेतन-तत्त्व को छोड़कर और कुछ नहीं रह जाता। अद्वैतवादी के लिए यह सुख-दुःख पूर्ण विश्व उस चेतन पुरुष का शरीर है।

अपने दुख-सुख से पुलकित
वह मूर्त्त विश्व सचराचर,
चित का विराट वपु मंगल
वह सत्य सतत चिर सुन्दर।

'कामायनी' के अन्त में उन्होंने इस अद्वैतवादी भाव को जन-सेवा की भित्ति बनाया है, क्योंकि :

सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संस्सृति है;
अपना ही अणु-अणु कण-कण,
द्वयता ही तो विस्मृति है।

यह अद्वैतभावांकित जन-सेवा का आनन्द-मार्ग 'प्रसाद' की हिन्दी को सबसे बड़ी देन है। इसमें उपनिषदों के अद्वैत, शैवागमों के आनन्दवाद और आधुनिक युग के कर्मवाद (जन-सेवा) का पूर्ण समन्वय हो जाता है। 'कामायनी' में इस चेष्टा की तर्क-वितर्क और दार्शनिक रेखाओं से पुष्टि मिलती है। शिव-तांडव उनके इस दार्शनिक दृष्टिकोण का महान् प्रतीक बनकर हमारे सामने आता है। कदाचित इसी ष्टिकोण के कारण आचार्य नंददुलारे बाजपेयी ने उन्हें 'आधुनिक शैव' कहा है।

'एक घूँट' नाम की एक छोटी-सी परवर्ती रचना में 'प्रसाद' ने इस आनन्द-वाद का व्यवहारिक रूप भी उपस्थित किया है। जिस आनन्द को 'प्रसाद' ने मानव-जीवन के अन्यतम तथ्य के रूप में उपस्थित किया है वह अन्तरात्मा का प्रसन्न गंभीर उल्लास है। इस आनन्द का अन्तरंग सरलता है और बहिरंग सौन्दर्य। स्वास्थ्य-सरलता, सौंदर्य और प्रेम मानव-जीवन की सबसे बड़ी विभूतियाँ हैं। इन विभूतियों का एकत्र होना ही विश्व के लिए आनन्द के द्वार खुल जाना है। फलतः आनन्द की उपलब्धि के लिए इन विभूतियों का संग्रह आवश्यक हो जाता है। अपने छोटे-छोटे क्षेत्रों में अपने कर्तव्यों को निबाहते हुए, राग-द्वेष से अलग रहकर यदि हम प्रेम की मंदाकिनी प्रवाहित कर सकें, यदि इसमें से प्रत्येक किसी एक, दो या अधिक प्राणियों में विश्वास और मधुरता का निर्भर खोल सकें, तो फिर यह जीवन स्वर्ग हो जाय। 'एक घूँट' का गीत 'प्रसाद' के इस जीवन-दृष्टिकोण को बहुत सुन्दरता से स्पष्ट करता है। कवि गाता है :—

> **खोल तू अब भी आँखें खोल !**
> **जीवन-उदधि हिलोरें लेता, उठतीं लहरें लोल।**
> **छवि की किरणों से खिल जा तू,**
> ... ... ... ... ... ... ...
> **उस अनन्त-स्वर से मिल जा तू, वाणी में मधु घोल।**
> **जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न ! यह !**
> **भूल अरे अपने को, मत रह जकड़ा, बंधन खोल, !**
> **खोल तू अब भी आँखें खोल।**

इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ उत्सर्ग, प्रेम और विश्वासपूर्ण आत्मसमर्पण को कवि अपने आनन्दवाद के मूल में प्रतिष्ठित करता है।

व्यक्तिगत जीवन के सर्वोच्च आदर्श के रूप में जहाँ यह आनन्दवाद है, वहाँ सामूहिक जीवन के लिए 'प्रसाद' ज्ञान और कर्म का समुच्चय चाहते हैं। इनके एकांगी विकास ने संसार में असंतुलन फैला दिया है और मानव-संस्कृति के लिए एक बहुत बड़ा संकट उत्पन्न कर दिया है। 'इडा' अर्थात् बुद्धि का आत्यंतिक प्रसार ही आज के मानव के दुःख का स्रोत है। आज का मनुष्य किसी भी बाहरी शक्ति के प्रति नतमस्तक होना नहीं चाहता। 'इडा' मनु को ललकारती है—

> **हाँ, तुम ही हो अपने सहाय !**
> **जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय,**
> **जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय।**
> **यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यमयी शोधक-विहीन,**

तू उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढ़े चलो अपनी क्षमता।
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता।
तुम जड़ता को चेतन्य करो, विज्ञान सहज साधन उपाय।
यश अखिल लोक में रहे छाय।

परन्तु शीघ्र ही मनु को पता लग जाता है कि विज्ञान मानव-जीवन का अन्तिम सत्य नहीं है। वह उनकी सारी समस्याओं को हल नहीं करता। सारस्वत प्रदेश की विज्ञानमयी औद्योगिक बुद्धि-प्रधान सभ्यता की असफलता दिखला कर 'प्रसाद' ने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की अपूर्णता की ओर लक्ष्य किया है। 'रहस्य-सर्ग' में जीवन चिंतन का एक नया दृष्टिकोण लेकर 'प्रसाद' हमारे सामने उपस्थित होते है। अवसाद जन्य तप से प्रताड़ित मनु को श्रद्धा से त्रिदिक् विश्व और तीन आलोक बिन्दुओं का परिचय होता है। ये आलोक-बिन्दु इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं। ये क्रमशः भाव-जगत, ज्ञान-जगत और कर्म-जगत का प्रतिनिधित्व करते हैं। कवि यह बतलाना चाहता है कि केवल ज्ञान मनुष्य को जीवन के चरम सत्य तक नहीं लेजा सकता। यहाँ 'इडा' सर्ग की बुद्धिवादिता का परिहार है। अन्त में कवि ज्ञान–भाव–धर्म समन्वित संतुलित जीवन को इष्ट बतलाता है। यही त्रिपुर है जो युग–युग से मानव को त्रस्त किये है :—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया दूर है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके,
यह बिडम्बना है जीवन की।

इन त्रिपुरों का नाश. स्वप्न और जागरण अथवा इच्छा, क्रिया और ज्ञान का लयमान होना ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस प्रकार कवि जीवन के एकांगी विकास को मानव के लिए दुःख-पूर्ण ठहराता है।

इस बहिजीवन और अंतर्जीवन में एक अनन्य तारतम्य भी है। ज्ञान, भाव तथा कर्म-समन्वित संतुलित जीवन मनुष्य के लिए संभावनाओं का एक नया लोक देता है। ज्ञान, भाव और धर्म के समन्वय से मानव के बहिर्विकास के मार्ग प्रशस्त हो जाते हैं। तदनन्तर वह अंतर्भूमि की ओर अपने चरण बढ़ाता है। अंत में एक नितांत अभिनव लोक से उनका परिचय होता है जब——

संगीत मनोहर उठता,
मुरली बजती जीवन की।

(आनंद)

इस प्रकार वहिर्जीवन का सामंजस्य अंतर्जीवन के सामंस्य और तज्जन्य आनन्दभाव की पृष्ठभूमि बन जाता है।

'प्रसाद' ने साँस्कृतिक और सामाजिक जीवन के संबन्ध में भी बहुत कुछ सोचा है। 'कामना' में ही उन्होंने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की देहलिप्सा और पणिक-वृत्ति की तीव्र आलोचना की है। इस विदेशी संपर्क ने पूर्व के देशों की संस्कृति का रस किस प्रकार चूस लिया है यह हम इस रूपकात्मक रचना से अच्छी प्रकार समझ जाते हैं। 'इडा' सर्ग में सारस्वत प्रदेश की भौतिकवादी संस्कृति की विफलता भी इसी एकांगी संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। परन्तु स्वयं हमारी पूर्वी संस्कृति में जो अनेक विरोधाभास बन गये हैं, जो दुर्लघ्य खाँइयाँ आ गई हैं, जो गत्यवरोध हैं उनकी ओर से 'प्रसाद' आँखें नहीं मींच सके हैं। उन्हें अतीतगामी और पलायनवादी नहीं कहा जा सकता, मौर्यों और गुप्तों के साँस्ककित और राजनैतिक उत्कर्ष को उन्होंने बड़े आकर्षक ढंग से चित्रित किया है। परन्तु अपने युग की समस्याओं को भी उन्होंने परखा है। 'कंकाल' और 'तितली' में उनकी यह परख स्पष्ट है। 'कंकाल' में जाति-वर्ण भेद पर कुठाराघात है, तो 'तितली' में धर्ममर्यादा अथवा आर्थिक उच्चता—निम्नता पर व्यंग है। 'कंकाल' में हिन्दू-समाज की सारी दुर्बलतायें उभारी गई हैं—सारा समाज ही कामना के अजस्र प्रवाह में बहता हुआ चित्रित किया गया है। सारे चित्र को देखते ही स्वतः मुँह से निकल पड़ता है—"कैसा भीषण जाल है? विवश प्राणी जैसे पाप के कुहरे से अपने को ढक लेने के लिए बाध्य किया जा रहा है।' 'कंकाल' में 'प्रसाद' ने हिंदू-प्रतिक्रियावाद के महान् गढ़ वर्ण-व्यवस्था को लेकर एक बड़ा विद्रोह खड़ा किया है। उपन्यास का कथानक ही कुछ इस प्रकार गढा गया है कि उससे ऊँच-नींच की वृत्ति का परिहार हो जाता है। जो ऊंचे हैं वे ही सबसे नीचे दिखलाई देते हैं। जो नीचे हैं वे ऊँचे सिद्ध हो जाते हैं। उपन्यासकार लगभग सभी पात्रों को वर्णसंकर सिद्ध कर जाति-पाँति और वर्ण-व्यवस्था के मूल पर ही कुठाराघात करता है। 'मंगल' और 'गोस्वामी' 'प्रसाद' के अपने मंतव्य को उपस्थित करते हैं उनके माध्यम से 'प्रसाद' ने जैसे हिंदू समाज को खुली चुनौती दी है।

'तितली' में गाँव के सुधारांदोलन का चित्र उपस्थित किया गया है, जो चित्रणकला में भिन्न होते हुए भी 'प्रेमाश्रम' से बहुत भिन्न नहीं है। परन्तु इसके साथ और भी बहुत कुछ है जो कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। उसमें सम्मिलित परिवार के विघटन की वह कहानी है जिससे 'प्रसाद' स्वयं अपने जीवन में भली-भांति परिचित थे। सम्मिलित कुटुम्ब हिन्दू-परिवार का एक अभिन्न अंग रहा है। परन्तु अंग्रेजों के पदर्पण के बाद देश की आर्थिक स्थिति में कुछ मूलभूत परिवर्तन हुए और एक मध्य-

वित्त समाज का जन्म हुआ। धीरे-धीरे अर्थ की प्रधानता होने लगी और अर्थ की चोट से पारिवारिक सम्बन्ध-सूत्र टूटने लगे। 'तितली' में 'प्रसाद' ने इस नई सामाजिक वस्तुस्थिति का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है—'मुझे धीरे-धीरे विश्वास हो चला है कि भारतीय सम्मिलित कुटुम्ब की भोजना की कड़ियाँ चूर-चूर हो रही हैं। वह आर्थिक संगठन अब नहीं रहा जिसमें कुल का एक प्रमुख सबके मस्तिष्क का संचालन करता हुआ रुचि की समता का भार ठीक रखता था। मैंने जो अध्ययन किया है, उसके बल पर इतना तो कह ही सकता हूँ कि हिन्दू समाज की बहुत सी दुर्बलताएँ इस खिचड़ी कानून के कारण हैं। क्या इसका पुर्निर्माण नहीं हो सकता ? प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना का उदय होने पर, एक कुटुम्ब के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। सब जैसे भीतर-भीतर विद्रोही ! यह विघटन आज हमारी प्रतीक्षा में ठहरा है कि विस्फोट होकर उछल कर चला जाय।' यह विघटन आज हमारे समाज का साधारण अंग बन गया है और उसने हमारे दुःखों और उत्पीड़िनों में वृद्धि कर दी है। 'तितली' के सुधारवाद के साथ समाज का यह चिन्तनीय पक्ष भी द्रष्टव्य है। उसका सुधारवाद नये उदार हृदय जमींदार की कल्पना से आगे नहीं जाता—इस प्रथा को जड़ से खोद डालने की कल्पना न वह कर सके हैं, न प्रेमचन्द। फिर भी ग्रामीण जीवन की अनेक समस्याएँ इस उपन्यास में उभर आई हैं।

वर्णाश्रम की समस्या ने 'प्रसाद' को नये दृष्टिकोण की ओर उन्मुख किया है। उन्होंने ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व की नई व्याख्या की है। 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' ऐसे तीन नाटक हैं जिनमें इस संबंध में हमें 'प्रसाद' की उदात्त भावनाओं का परिचय मिलता है। 'धम्मपद' में 'ब्राह्मण' की जैसी भी व्याख्या हो, उससे यह व्याख्या भिन्न नहीं है। स्वयं हिंदू धर्म-शास्त्रों में ब्राह्मणत्व के उदात्त रूप के दर्शन होते हैं। 'प्रसाद' का चाणक्य इसी ब्राह्मणत्व का प्रतीक है। ब्राह्मणत्व में 'प्रसाद' ने मानवता के श्रेष्टतम गुणों की कल्पना की है और इस कल्पना में उन्होंने भारतीय संस्कृति के अमूल्य तत्वों का गुंजन कर दिया है। त्याग, क्षमा, तप विद्या, तेज, निष्कर्म-कर्म या तटस्थ बुद्धि और इंद्रियसंयम का बड़ा सुन्दर समन्वय इस ब्राह्मणत्व में है। चाणक्य के अतिरिक्त डण्डायन, ब्यास और गौतम भी ब्राह्मणत्व के आदर्शों से प्रचालित हैं। ऐतिहासिक नाटकों के सभी नायक क्षत्रियत्व के श्रेष्ठ गुणों से भूषित हैं। स्कन्दगुप्त के शब्दों में—'सम्पूर्ण संसार कर्मण्य वीरोंकी चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलंबी गुण है। प्राणियों का विकास संभवतः इसी विचार के अर्जित होने से हुआ है।' 'प्रसाद' का क्षत्रिय का आदर्श इन पक्तियों में समाया हुआ है। परंतु यह क्षत्रियत्व केवल युद्ध के क्षेत्र में ही विकसित नहीं होता। वीरता

के प्रकाशन के लिए जीवन के अनेक क्षेत्र हैं। दृढ़ता, पौरुष, साहस और अविराम-कर्मण्यता क्षत्रियत्व के ही अंग हैं और इनमें जाति की सुरक्षा के बीजांकुर सन्निहित हैं।

'प्रसाद' के साहित्य में नई नारी का जाग्रत स्वरूप दिखलाई पड़ता है। वह अपने युग में नारी-स्वातंत्र्य के सबसे बड़े समर्थक रहे हैं, परन्तु उन्होंने नारी के चरित्र का अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तृत और मनोवैज्ञानिक विश्लेशरण भी उपस्थित किया है। रोमांटिक कवि होने के नाते उनकी सारी सहानुभूति नारी की ओर ही प्रवाहित हुई है और वह मल्लिका, देवसेना, छलना, वासवी, श्रद्धा आदि अनेकानेक विभूतियों की सृष्टि कर सके हैं। नर-नारी के युग्म के मनोविश्लेषण को भी उन्होंने काव्य और कला का रूप दिया है। 'कामायनी' का लज्जा-सर्ग का पूर्वराग और वय-सन्धि का बड़ा सूक्ष्म काव्यात्मक चित्रण है। नाटकों और कहानियों में जहाँ-जहाँ नारी-सौंदर्य और प्रेम के प्रसंग आये हैं वहाँ-वहाँ 'प्रसाद' भावुक हो उठे हैं। उनकी कहानियों में प्रेमगाथाएं अनेक हैं। नाटकों में कितने ही प्रेमी-युग्म सामने आते हैं और काव्य में प्रेम की पीड़ा और टूटे हृदय के चीत्कार के स्वर स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ते हैं। नारी का विद्रोह, उसकी कुंठा, उसका क्षात्र तेज, उसका बलिदान 'प्रसाद' के साहित्य का मेरुदंड बन गया है। अभिजात्य वर्ग-नारी तो उनका विषय है ही परन्तु निराश्रित उत्पीड़ित, उपेक्षित और समाज-बहिर्भूत नारियों के लिए उनके हृदय में अधिक स्थान है। यह अवश्य है कि उनका नारी-विद्रोह उतना ही सामाजिक नहीं जितना मनोवैज्ञानिक और काव्यात्मक है। वह नारी के लिए केवल 'प्यार करने की सुविधा माँगते हैं। आज वह अपने मन-चाहे पुरुष को भी प्यार नहीं कर सकती। कितनी दयनीय है वह? इसी से 'प्रसाद' की दृष्टि वैवाहिक जीवन की विडम्बनाओं पर अधिक जाती है। अधिकार की तो वह बात ही नहीं उठाते। परन्तु 'कंकाल' से यह स्पष्ट है कि वह समस्या के आर्थिक पक्ष से भी पूर्ण रूप से परिचित हैं। वस्तुत: नारी के प्रेम-स्वातंत्र्य की समस्या उनके लिए नारी के सर्व-स्वातंत्र्य का प्रतीक थी। उनके लिए प्रेम के आदान-प्रदान में स्वतंत्रता ही सब प्रकार की स्वतंत्रता का प्रतीक है। इस धरातल पर अनेक प्रश्न हैं जैसे विवाह और प्रेम का क्या सम्बन्ध हो, तलाक किन-किन परिस्थियों में वांछनीय हो और समाज के स्थायित्व तथा परिणय की सुविधा में समझौता किस प्रकार हो। 'प्रसाद' प्रणय को विवाह से अधिक महत्व देते हैं। विवाह तो प्रेम और समाज की मान्यताओं के बीच में समझौता है।

और भी अनेक प्रश्न हैं जो 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में उठाये हैं। उन्होंने पाप-पुण्य की व्याख्या की है, इतिहास, राजनीति और मनोविज्ञान की अनेक गुत्थियाँ सुलझाई हैं, लोक-जीवन के मंगल तत्व का उन्होंने आविष्कार किया है। इस प्रकार उनका साहित्य समसामयिक युग के सम्पूर्ण जीवन को लेकर चलता है। वह अपने

द्वारा उठाये हुए समस्त प्रश्नों का समाधान उपस्थित नहीं कर सके हैं। उनका प्रौढ़-तर साहित्य केवल अन्तिम दस वर्षों का सृजन है। अभी वह न जाने चिंता, अनुभूति और कला का कौन-कौन क्षितिज छूते। उनका समस्त जीवन अपनी आर्थिक परिस्थिति सुलझाने में बीत गया। अन्तिम वर्षों में वह कुछ निश्चित हो चले थे। साहित्य-निर्माण के संबंध में उन्होंने एक निश्चित योजना बना ली थी। ऐतिहासिक उपन्यास इस योजना की एक नई दिशा थी। वह सपना सच नहीं हो सका। परन्तु कदाचित् इसीलिए उनके साहित्य की ओर चिरकाल तक आकर्षण बना रहेगा और उनकी संभावनाओं के संबंध में अनुमान लगाये जाते रहेंगे।

# 'प्रसाद' का साहित्यिक दृष्टिकोण

साहित्य और कला के संबंध में 'प्रसाद' की मान्यताएं उनकी रचनाओं में यहाँ-वहाँ बिखरी पड़ी हैं, परन्तु 'काव्य और कला' शीर्षक संग्रह-ग्रन्थ के निबधों में वह एक स्थान पर ही मिल जाती हैं। इन मान्यताओं के आधार पर हम उनके साहित्यिक दृष्टिकोण की एक सम्पूर्ण रूपरेखा बना सकते हैं।

'प्रसाद' साहित्य को मनोरंजन या व्यसन नहीं समझते थे। साहित्य जन-हित का सबसे प्रभावशाली यंत्र है। परन्तु जन-हित से 'प्रसाद' का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। उसमें केवल आर्थिक हित की बात ही सन्निहित नहीं है। वह मानव के सर्वांगीण विकास का द्योतक है। साहित्यकार भी राजनैतिक नेता की तरह जनता का हित संपन्न करता है, परंतु वह हित-साधन उतना मुखर नहीं होता। वह रुपये-आने-पाई में नहीं आँका जा सकता। 'प्रसाद' का अधिकांश साहित्य अतीत से संबंधित है। उन्होंने अपने कथासूत्र इतिहास और पुराण से लिये हैं। सामयिक जीवन को भी उन्होंने देखा है, परंतु अधिक नहीं। उनके साहित्य के संबंध में यह भ्रम हो सकता है कि वह सामयिक जीवन और जन-हित से संबंधित नहीं हैं। इस प्रकार का साहित्य एक व्यसन मात्र भी हो सकता है। साहित्यकार अपने जीवन से, अपने समय से असंतुष्ट होकर ही आगे-पीछे की ओर भागता है। 'प्रतिछवि' शीर्षक की अपनी एक कहानी में 'प्रसाद' साहित्य में अतीत और करुणा की छाया देखना चाहते हैं। उनके साहित्य के येही दो व्यापक आधार हैं। 'स्तुत्य अतीत की घोषणा' ही उनके ऐतिहासिक नाटक का विषय है और उसके कथा-साहित्य में 'वर्तमान की करुणा' भी अंकित हुई हैं; परन्तु उनके साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनके अतीत के चित्र वर्तमान समस्याओं के आधार पर ही खड़े हैं और उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव को वर्तमान

पतन का पृष्ठभूमि में ही देखा है। वर्तमान नारी-जीवन की जिस विडम्बना का चित्र हमें 'कंकाल' में मिलता है उसके ठीक विपरीत नारी के महामहिम चरित्र और गौरव का चित्रांकन 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों का विषय है। राष्ट्रीयकरण, सामाजिक संतुलन और चरित्र-निष्ठा जैसे सार्वभौमिक तत्त्वों पर ही उनके ये नाटक खड़े हैं। आज के युग की भी येही समस्याएँ हैं, अतः 'प्रसाद' के नाटक और उपन्यास परस्पर पूरक हैं। उनमें सभी सूत्र व्याप्त हैं। उन्हें केवल पलायनवादी उच्छ्वास मानकर भुलाया नहीं जा सकता। उनमें गंभीर सामाजिक ध्येय सन्निहित हैं।

अपने वक्तव्यों में 'प्रसाद' ने काव्य और नाटक के सबंध में ही अधिक लिखा है। उपन्यास के क्षेत्र में वह बाद में आये और उनकी रचनाओं से ही उसके संबंध में उनके दृष्टिकोण से परिचित होना संभव है।

## काव्य

'प्रसाद' काव्य को कला के अन्तर्गत नहीं मानते। वह प्राचीत वर्गीकरण के पोषक हैं, जो काव्य और कला को दो भिन्न-भिन्न वर्गों में रखता है। प्राचीनों के लिए काव्य विद्या थी और कला उपविद्या। विशुद्ध काव्य कला से भिन्न है। कला के अन्तर्गत जो काव्य आता है वह समस्यापूर्ति आदि है और उसमें कौतुक और चमत्कार की प्रधानता है। छंदशास्त्र को भी वह उपविद्या की निम्न श्रेणी में रखते हैं। इस प्रकार शुद्ध काव्य समस्यापूर्ति से भिन्न है और उसमें छंदशास्त्र को आधारविंदु मानकर नहीं चला गया है। छन्दशास्त्र को वह काव्योपयोगी कला का शास्त्र कहते हैं, जो विज्ञान अथवा शास्त्रीय अध्ययन के अन्तर्गत आता है। वह अलंकार, वक्रोक्ति, रीति अथवा कथानक इत्यादि में कला की सत्ता नहीं मानते। इन सबका संबंध काव्य की अन्तरात्मा से नहीं है। ये कवि की आत्माभिव्यक्ति के बाह्यरूप हैं। उनके अनुसार व्यंजना काव्यानुभूति का परिणाम मात्र है। अतः वह कवि के अन्तरंग का विषय है।

'स्कन्दगुप्त' में 'प्रसाद' कवि मातृगुप्त से कहलाते हैं—'कवित्व वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और वाह्य जगत का अन्तर्गत से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न?' इस प्रकार कविता मे संगीत और चित्रकला की सीमाएँ मिल जाती हैं। परन्तु यह उसका वाह्यांग है। उसका अन्तरंग इससे महत्वपूर्ण है। कविता वाह्य जगत का अर्न्तजगत से सम्बन्ध कराती है। उसी के द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य आत्मनिष्ठ होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि

और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है'। एक स्थान पर उन्होंने कवित्व को 'आत्मा की अनुभूति' कहा है। उनका कहना है कि 'काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है।' मन का विकल्प अर्थात् तर्क-वितर्क प्रधान रूप सिद्धांतवाद और शास्त्रीय परिज्ञान को जन्म देता है। काव्य उसके संकल्प-रूप की अभिव्यक्ति है'। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसीसे उसे दृष्टा अथवा ऋषि कहा गया है। यही देखना या दर्शन कवित्व का प्राण है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन है। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक प्रेरणा अथवा संकल्पात्मक अनुभूति। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा। फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी विषयों के सम्बन्ध में कवि की संकल्पात्मक अनुभूति एक ही प्रकार जागरूक अथवा तीव्र हो। जिस विषय में यह तीव्रता अधिक होगी, वही विषय कवि को अधिक प्रिय होगा और उसी की अभिव्यंजना में वह अधिक सफल होगा।

'प्रसाद' काव्य के दो पक्ष करते हैं, अभिव्यक्ति और अनुभूति; परंतु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। 'व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का परिणाम है क्योंकि स्वयं सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होता है। जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वही अभिव्यक्ति अपने पूर्ण रूप में सफल हो सकी है। इस प्रकार 'प्रसाद' काव्य मे शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण कुशल, विशिष्ट और सुन्दर बन सकी है। इस प्रकार छंद, भाषा, शैली और अलंकार काव्य के शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। काव्य का एक तीसरा पक्ष भी है—श्रोता, पाठक या दर्शक। 'प्रसाद' का कहना है कि श्रोता पाठक या दर्शक के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिभा की अनुभूति होती है। परंतु कवि की अनुभूति मौलिक होती है और भावासाम्य के कारण कवि की अनुभूति अर्थात् मौलिक-वस्तु की सहानुभूति-मात्र है। कवि की मौलिक अनुभूति को 'प्रसाद' ने संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहा है। उनके अनुसार श्रोता, पाठक या दर्शक की अनुभूति का पक्ष भी संकल्पात्मक ही है, परंतु उसमें उस कोटि की तन्मयता नहीं है जो कवि में पाई जाती है। संक्षेप में, 'प्रसाद' के मत से काव्य तर्क-वितर्क से परे विशुद्ध आत्मदर्शन है और स्थिति मूलतः आध्यात्मिक है एवं 'सहज बोध पर आश्रित है।' कवि ऋषि है और ऋषि का अर्थ होता है दृष्टा। इस प्रकार काव्यानंद ब्रह्मानंद सहोदर कहा जाता है। वह किसी भी प्रकार आध्यात्म से नीचे की वस्तु नहीं रहता।

और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है। एक स्थान पर उन्होंने कवित्व को 'आत्मा की अनुभूति' कहा है। उनका कहना है कि 'काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है।' मन का विकल्प अर्थात् तर्क-वितर्क प्रधान रूप सिद्धांतवाद और शास्त्रीय परिज्ञान को जन्म देता है। काव्य उसके संकल्प-रूप की अभिव्यक्ति है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसीसे उसे दृष्टा अथवा ऋषि कहा गया है। यही देखना या दर्शन कवित्व का प्राण है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन है। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक प्रेरणा अथवा संकल्पात्मक अनुभूति। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा। फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी विषयों के सम्बन्ध में कवि की संकल्पात्मक अनुभूति एक ही प्रकार जागरूक अथवा तीव्र हो। जिस विषय में यह तीव्रता अधिक होगी, वही विषय कवि को अधिक प्रिय होगा और उसी की अभिव्यंजना में वह अधिक सफल होगा।

'प्रसाद' काव्य के दो पक्ष करते हैं, अभिव्यक्ति और अनुभूति; परंतु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। 'व्यंजना वस्तुत: अनुभूतिमयी प्रतिभा का परिणाम है क्योंकि स्वय सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होता है। जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं अभिव्यक्ति अपने पूर्ण रूप में सफल हो सकी है। इस प्रकार 'प्रसाद' काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण कुशल, विशिष्ट और सुन्दर बन सकी है। इस प्रकार छंद, भाषा, शैली और अलंकार काव्य के शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। काव्य का एक तीसरा पक्ष भी है—श्रोता, पाठक या दर्शक। 'प्रसाद' का कहना है कि श्रोता पाठक या दर्शक के हृदय में कविकृत मानसी प्रतिभा की अनुभूति होती है। परंतु कवि की अनुभूति मौलिक होती है और भावासाम्य के कारण कवि की अनुभूति अर्थात् मौलिक-वस्तु की सहानुभूति-मात्र है। कवि की मौलिक अनुभूति को 'प्रसाद' ने संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहा है। उनके अनुसार श्रोता, पाठक या दर्शक की अनुभूति का पक्ष भी संकल्पात्मक ही है, परंतु उसमें उस कोटि की तन्मयता नहीं है जो कवि में पाई जाती है। संक्षेप में, 'प्रसाद' के मत से काव्य तर्क-वितर्क से परे विशुद्ध आत्मदर्शन है और स्थिति मूलत: आध्यात्मिक है एवं 'सहज बोध पर आश्रित है।' कवि ऋषि है और ऋषि का अर्थ होता है दृष्टा। इस प्रकार काव्यानंद ब्रह्मानंद सहोदर कहा जाता है। वह किसी भी प्रकार आध्यात्म से नीचे की वस्तु नहीं रहता।

'काव्य और कला' के निबधों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद'

काव्य के अत्यंत व्यापक अर्थ लेते हैं और उसे अभिनयात्मक (नाटक) और वर्णनात्मक (काव्य अथवा पाठ्य-नाटक) में दो बड़ी श्रेणियों में विभक्त करते हैं। गीत-काव्य को उन्होंने दूसरे भेद के अन्तर्गत ही रख दिया है। पाठ्य-काव्य के भेद हैं, एक काल्पनिक अथवा आदर्शवादी और दूसरा वस्तुस्थिति-निर्देशक अथवा यथार्थवादी। इस दृष्टि से 'प्रसाद' ने काव्य के तीन अन्य भेद भी माने हैं—आनन्दवादी, बुद्धिवादी और रहस्यवादी। इस वर्गीकरण में आधुनिक सारे काव्य का समावेश हो जाता है।

'प्रसाद' की व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि वह काव्यानुभूति को रसात्मक मानते हैं। उनके मत में रस ही काव्य की आत्मा है; परन्तु अलंकार को काव्य का शरीर मानते हुए भी वह उसे काव्य-विषय से संभवतः भिन्न एवं असंबंधित नहीं समझते। उन्होंने अनुभूति और अभिव्यंजना शैली (रीति, अलंकार, वक्रोक्ति) को एक सूत्र में जोड़ना चाहा है। हमारी अपनी काव्य शास्त्र-परंपरा में रस और अलंकार में समझौता कराने का प्रयत्न किया गया है। इसके प्रवर्तक ध्वनिवादी आनंदवर्द्धन हैं जिन्होंने काव्य की आत्मा को ध्वनि माना है और रस, अलंकार और वस्तु इन तीनों को ध्वनि का ही भेद बताया है। परन्तु कदाचित परंपरागत रस के महत्व की वह भी उपेक्षा नहीं कर सके है। उन्होंने रस-ध्वनि को ही प्रधान माना है। 'प्रसाद' का प्रयत्न भी कुछ नये ढंग से इसी कोटि का प्रयत्न है। अनुभूतिपक्ष को अभिव्यंजनापक्ष से संबधित करके उन्होंने अलंकारवाद को रसवाद के भीतर सिमेट लिया है। उनके लिए अलंकार केवल वाग्-वैचित्र्य नही है। वह आभ्यंतरिक सूक्ष्म भावों का वाह्य स्थूल आकार-मात्र है। प्रचलित पद-योजना से भिन्न नवीन भंगिमाएँ कवि के अंतर्जगत् के किसी नये सत्य का ही उद्घाटन करती हैं, अतः वे स्पृहणीय हीं हैं। इससे काव्य के अंतर्हेतु और वाह्य-उपाधि में अखंडित संबंध योजित हो जाता है।

## छायावाद

जिस काव्यधारा का प्रवर्तन 'प्रसाद' के प्रारम्भिक काव्य 'कानन-कुसुम' और 'झरना की रचनाओं से हुआ और जिसका पहला अप्रतिम आलोक 'आँसू' में फूट पड़ा, उसे जनता ने 'छायावाद' का विचित्र नाम दिया। १९१५-२६ के बाद यह शब्द व्यापक रूप से संपूर्ण नवीन काव्य के लिए प्रयुक्त होने लगा और स्वयं कवियों और आलोचकों ने उसकी कई प्रकार से व्याख्या उपस्थित की। 'निराला', 'पंत', 'प्रसाद', महादेवी, शातिप्रिय द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी, रामचन्द्र शुक्ल और कुछ अन्य प्रसिद्ध साहित्यकारों और समीक्षकों की इस प्रकार की व्याख्याएँ आज हमारे सामने हैं। 'प्रसाद' के 'छायावाद' संबंधी विचारों के साथ इन मान्यताओं सामने रखना होगा। तभी हम उनकी सीमाएँ समझ सकेंगे।

'प्रसाद' 'छायावाद' को अभिव्यक्ति का एक निराला ढंग मात्र मानते हैं। उसका कहना है कि आधुनिक कवि को जब उपाधि से हट कर अंतर्हेतु की ओर प्रेरित होना पड़ा तो उसने अभिव्यक्ति के एक नये ढंग का अविष्कार किया। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिंदी में वे पहले से कम समझे जाते थे। एक प्रकार के नवीन प्रतीकात्मक ध्वनिकाव्य की सृटि हो रही थी। प्राचीनों ने इसे ही लावण्य, छाया, विच्छित्ति, विदध्य-मैत्री आदि कहा है। परन्तु प्राचीनों का लक्ष्य जहाँ आंतर अर्थ-वैचित्र्य को प्रगट करना है, वहाँ आधुनिकों ने उपमानों में आँतर स्वरूप खोजने की चेष्टा की है। वे वाह्य-सादृश्य से अधिक आंतर-सादृश्य की योजना करना चाहते थे। अलंकार के भीतर आने पर ये प्रयोग उससे कुछ अधिक थे। 'प्रसाद' के शब्दों में—'इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता और सरलता है वह विचित्र है।'

इस प्रकार 'प्रसाद' का 'छायावाद' मुख्यत: अभिव्यजना की एक नई शैली बन जाता है। इस शैली में :—

(१) ऐसे प्रयोगों का आग्रह रहता है जो वाह्य-सादृश्य की अपेक्षा आंतर सादृश्य को अधिक स्पष्ट करें।

(२) उसमें सूक्ष्म आभ्यंतर भावों का प्रकाशन आवश्यक समझा जाता है।

(३) नवीन वाक्यविन्यास और शब्दों की नवीन भंगिमा की ओर कवि की दृष्टि रहती है।

(४) उसमें कवि की अनुभूति को तत्-तत् रूप देने की चेष्टा की जाती है।

(५) उसमें एक विशेष वक्रता को स्थान मिला है। वस्तुत: 'छायावाद' से 'प्रसाद' का तात्पर्य काव्य की ऐसी ध्वन्यात्मकता से है जो साधारणत: पकड़ में नहीं आती। उसे शब्दों में या परिभाषा में बाँधा नहीं जा सकता। उसमें अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगीमा ही प्रधान है। उसकी विशेषताएं हैं ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान, उपचार-क्रमता और सहनुभूति की विवृत्ति। इस प्रकार आंतर-भाव स्पर्श से पुलकित नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास और नई शब्द-योजना 'छायावाद' का प्रमुख अंग बनी—आभ्यंतर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा से वाह्य उपादान भी बदल गये।

यह स्पष्ट है कि 'छायावाद' के प्रचलित बोध की दृष्टि से यह व्याख्या संकुचित है। अन्य आलोचक 'छायावाद' को एक संपूर्ण आधुनिक काव्य-दृष्टि मानते हैं या उसे रूढ़िवाद ठहराते हैं। आचर्य रामचन्द्र शुक्ल उसे लाक्षणिक प्रयोग तक ही

सीमित मानते हैं, परन्तु डा० रामविलास और नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे आलोचक उसे नवीन बँगला और अँग्रेजी-काव्य से प्रभावित काव्यक्षेत्र में नवीन संस्कृति का आयोजक समझते हैं। नवीन आलोचना में स्वच्छन्दतावादी काव्य के साम्यवाची के रूप में ही 'छायावाद' शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः छायावाद नाम से अभिव्यंजित काव्यधारा रीतिकालीन काव्यधारा के उस क्रमागत विरोध की सूचना देती है जो भारतेन्दु के भाव-प्रधान काव्य और द्विवेदी-युग की सम्वेदनामूलक काव्य-दृष्टि में 'प्रसाद' को प्राप्त होता है। उसमें अनेक नये विद्रोह और प्रभाव अन्तर्युक्त हैं।

## रहस्यवाद

'प्रसाद' 'रहस्यवाद' को आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा कहते हैं और उसके ऐतिहासिक, धार्मिक और काव्यगत विकास के इतिहास से पूर्णतयः परिचित जान पड़ते हैं। अपने निबन्धों में उन्होंने इस विकास को विस्तार पूर्वक विश्लेषित किया है। उनका विचार है कि काव्य में जिस रहस्यवाद को आधार बनाकर चलना होता है वह अद्वैत और आनन्द पर आधारित है। इसके कई रूप साहित्य में विकसित हुए हैं :—

(१) शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य सिद्धान्त।
(२) उपनिषदों का ज्ञानमूलक अद्वैतवाद।
(३) वैष्णवों का माधुर्य और प्रेम पराश्रित रहस्यवाद।
(४) अद्वैतमूलक भक्ति पर आश्रित रहस्यवाद।
(५) योगनिष्ठ रहस्यवाद।
(६) प्राकृतिक रहस्यवाद।

उन्होंने आधुनिक काव्य में 'रहस्यवाद' की खोज की है और उसके चार पक्ष बतलाए हैं :—

(क) अपरोक्ष अनुभूति (अद्वैतवाद या अद्वैत भावना)
(ख) समरसता (समरसवाद)
(ग) प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहम् का इदम् से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न (प्राकृतिक रहस्यवाद)

शील हो जाता है, वहाँ अपने एहिक जीवन में तटस्थता और समरसता का अनुभव करता है। इस अद्वैत-भावना का प्रकाशन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता और उसे शृंगार-रस के मिलन-वियोग के प्रतीकों के भीतर से प्रकाशित करने की एक परम्परा बराबर चलती रही है। रहस्यवाद का रूप हमें कबीर और सूफियों में पूर्णतयः विकसित मिलता है। प्राकृतिक रहस्यवाद हिन्दी के लिए नई चीज़ है और 'प्रसाद' ने इसे इस देश की अद्वैताश्रित रहस्यवादी धारा से मिलाने का महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है।

आनन्द और अद्वयता की भावना को 'प्रसाद' रहस्यवाद के दो मूल तत्त्व मानते हैं। जहाँ रहस्यवादी काव्य विरहोन्मुख है, वहाँ भी यह दुःख और आनन्द की पृष्ठभूमि लेकर आता है। वैसे स्वयं काव्यानुभूति रहस्यात्मक तत्त्व है।

## यथार्थवाद

आधुनिक काव्य और साहित्य, विशेषतयः कथा-साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति यथार्थवाद है। 'प्रसाद' ने इस प्रवृत्ति का भी विश्लेषण किया है और उसके ऐतिहासिक विकास की खोज की है। इस धारा की विशेषताएँ वह इस प्रकार उद्घटित करते हैं:—

१. लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात।
२. दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति।
३. व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का विस्तृत उल्लेख।
४. दैवी शक्ति से तथा महत्त्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता का ज्ञान होना।
५. मनुष्य के वास्तविक जीवन का साधारण चित्रण।

'यथार्थवाद और आदर्शवाद' शीर्षक निबंध में 'प्रसाद' ने कहा है, 'व्यापक दुःख संवेदित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते है।' उन्होंने यथार्थ के मूल में वेदना के भाव का प्रतिष्ठापन किया है। यथार्थवादी साहित्यकार जीवन को उसी तरह चित्रित करना चाहता है जिस तरह वह उसे देख पाता है। जीवन में जो अनाचार और उत्पीड़न है, यथार्थवादी उसे आँख की ओट नहीं करना चाहता। वह उसे ऐसे शक्तिशाली ढंग से हमारे सामने उभारकर रख देता है कि हम मानव के दुःख से द्रवित हो जाते हैं और उसे दूर करने के लिए कटिबद्ध होते हैं। इस प्रकार हम यथार्थवाद को विराट् मानवता और करुणा की भूमि पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। परन्तु सभी प्रकार के यथार्थवादी साहित्य के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती। बहुत-सा यथार्थवादी साहित्य यथातथ्य चित्रण-मात्र है, या बुद्धिवादी है, या

मनोविकार से ग्रस्त है। प्रकृतिवादी कलाकारों और अति-यथार्थवादी लेखकों का साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है। उसके पीछे मानवजीवन की विराट् अनुभूति अथवा करुणा का बल नहीं है। 'प्रसाद' इस साहित्य के समर्थक नहीं हैं। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि यथार्थवाद क्षुद्रों का नहीं है अपितु महानों का भी है। पिछले प्रकार का यथार्थवादी साहित्य मूलतः बौद्धिक है और एक प्रकार से वह क्षुद्रों का साहित्य है। 'कंकाल' और 'तितली' में स्वयं 'प्रसाद' ने समाजबहिष्कृतों और उत्पीड़ितों को अपनी सारी अनुभूति दी है। इन उपन्यासों में हम उन्हें विक्टर ह्यूगो के निकट पाते हैं। ह्यूगो के उपन्यायों में दीन-हीन, पीड़ित और सब प्रकार से लांछित मानवता का जो सशक्त चित्रण उपस्थित है, वैसा चित्र 'प्रसाद' अपने किसी उपन्यास में उपस्थित नहीं कर सके हैं; परन्तु 'कंकाल' और कितनी ही अन्य कहानियों में उनकी कला बार-बार ह्यूगो की कला को छूती जान पड़ती है। क्षुद्रों का यथार्थवाद हमारी नीच प्रवृत्तियों को उकसाता है और हमें पतन के गर्त की ओर ले जाता है, परन्तु ह्यूगो जैसे महानों का यथार्थवाद हमें मानवता के सुधार के लिए दृढ़ संकल्प बनाता है और हमें प्रेम, सहानुभूति और करुणा द्वारा एक सूत्र में बाँधता है। यथार्थवाद की यह दृष्टि ही स्वस्थ दृष्टि है।

'प्रसाद' गद्य-साहित्य को ही यथार्थवाद का मुख्य माध्यम मानते थे। स्वयं उनकी कितनी ही कहानियाँ और उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'कंकाल' यथार्थवाद के अन्यतम दाहरण हैं। परन्तु भाव-भूमि में वह आदर्शवाद और यथार्थवाद के समन्वय को ही सत् साहित्य मानते हैं। वह कहते हैं—'साहित्यकार न तो इतिहासकार है और न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए आदर्श का सामंजस्य स्थिर करता है। दुःख-दग्ध जगत् और आनंद-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है, इसलिए असत्य प्रघटित घटना पर कल्पना की वाणी महत्त्वपूर्ण स्थान देती है, जो निजी सौन्दर्य के कारण सत्य पद पर प्रतिष्ठित होती है। इसमें विश्व-मंगल की भावना ओतःप्रोत रहती है।' एक तरह से इस आदर्श में यथार्थवाद और आदर्शवाद का समन्वय स्वतः उपलब्ध हो जाता है क्योंकि 'प्रसाद' उसी यथार्थवाद को उपादेय मानते हैं जो लोक-मंगल की भावना लेकर चले और जो वेदना और करुणा के व्यापक मानव-भाव से प्रभावित हो।

## नाटक और रंगमंच

'प्रसाद' के नाटक भारतेन्दु की नाटक-परम्परा का विकास है और उनमें उन्होंने राय और शेक्सपियर से स्वतन्त्र एक नई नाटकीय कला का आभास दिया है। ये नाटक मूलतः ऐतिहासिक हैं और इन्हें हम आदर्शमूलक स्वच्छन्दतावादी नाटकों की

कोटि में भी रख सकते हैं। 'प्रसाद' नाटक में यथार्थवाद और इब्सनिज्म के विरोधी हैं। उनके अनुसार इब्सनिज्म का भूत केवल वास्तविकता का भ्रम दिखाता है, वह वास्तविकता को पकड़ नहीं पाता। फिर हमारे रंगमंच के विकास की एक स्वतन्त्र परम्परा रही है और उससे यह मेल नहीं खाता। पश्चिम के वाद-विशेष के अनुकरण से सत्साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती, यह वह मानते हैं। कुछ सैद्धांतिक विरोध भी हैं। 'प्रसाद' साहित्य को सार्वकालिक और सार्वदेशिक भावनाओं पर आश्रित देखना चाहते हैं। इब्सनिज्म में उन्हें नयेपन की अमर्यादित पुकार ही सुनाई देती है। इस नयेपन में एकांगीपन ही अधिक है। इसमें हमारे साहित्य का संपूर्ण विकास सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है कि नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' वैचित्र्यवादियों के साथ नहीं हैं, वह रसवादियों के साथ हैं। इसलिए उनके नाटकों में व्यक्ति-वैशिष्ट्य या चरित्र-चित्रण पर उतना बल नहीं है, जितना रस परिपाक पर। फलतः आधुनिक नाटकों से वह कुछ भिन्न हैं और बहुत कुछ १६ वीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटकों से मिलने-जुलते होने पर भी उनसे भिन्न हैं। उनके नाटक अतीत पर आश्रित है परन्तु उनमें भविष्य के निर्माण की योजना रखी गई है और वे कला की सभी मान्यताओं पर पूरे उतरते हैं। वे चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-वैचित्र्य रस का साधन बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

रंगमंच के विषय में भी उनकी अपनी मान्यताएँ हैं। वह केवल नई पश्चिमी प्रेरणाओं को लेकर नहीं चलना चाहते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि रंगमंच को देश, काल और पात्र के अनुसार संग्रहीत होना चाहिए। वह रंगमंच के विकास में हिन्दी की उस स्वतन्त्र परम्परा का ही प्रसार देखना चाहते हैं जिसकी स्थापना भारतेन्दु ने की थी। अपने समय के पारसी रंगमंच से वह पूर्णतया असंतुष्ट थे और हिन्दी वालों के पास अपना कहने के लिए कोई भी रंगमंच नहीं था। रगमच के अभाव में व्यावहारिक दृष्टि का विकास असम्भव था और नाटककारों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे ऐसे नाटक लिखें जो किसी प्रकार के परिवर्तन के बिना रगमंच पर उपस्थित किये जा सकें। इसी धारणा के बल पर हिन्दी के श्रेष्ठतम नाटकों को रंगमंच के लिए अनुपादेय ठहराकर उपेक्षित किया जा रहा था। इस वस्तु-स्थिति का 'प्रसाद' ने विरोध किया। उन्होंने प्रतिक्रिया के वशीभूत हो नाटक को रंगमंच से पहले रखा। इसमें सन्देह नही कि यह दृष्टिकोण भ्रामक था। प्रत्येक नाटक के साथ रंगमंच बदलता रहे, यह बात अव्यावहारिक है। परन्तु जहाँ रंगमंच है ही नहीं वहाँ अभिनेय-अनभिनेय की बात उठाई ही क्यों जाय? कदाचित् 'प्रसाद' के इस मंतव्य में सामयिक आलोचकों के प्रति 'प्रसाद' की चिढ़ ही व्यक्त हुई है। इसी विचारधारा से अनुप्राणित होकर उन्होंने नाटकीय भाषा के संबंध में भी एक विचित्र दृष्टिकोण रखा है।

इस क्षेत्र में भी वह यथार्थवाद के कायल नही हैं। वह कहते हैं—'मैं तो कहूँगा कि सलरता और विलष्टता पात्रों के भावों और विचारो के अनुसार भाषा मे होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के आधार पर ही भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए; किंतु इसके लिए भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिंदी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा मे पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।' इसी मंतव्य का निर्वाह उनके नाटकों में हुआ है। उन्होंने अपने नाटकों में सभी पात्रों की भाषा लगभग समान रखी है। कहीं-कहीं उनकी भाषा क्लिष्ट भी हो गई है। उनके नाटक मूलत: ऐतिहासिक है और इसलिए भाषा की क्लिष्टता काव्यमयता उन्हें प्राचीन युग का गौरव देने में समर्थ है, परन्तु इससे उनके नाटक रंगमंच के लिए दुर्बोध हो गये हैं। जहाँ छोटे-बड़े सभी पात्र संस्कृत-निष्ठ काव्यात्मक भाषा का प्रयोग करेंगे, वहाँ वे सबके लिए सुबोध न हो सकेंगे। देश और काल के अनुसार भाषा गढ़ने की बात ठीक है। प्राचीन युग के वातावरण में 'प्रसाद' की मधुमयी भाषा खूब सजती है, परन्तु उन्होने भाषा-शैली के सम्बन्ध में अपना जो दृष्टिकोण उपस्थित किया है वह सर्वमान्य नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध में 'प्रसाद' की अपनी धारणाएँ है। वह नग्न और निरर्थक यथार्थवाद और इब्सनिजम के विरोधी हैं। वह भाषा-शैली के साहित्यक रूप के पक्षपाती हैं। वह नाटक को प्रयोगों की वस्तु नहीं बनाना चाहते। वह उसे व्यक्ति-वैचित्र्य और सामान्य अनुकृति से ऊपर उठाकर इसके ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

## उपसंहार

ऊपर हमने 'प्रसाद' की काव्य-कला और नाटक की रंगमंच-सम्बन्धी धारणाओं पर विचार किया है। इसमें संदेह नहीं कि ये धारणाएं बहुत दूर तक मौलिक और क्रांतिवादी हैं और वे बहुत कुछ 'प्रसाद' के अपने प्रयोगों पर आधारित हैं। 'काव्य और कला'–संबंधी उनके निबंध, जिनमें ये धारणाएँ स्वरूप प्राप्त करती हैं 'प्रसाद' के उत्तरकाल की रचनाएँ हैं, कदाचित् अन्तिम ५—६ वर्षो की। इस समय तक वह अपना अधिकत: साहित्य उपस्थित न कर चुके थे और विभिन्न साहित्य-कोटियों के संबंध में उनकी मान्यताएँ प्रौढ़ और अपरिवर्तनशील बन गई थीं। उनमें उनकी अपनी रुचि-अभिरुचि, अपनी कला-भगिमा, अपने प्रयोगों की पृष्ठभूमि ही पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित है। इस पृष्ठ-पट पर ही हमें उनका मूल्यांकन करना होगा। काव्य के

उद्देश्य और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी निष्कृतियाँ सबसे महत्वपूर्ण हैं। 'छायावाद' को उन्होंने लाक्षणिक विधानों और प्रयोगों में अवश्य सीमित कर दिया है, परन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर यह उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। अतः इस संकुचित दृष्टि का थोड़ा निराकरण हो जाता है। नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ सर्व-स्वीकृत नहीं हो सकतीं। उनके अपने प्रयोगों और समसामयिक रंगमंचीय परिस्थिति से प्रभावित होने के कारण वे अपूर्ण और एकांगी हैं।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि 'प्रसाद' का साहित्यिक दृष्टिकोण उनके साहित्यिक नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण अंग है। उसमें जहाँ रीतिकाल की श्रृंगारिक और रूढ़िवादी दृष्टि का विरोध है वहाँ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की नैतिक और उपयोगितावादी क्लासिकल दृष्टि भी उसमें नहीं है। 'प्रसाद' काव्य-विषय, काव्य-भाषा और काव्य-शैली तीनों क्षेत्रों में नये सिद्धांत लेकर चले हैं और इन सिद्धातों को काव्यरूप देकर उन्होंने इतिवृत्तात्मकता और गद्यात्मकता से ऊपर उठकर रसमूलक श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि की है। उन्होंने नये साहित्य को पश्चिम से नहीं भारतेन्दु से जोड़ने का प्रयत्न किया है और काव्य के क्षेत्र में 'छायावाद' और 'यथार्थवाद' दोनों के लिए भारतेन्दु के साहित्य को मूलाधार माना है। जिस ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीकविधान और स्वानुभूति की विवृत्ति को वह छायावाद मानते हैं वह भारतेन्दु के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं और स्वयं व्रजभाषा-काव्य भारतेन्दु की इसी नई प्रवृत्ति का विकास है। नये काव्य के कुछ अंग भारतेन्दु में नहीं मिलते—उनके काव्य में प्रकृति के प्रति उन्मेष दिखाई नहीं पड़ता और नये ढंग के रहस्यवाद का स्फुरण उनमें नहीं है। 'प्रसाद' ने 'इंदु' के पहले अंक में ही इन उपेक्षिक अंगों की ओर संकेत किया है। इस विषय में 'काव्य और प्रकृति' शीर्षक उनका सर्वप्रथम साहित्यिक लेख द्रष्टव्य है। यथार्थवाद की नई धारा को वह भारतेन्दु के 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेमयोगिनी' जैसे नाटकों से सम्बन्धित करते हैं। उन्होंने लिखा है 'प्रेमयोगिनी' हिंदी में यथार्थवाद के ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को मैं इसी श्रेणी की चीज समझता हूं। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा था। अन्यावस्था वाले युग में देवव्यास से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ। इसी प्रकार नाटक और रंगमंच के विकास को भी वह भारतेन्दु से शुरू करते हुए कहते हैं—'श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देख कर हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी; उसमें इन सब का समन्वय था। उसमें सत्य हरिश्चन्द,

मुद्राराक्षस, नीलदेवी, चंद्रावली, भारत-दुर्दशा, प्रेमयोगिनी इत्यादि सबका सहयोग था। हिंदी रंगमंच की इस स्वतंत्र चेतना को सजीव रखकर रंगमंच की रक्षा करनी चाहिए। केवल नई पश्चिमी प्रेरणाएँ हमरी पथ-प्रदर्शिका न बन जायें। इस प्रकार उन्होंने काव्य और नाटक के क्षेत्र में नये आन्दोलनों को पूर्व-प्रवृत्तियों और भारतेन्दु की महत्व पूर्ण कृतियों से जोड़ा और उनको सहित्य-क्षेत्र में स्वीकृत कराया। भारतेन्दु के बाद विशुद्ध साहित्य की रस-मूलक साधना लुप्त होती जा रही थी। साहित्य समाज-सुधार, राजनीति, धर्म और ज्ञान-विज्ञान का कोष बनता जा रहा था। जीवन से संपृक्त करने के बहाने उसका जीवन-रस ही समाप्त हो रहा था। मैथिलीशरण गुप्त की तुकबंदियाँ ही उन दिनों आदर्श काव्य थीं और नाटक के क्षेत्र में पारसी स्टेज के भोंडे प्रहसन और पौराणिक विद्रूप आदर पा रहे थे। ऐसे युग में साहित्य को लेकर विशुद्ध रसदृष्टि की स्थापना करना बहुत कठिन कार्य था। काव्य में लक्षाणिक शैली के अविष्कार और नये आनंदमय प्रतीकों के आधार पर तथा नाटकों में ऐतिहासिक स्वच्छंदतावादी दृष्टि को विकसित कर 'प्रसाद' ने इस कठिन कार्य का संपादन किया, इस नई साहित्य-दृष्टि का बड़ा विरोध हुआ, परन्तु युग बदल चुका था और नये प्रतीकों का आकर्षण भी कम नहीं था। फलतः 'प्रसाद' के साहित्य के द्वारा नई चेतना को स्थायित्व प्राप्त हुआ और नई चेतना नया युग-धर्म लेकर आई।

उद्देश्य और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी निष्कृतियाँ सबसे महत्वपूर्ण हैं। 'छायावाद' को उन्होंने लाक्षणिक विधानों और प्रयोगों में अवश्य सीमित कर दिया है, परन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर यह उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। अतः इस संकुचित दृष्टि का थोड़ा निराकरण हो जाता है। नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ सर्व-स्वीकृत नहीं हो सकतीं। उनके अपने प्रयोगों और समसामयिक रंगमंचीय परिस्थिति से प्रभावित होने के कारण वे अपूर्ण और एकांगी हैं।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि 'प्रसाद' का साहित्यिक दृष्टिकोण उनके साहित्यिक नेतृत्व का एक महत्वपूर्ण अंग है। उसमें जहाँ रीतिकाल की श्रृंगारिक और रूढ़िवादी दृष्टि का विरोध है वहाँ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की नैतिक और उपयोगितावादी क्लासिकल दृष्टि भी उसमें नही है। 'प्रसाद' काव्य-विषय, काव्य-भाषा और काव्य-शैली तीनों क्षेत्रों में नये सिद्धांत लेकर चले हैं और इन सिद्धातों को काव्यरूप देकर उन्होंने इतिवृत्तात्मकता और गद्यात्मकता से ऊपर उठकर रसमूलक श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि की है। उन्होने नये साहित्य को पश्चिम से नहीं भारतेन्दु से जोड़ने का प्रयत्न किया है और काव्य के क्षेत्र में 'छायावाद' और 'यथार्थवाद' दोनों के लिए भारतेन्दु के साहित्य को मूलाधार माना है। जिस ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीकविधान और स्वानुभूति की विवृत्ति को वह छायावाद मानते हैं वह भारतेन्दु के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं और स्वयं ब्रजभाषा-काव्य भारतेन्दु की इसी नई प्रवृत्ति का विकास है। नये काव्य के कुछ अंग भारतेन्दु में नहीं मिलते—उनके काव्य में प्रकृति के प्रति उन्मेष दिखाई नहीं पड़ता और नये ढंग के रहस्यवाद का स्फुरण उनमें नहीं है। 'प्रसाद' ने 'इंदु' के पहले अंक में ही इन उपेक्षिक अंगों की ओर संकेत किया है। इस विषय में 'काव्य और प्रकृति' शीर्षक उनका सर्वप्रथम साहित्यिक लेख दृष्टव्य है। यथार्थवाद की नई धारा को वह भारतेन्दु के 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेमयोगिनी' जैसे नाटकों से सम्बन्धित करते हैं। उन्होंने लिखा है 'प्रेमयोगिनी' हिंदी में यथार्थवाद के ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को मैं इसी श्रेणी की चीज समझता हूं। प्रतीक विधान चाहे दुर्बल रहा हो, परंतु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ था। वेदना और यथार्थवाद का स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा था। अन्यावस्था वाले युग में देवव्यास से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण हिंदी में उसी समय आरंभ हुआ। इसी प्रकार नाटक और रंगमंच के विकास को भी वह भारतेन्दु से शुरू करते हुए कहते हैं—'श्री भारतेन्दु ने रंगमंच की अव्यवस्थाओं को देख कर हिन्दी रंगमंच की स्वतंत्र स्थापना की थी; उसमें इन सब का समन्वय था। उसमें सत्य हरिश्चन्द,

# 'प्रसाद' की कविता

जयशंकर 'प्रसाद' उस नये काव्य के प्रवर्तक माने जाते हैं जिसे उपयुक्त नाम न मिलने के कारण स्वच्छंदतावादी काव्य, रोमांटिक काव्य, रहस्यवादी काव्य या 'छायावादी' काव्य कह दिया जाता है। कहा जाता कि १९०९-१० ई० के लगभग 'इन्दु' (मासिक, काशी) में जयशंकर 'प्रसाद' की जो कविताएं प्रकाशित हुईं उन्होंने इस नये काव्य की नींव डाली। जयशंकर 'प्रसाद' का प्रारम्भिक काव्य १९०९ ई० से १९१६ ई० तक 'इन्दु' में ही प्रकाशित हुआ था और जहाँ 'प्रसाद' की पारवर्ती रचना की पृष्ठभूमि के लिए उसका अध्ययन अनिवार्य है, वहाँ नये काव्य की कुछ अत्यंत जटिल समस्याएँ भी उसी के माध्यम से सुलझाई जा सकती हैं। उनका ऐतिहासिक महत्व उनके साहित्यक महत्व से कहीं अधिक है।

सबसे पहली बात तो यह है कि 'प्रसाद' को रीति-काव्य-धारा और द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्नक, तथ्य-प्रधान, कल्पना-शून्य काव्य-धारा के बीच में से मार्ग बनाना पड़ा। १९१० ई० तक खड़ी बोली का जो काव्य हमारे सामने आया वह मुख्यतः काव्य-गुण हीन था। १८ वीं शताब्दी के साहित्यकार मर्यादावादी थे और इन कवियो के काव्य में भावुकता और कल्पना का कोई चिह्न नहीं मिलता। जो कुछ था, वह व्याव-हारिक, अतिनैतिकता-प्रधान और कटा-छटा था। कहीं भी संकेत नहीं, छाया-प्रकाश का खेल नहीं, कुछ भी मुंदा छिपा नहीं। अभिधा मात्र ही सब कुछ था। फलतः इस काव्य से न मन को तुष्टि मिलती थी, न हृदय को। १८८५–१९१० ई० तक के खड़ी बोली हिन्दी-काव्य के बराबर नीरस साहित्य कदाचित् ही कहीं मिले। प्रेम, वासना, यौवन, सौंदर्य, रहस्य-चिंतन ये सब विषय इस-काव्य-भूमि में वर्जित थे। विधवा, बाल-विवाह, आज्ञा-पालन, देश-प्रेम, नगर-ग्राम, सुख-दुःख के साधारण अनुभव

नये काव्य का एक महत्वपूर्ण विषय था प्रकृति । प्राचीन हिन्दी-काव्य में यह विषय बराबर उपेक्षित रहा है । उद्दीपन मात्र के लिए प्रकृति का उपयोग या प्रकृतिक वस्तुओं का गणनात्मक परिचय प्रकृति-काव्य नहीं बन जाता । हम बता चुके हैं कि श्रीधर पाठक ने पहले-पहल प्रकृति के स्वतन्त्र रूप की ओर देखा । अंग्रेजी काव्य ने इस सम्बन्ध में उन्हें प्रेरणा दी । परन्तु वह बहुत दूर नहीं जा सके । उनके प्रकृति-चित्रण वर्णात्मक हैं । वह प्रकृति के रंगों-रूपों में पूर्णतयः डूब नहीं गये हैं । उनकी प्रकृति स्वयं उनके सुख-दुख से रंजित नहीं है । 'प्रसाद' ने प्रकृति-चित्रण की नई शैली का आविष्कार किया । 'इन्दु' की पहली संख्या में ही उनका एक गद्य-लेख छपा है—'प्रकृति-सौंदर्य' । आत्मा से ही उन्होंने प्रकृति के सहचर्य में एक अलौकिक सुख की कल्पना की है । 'चित्राधार' में वह कहते हैं :—

नील नभ में शोभित विस्तार,
प्रकृति है सुन्दर परम उदार,
नर-हृदय परिचित, पूरित स्वार्थ,
बात जंचती कुछ नहीं यथार्थ ।

इस लेख में उन्होने 'विश्व-सुन्दरी प्रकृति में चेतना के आरोप' को साहित्य का एक विशिष्ठ अंग माना है। उनके काव्य में प्रकृति के तथ्य-प्रधान, भावुकता-प्रधान, रहस्यमय—सभी प्रकार के चित्र मिलते है । यदि प्रकृति-सम्बन्धी उनकी सारी पंक्तियों को इकट्ठा कर लिया जाय तो कदाचित् एक ऐसा संग्रह बन जाय कि जिसमें प्रकृति की कोई भी भंगिमा, कोई भी कोमलता छूट नही गई हो ।

यह तो हुई विषय-जन्य परिवर्तन की बात । परन्तु शैली, भाषा और छंद के क्षेत्र में भी 'प्रसाद' ने अनथक परिश्रम किया है । १९०६-१० से १०२५ ई० तक वह इन क्षेत्रों मे बराबर प्रयोग करते रहे । सानेट, पयार, त्रिपदी, बंगला और उर्दू के अनेक छन्द, हिन्दी के नये-पुराने छन्दों के मिश्रण—न जाने किन-किन छन्दों को उन्होने नई कविता के क्षेत्र में उतारा । 'कामायनी' (१९३६) में छन्दों का जो वैभव है, जो गंभीर संगीत है, वह एक दिन की चीज नहीं । इसके पीछे 'प्रसाद' के वे छोटे-बड़े प्रयोग है जो वर्षो चलते रहे और जिन्होंने 'प्रसाद' के काव्य को सगीत की वहुमुखिता और मधुरिमा से भर दिया । भाषा-शैली के प्रयोग में उनका निश्चित दृष्टिकोण है । वह लक्षणा को प्रधानता देते है । 'प्रसाद' 'रहस्य' के उपासक है । वह कहते हैं—'सौन्दर्य सदैव एक रहस्य है, अतएव जहाँ जितनी ही सुन्दरता होगी, वहाँ उतनी ही अस्पष्टता भी होगी । सौंदर्य की भाषा में जो अस्पष्टता, संकोच और (सिर झुकाकर कभी-कभी ऊपर देख लेने वाली) लज्जा की सहेली है वही साहित्य के प्रगति-विज्ञान में प्रतियोगिता के चिन्ह है ।" इस दृष्टिकोण के बाद हमें कवि के आधे खुले आधे-मुँदे शब्दो के प्रयोग पर आश्चर्य

नहीं होता। 'प्रसाद' एक हद तक चमत्कारवादी भी हैं। वह छायावाद को मूलतः भाषा-शैली की एक नई भंगिमा मानते हैं। कुन्तक 'वक्रोक्ति' का उदाहरण देते हुए शब्द और अर्थ की वक्रता के निर्देश में कहते हैं, 'वह विच्छित्ति, छाया और क्रांति का सृजन करती है।' उनके अनुसार इस प्रकार के वैचित्र्य का सृजन करना ही कवि का काम है। परन्तु जहाँ चमत्कारवादी केवलमात्र चमत्कार के लिए वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं वहाँ 'प्रसाद' 'अन्तरहेतु' के लिए यह नई योजना लेकर उपस्थित होते हैं। अभिधा के द्वारा बाह्य उपाधि तक ही पहुंचा जा सकता है। 'अन्तर्हेतु' के प्रकाशन के लिए सांकेतिकता चाहिए, रहस्यमयता चाहिए और यहीं से वक्रता और लाक्षणिकता का काम आरम्भ होता है। भाषा-शैली का यह नया और विचक्षण प्रयोग 'प्रसाद' के काव्य को कुछ गूढ़, कुछ रहस्यमय, कुछ क्लिष्ट और कुछ असाधारण बना देता है, परन्तु उसमें संकेत, रहस्य और काव्य-रस की मात्रा बढ़ जाती है, इसमें संदेह नहीं। 'पन्त', 'निराला', महादेवी और 'प्रसाद' के काव्य में काव्य-रस कदाचित् 'प्रसाद' में ही सबसे अधिक मिलेगा। उनकी प्रत्येक पंक्ति भावना में विभोर है। उर्दू-कवियों की विदग्धता, प्राचीनों की लाक्षणिकता और रोमांटिक काव्य की संगीतमयता और भावुकता का अपूर्व संगम 'प्रसाद' के काव्य में है।

## रचनाएँ

परिमाण की दृष्टि से 'प्रसाद' का काव्य अधिक नहीं है। कदाचित् समसामयिकों में सबसे कम सामग्री उन्होंने दी है, परन्तु छायावाद के प्रवर्तक होने के नाते यह सामग्री अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। फिर काव्य-तत्वों की दृष्टि से यह थोड़ी सामग्री भी परिमाण में कहीं बड़ी सामग्री पर भारी पड़ती है। द्विवेदी-युग की कविता ने कैसे धीरे-धीरे नया रंग पकड़ा, छायावाद के काव्य के तत्व कहाँ-कहाँ से ग्रहण किये गये इत्यादि, अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान 'प्रसाद' के काव्य के अध्ययन से ही हो सकता है।

'प्रसाद' मूलतः कवि थे। उन्होंने चम्पू, नाटक, उपन्यास और निबन्ध के क्षेत्र में भी हमें बहुत कुछ दिया, परन्तु इन सब रचनाओं में उनके कवि-व्यक्तित्व का ही प्रसार मिलता है। इससे उनका काव्य और भी महत्वपूर्ण बन जाता है। लगभग ३० वर्ष तक, १६०६ ई० से आरम्भ करके १६३६ ई० तक वह बराबर काव्य का सृजन करते रहे। १७ वर्ष की आयु में उनकी पहली कविता प्रकाशित हुई। प्रारम्भि काव्य में उनका नितान्त अविकसित रूप मिलता है, परन्तु इसी अविकसित रूप धीरे-धीरे इतनी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली कि आज 'कामायनी' (१६३६) पर हिन्दी गर्व है। संसार के काव्य-साहित्य में इस रचना को हम निःसंकोच भाव से सकते हैं।

काल-क्रम के अनुसार 'प्रसाद' जी की रचनाएँ हैं :—प्रेम-पथिक (१९१३), महाराणा का महत्व (१९१४), करुणालय [गीति-नाट्य] (१९१९), चित्राधार (१९१९), कानन-कुसुम (१९२२), आँसू (१९२६), झरना (१९२७), लहर (१९३५) और कामायनी (१९३६)। इन रचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—प्रारम्भिक प्रयोगात्मक काव्य (१९०९–१९२५)

२—प्रौढ़ काव्य (१९२६–३७)

प्रारम्भिक काव्य का ऐतिहासिक महत्व ही अधिक है। इन प्रारम्भिक रचनाओं में से बहुत कम ऐसी हैं जो 'प्रसाद' के प्रौढ़ काव्य की तुलना में ठहर सकें। हाँ, आँसू (१९२६), लहर (१९३५) और कामायनी (१९३६) कभी भी पुरानी नहीं पड़ेंगी। इन रचनाओं में कवि ने सार्वभौमिक मानुषी सुख-दुःख को काव्य का विषय बनाया है और उनकी अनुभूति सब युगों और सब देशों के मनुष्यों के हृदय को छूने में समर्थ है। 'प्रसाद' की अधिकांश प्रारम्भिक प्रयोगात्मक रचनाएँ 'इन्दु' (१९०९–१९१६) में प्रकाशित हुईं। यह मासिक पत्र था जो काशी से प्रकाशित होता था। 'प्रसाद' के भांजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त इसके सम्पादक थे और इस पत्र के संस्थापन में स्वयं 'प्रसाद' का बड़ा हाथ था। इस पत्रिका के सम्पादकीय भी वही लिखते थे और उनसे हमें 'प्रसाद' की प्रारम्भिक साहित्यिक विचारधारा का परिचय मिलता है। इस विचार-धारा को पृष्ठ-भूमि में रखने पर हम 'प्रसाद' के काव्य की मौलिक प्रवृत्तियों को बड़ी सरलता से ग्रहण कर सकते है। नई कविता के विषय में लिखता हुआ कवि कहता है :—

१—साहित्य का कोई लक्ष्य नहीं होता।

२—साहित्य के लिए कोई विधि या बंधन नहीं है।

३—साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण है साहित्यकार या कवि का व्यक्तित्व। फलतः सर्वश्रेष्ठ साहित्य साहित्यकार या कवि की साधना मात्र है।

४—साहित्य के विषय हैं सत्य और सुन्दर।

५—पाश्चात्य साहित्य और शिक्षा ने कविता के विषय में लोगों के मानदंड बदल दिये हैं। अब नये मानदंडों के अनुरूप ही कविता होनी चाहिए।

६—रीति-काव्य ने जनता की मनोवृत्तियों को शिथिल कर दिया है। अतः नये काव्य के लिए रीति-काव्य का अनुकरण ठीक नहीं।

७—नई कविता के ये गुण होंगे :—

(क) भावमयता (ख) ओज (ग) आत्म-विस्मरण (घ) संगीतमयता (ङ) ह्लादकता (च) शान्तिमयता। १९०९–१० के लगभग काव्य की सर्वांगीण नई व्या करना बड़े साहस का काम था। कवि रीति-धारा में बहे जा रहे थे या

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में गद्य-प्रधान, इतिवृत्तात्मक एवं नातिमूलक काव्य की रचना कर रहे थे। उस समय में एकदम लक्ष्य-हीन, केवल-मात्र सत्य-सुन्दर को साहित्य घोषित करना सचमुच ही क्रान्ति की बात थी।

वास्तव में हिन्दी रोमांस-काव्य ( या छायावाद ) की धारा का आरम्भ 'इन्दु' के इन्हीं वक्तव्यों से होता है। आचार्यों की अनेक मान्यताओं और परम्परागत अनेक काव्य-परिपाटियों और काव्य-रूढ़ियों ने कविता को इतने बंधनों में कस दिया था कि वह निष्प्राण हो गई थी। ऐसे समय में कविता के स्वतन्त्र और बंधनहीन व्यक्तित्व की खोज सबसे बड़ी खोज थी। कवि कविता में अपनी बात कहे, अपने श्वांसोच्छ्वास भरे, अपने सुख-दुःख को वाणी दे, ईश्वर जीव का सम्बन्ध नहीं, सत्य और सुन्दर की खोज ही उसका लक्ष्य हो, यह सब नई बात थी। कवि की आत्म-स्फूर्ति ही काव्य में प्रधानता पा सके, यह और भी बड़ी बात थी। सच तो यह है कि भारतेन्दु (१८५०–८५) ने आधुनिक हिन्दी-कविता के लिए जो मार्ग प्रशस्त किये थे, वे बाहर की ओर अधिक जाते थे। वह क्रान्ति थी, परन्तु इतनी बड़ी क्रान्ति नहीं थी। 'प्रसाद' ने आधुनिक कविता के लिए अनेक अन्य:स्रोत खोले और कवियों को नई अन्त: दिशाओं की ओर उन्मुख किया।

परन्तु इससे महत्वपूर्ण बात यह है कि अपनी प्रारम्भिक रचनाओं (१९०६–१९२५) में 'प्रसाद' ने नये काव्य के क्षेत्र में अनेक प्रयोग किये। वह केवल सिद्धान्त स्थापित करके नहीं रह गये। उन्होने बड़े परिश्रम से नये छंद सोधे, नई लयों की खोज की, नये विषय कविता को दिये और कवि की अन्तःस्फूर्ति से उनका नाता जोड़ा। पाश्चात्य स्वछंदतावादी काव्य, रविबाबू की कविता और उर्दू का लाक्षणिक शैली से उन्होने बहुत कुछ उधार लिया, परन्तु उनके अपने व्यक्तित्व में छनकर यह बाहरी सामग्री हिन्दी की अपनी सामग्री बन गई और कविता के क्षेत्र में नये पथ प्रशस्त होने लगे।

'चित्राधार' (१९१९) में अधिकांश में वे कविताएँ संग्रहीत हैं जो 'प्रसाद' के 'इन्दु'-काल (१९०९–१६) से संबंध रखती हैं। 'प्रसाद' ने भारतेन्दु की काव्य-कला का अनुकरण कर ब्रजभाषा में ही लिखना आरम्भ किया था। कदाचित् रत्नाकर का प्रभाव ही रहा हो। इस प्रारम्भिक का य में ब्रज-भाषा की काफी रचनाएँ हमें मिल जाती हैं, परन्तु एक विशेषता यह है कि कुछ कविताओं में नये विषयों को पहली बार अपनाया गया है। प्रकृति-सम्बन्धी कई नई कविताएँ हमें इन प्रारम्भिक रचनाओं में मिल जाती हैं। छंदों के अनेक नये प्रयोग मिलते हैं। बंगला के प्यार, उर्दू की गजल और अंग्रेजी के सानेट छन्दों को लेकर 'प्रसाद' हिन्दी के क्षेत्र में नये प्रयाग करना चाहते थे। वे सब प्रयोग फसल नहीं हुए, इससे उनका श्रेय नहीं चला जाता। इन

प्रारम्भिक कविताओं में ही हमें कवि के कुछ छोटे खंड-काव्य या कथा-काव्य मिल जाते हैं। सत्यव्रत और भरत ('इन्दु', कला ४, खंड १, किरण १) प्रेम-पथिक (वही, कला १, किरण २, करुणालय ('इन्दु', माघ, १९१३) और महाराणा का महत्त्व (कला ५. खंड १) इनमें महत्त्वपूर्ण हैं। कामायनी (१९३६) में कथा-काव्य का जो हिम-चुम्बी गौरव मिलता है, उसकी पृष्ठभूमि इन्हीं प्रारम्भिक रचनाओं में मिलती हैं। अन्तिमकालीन रचनाएँ आज भी लोकप्रिय हैं। कवि ने उनमें इतना सुधार कर दिया है कि अब वे प्रारम्भिक रचनाएँ जान भी नहीं पड़तीं।

'प्रेम-पथिक' एक छोटा सा खंड काव्य है। जिस रूप में यह आज प्राप्त है उस रूप में यह अतुकांत खंड काव्य कहा जा सकता है। इसमें एक छोटी सी प्रेम-कथा को काव्य का विषय बनाया गया है। कदाचित् इस कथा पर गोल्डस्मिथ के The Hermit काव्य की छाप भी है। श्रीधर पाठक ने १८८६ ई० में खड़ी बोली में यह काव्य अनूदित किया था और अपनी लोकप्रियता के कारण इस काव्य की कथावस्तु हिन्दी के कवियों के लिए अलभ्य नहीं रही होगी। कथारंभ में प्रकृति की एक सुन्दर वीथिका है। सरिता की रम्यतटी में एक सुन्दर कुटिया है, बल्लरियों के झुरमुट से घिरी। एक तापस उस कुटिया में बैठा है। शाम हो चली है। मार्ग भूल कर एक तापसी वहाँ आ भटकी है और रात्रि के लिए शरण-प्रार्थी है। तापस ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया। तापसी के आग्रह पर उसने उसे अपनी जीवन-कथा भी सुना दी। एक छोटे से स्वच्छ नगर में उसका जन्म हुआ था। 'आनंद-नगर' उस नगर का नाम था। नदी के किनारे घर था जहाँ वह पिता के साथ रहता था। पड़ोस में एक वृद्ध सज्जन रहते थे, जिनकी कन्या से बालक की मैत्री हो गई। पिता जब रोग-शय्या पर शरीर छोड़ने लगे, तब उन्होंने बालक को इसी वृद्ध को सौंप दिया। दोनों बालक-बालिका प्रेम की छाया में बढ़ने लगे। परन्तु एक दिन वृद्ध ने बालक से पूछे बिना बालिका का फलदान चढ़ा दिया। बालिका (पुतली) कुछ दिनों बाद ब्याह दी गई। बालक अब युवा हो गया था। वह संसार छोड़कर तापस बन गया। व्यथित हृदय लेकर वह इस प्रणय-भार को ढोता हुआ सारे संसार में घूमता फिरा। अन्त में जब वह इस प्रदेश में आया, तब उसे एक रात किसी देवदूत ने स्वप्न में प्रेम का सच्चा 'दर्शन' बताया। उसने शान्ति पाई। फिर वह वहीं रहने लगा। तापस की कथा सुनकर तापसी व्याकुल हो उठी—क्यों किशोर, क्या तुम मुझे अपनी किशोरी (चमेली) को भूल गये? अब वह रूप नहीं रहा, यौवन नहीं रहा—परन्तु उस विवाह से मुझे कौन सा सुख मिला? मैं तो उनके घर की दासी रही। प्रेम और करुणा का एक क्षण भी मेरे भाग्य में कहाँ था? अब वह पति भी शमशानवासी होकर धरती से चले गये। संसार का रूप बदला। संताप को सहती हुई

आज वह लांछिता तापसी है। किशोर की आँखों से आँसू बहने लगे। दो बिछुड़े, गले लगे। तापस ने कहा—'देखती नहीं हो, यह कैसी सुषमा फैली है ? यह संसार ही विश्वात्मा है। यहाँ करुणा का राज्य है। पर सेवा का व्रत धारण करते हुए जीवन-पथ पर निर्लिप्त भाव से बढ़ना ही तप है। चलो, उसी सौंदर्य-महानिधि की ओर चलें जहाँ अखंड शांति रहती है।'

'करुणालय' में विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र संबंधी एक पौराणिक कथा को पद्यबद्ध कर दिया गया है। कहने में तो वह गद्य-नाटक है, परंतु वास्तव में नाटकीयता उसमें अधिक नहीं है। अयोध्यापति हरिश्चन्द्र ने पुत्र रोहिताश्व को विश्वामित्र की बलि चढ़ाने का वचन दिया था, परन्तु उस वचन को निभाना कठिन हो रहा था। रोहित से उन्होंने कहा तो वह बन की ओर भाग गया। वहाँ उसे निर्धन अजीगर्त ऋषि मिले जो अपने कनिष्ठ पुत्र शुनःशेप को बलि के लिए सौ गाँओं के बदले देने को तैयार हो गये। शुनःशेप की बलि के लिए कोई तैयार ही नहीं होता था। आखिर कौन ब्राह्मण-कुमार की हत्या कर अभिशाप ले ? तब स्वयं अजीगर्त इस क्रूर कर्म के लिए उद्यत हो गया। परन्तु तभी आकाश से गर्जन के साथ विश्वामित्र ने महामंडप में प्रवेश कर बलि को रोक दिया। वस्तुतः शुनःशेप दासी सुव्रता की कोख से उत्पन्न विश्वामित्र का ही पुत्र था। सुव्रता दासी कर्म से मुक्त हो गई और राजा हरिश्चन्द्र का प्रण भी बच गया। यह स्पष्ट है कि इन दोनों कहानियों में न कोई विशेष मौलिकता है और न कोई कला।

'महाराणा' का महत्व, कथा-दृष्टि से इन दोनों से अधिक महत्वपूर्ण है। प्रवाद है कि एक बार नवाब खानखाना की पत्नी राजपूतों की बंदिनी बन गई थी, परन्तु महाराणा प्रताप ने विरोध सह कर भी उसे आदर-पूर्वक शत्रु-शिविर में भिजवा दिया। काव्य में बताया गया है कि खानखाना किस प्रकार अकबर को महाराणा के महत्व से परिचित कराते है और अंत में किस तरह अकबर सधि के लिए पत्र लिखवाता है। कथा के विकास और विस्तार में 'प्रसाद' ने पर्याप्त मौलिकता से काम लिया है।

काव्य की दृष्टि से ये रचनाएँ केवल ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। परिवर्तन परिवर्द्धन के बाद इनमें अब भी अपरिपक्वता के चिह्न मिलते हैं। परन्तु कुछ स्थल फिर भी काव्यपूर्ण बन सके हैं। कवि प्रेम के अत्यन्त उच्च रूप की कल्पना करता है। वह कहता है :—

> **पथिक ! प्रेम की राह अनोखी, भूल-भूल कर चलना है।**
> **घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे कांटे बिछे हुए;**
> **प्रेम–यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,**
> **तब तुम प्रियतम-स्वर्ग विहारी होने का फल पावोगे।**

× × × ×

प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्ति मात्र में बना रहे,
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबकी समता है।
इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत-भवन में टिक रहना
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं,
—अथवा उस आनन्द-भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं।

अन्त में कवि प्रकृति के रहस्यमय सौन्दर्य में विश्वात्मा के दर्शन का संकेत देता है। 'महाराणा के महत्व' में जहाँ एक उदात्त भावना है, वहाँ चित्रांकन-कौशल के अंकुर भी मिल जाते हैं। वर्णन की जिस सुन्दर कला का परिचय इस छोटे से काव्य में मिलता है उसका प्रयोग बाद में लेखक ने नहीं किया। कहीं-कहीं कवि ने बड़ी हृदयग्राही सौन्दर्य-पूर्ति उपस्थित की है, जैसे :—

तारा हीरक हार पहन कर, चन्द्र मुख
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
( शाही महलों के ऊँचे मीनार से )
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका
मंथर गति से उतर रही हो सौध पर।

बाद के काव्य में हम 'प्रसाद' की चित्र-निर्मात्री प्रतिभा से पूर्णतयः परिचित हो जाते हैं, परन्तु यहाँ भी उनके चित्र कम सुन्दर नहीं हैं।

**कानन-कुसुम** (१९२२) और झरना (१९२७) में कवि की कुछ अन्य प्रारम्भिक रचनाएं संग्रहीत हैं। कुछ ब्रजभाषा की कविताएँ हैं, कुछ द्विवेदी-युग के अनुरूप खड़ी बोली की कविताएँ, कुछ नई प्रवृत्तियों से सम्पन्न छायावादी रचनाएँ। ब्रजभाषा की कविताओं में भारतेन्दु और उनकी मंडली की काव्य-परम्परा को ही आगे बढ़ाया गया है। परन्तु 'प्रभातिक-कुसुम', 'इन्द्र-धनुष', 'चन्द्रोदय', 'संध्या-तारा' जैसी कुछ प्राकृतिक कविताओं में नई स्वच्छन्दतावादी अनुभूति को ब्रजभाषा में ढालने का प्रयत्न है। कुछ कविताओं पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का प्रभाव है। रायकृष्णदास के एक संस्मरण में लिखा है कि "प्रसाद' 'गीतांजलि' (१९१३) से बहुत प्रभावित हुए थे और उन्होंने अंग्रेजी पुस्तक के गद्य-गीतों के अनुकरण में कुछ गद्य-गीत भी लिखे थे जो उन्होंने बाद में पद्य में ढाल दिये। इन दो संग्रहों में ऐसी अनेक रचनाएँ हैं। 'कानन-कुसुम' की कुछ कविताओं में प्रेम, पीड़ा और करुणा के बहुत सुन्दर चित्र दिखाई पड़ते हैं। एक कविता में कवि कहता है :—

क्लांत हुआ सब अंग शिथिल क्यों वेष है।
मुख पर श्रम-सीकर का भी उन्मेष है॥

भारी बोझा लाद लिया, न सँभार है।
छल-छालों से पैर छिले, न उबार है।।
चले जा रहे वेग भरे किस ओर को ?
मृग-मारीचिका तुम्हें दिखाती छोर को।।
किन्तु नहीं हे पथिक ! वहाँ जल है कहीं।
बालू के मैदान सिवा कुछ है नहीं।।

( करुण-पुंज )

एक दूसरी कविता में कवि उर्दू-कवियों की तरह पीड़ा से ही प्रेम करने लगता है :—

मैं तो तुमको भूल गया हूँ
पा कर प्रेममयी पीड़ा।

( हृदय वेदना )

एक अन्य कविता (प्रथम-प्रभात) में हमें कवि की अंतः-जागृति का बड़ा-सुन्दर चित्र मिलता है :—

मनोवृत्तियाँ खग कुल-सी थीं सो रहीं।
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ में।
नील गगन सा-शांत हृदय भी सो रहा।
बाह्य-आंतरिक प्रकृति सभी सोती रही।।
स्पन्दनहीन नवीन मुकुल-मन तुष्ट था।
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरंद से।
कहा अचानक किस मलयानिल ने तभी।
( फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ )
आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें।
खुली आँख, आनन्द दृश्य दिखलाता गया।।
मनोवेग मधुकर-सा फिर तो गूँज के।
मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा।।
वर्षा होने लगी कुसुम-मकरंद की।
प्राण-पपीहा बोल उठा अनन्द में।।
कैसी छवि ने बाल अरुण की प्रगट हो।
शून्य हृदय को नवल राग रंजित किया।।
सद्यः स्नात हुआ फिर सुतीर्थ में—
मन पवित्र उत्साहपूर्ण भी हो गया।

**विश्व विमल अनन्द-भवन-सा हो गया ॥**
**मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था ॥**

सचमुच यह कवि के जीवन का **प्रथम प्रभात** था, परन्तु आनन्द के इस उत्साहपूर्ण स्वर में कवि के व्यक्तिगत जीवन के दुःखों की झंकार भी सुनाई देती है। 'झरना' (१६२७) में प्रेम के संयोग और वियोग पक्ष के अनेक चित्र हैं। कवि ने किसी से प्रेम किया है। 'झील में' कविता में प्रेमी-प्रेमिका के एकांत मिलक का चित्र है। 'मिलन'-शीर्षक कविता में कवि गा उठा है :—

**मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।**
**यह अलस जीवन सफल सब हो गया ॥**

परन्तु शीघ्र ही प्रेम का छल उस पर प्रगट हो जाता है। प्रेम को उसने अतिथि मानकर हृदय में उसका स्वागत किया था। परन्तु यही अतिथि 'नाहर' निकला। विरह के नख-रेख लगने पर उसने उसे पहचाना। वह पुकारता है :—

**रे मन !**
**न कर तू कभी दूर का प्रेम।**

( [illegible] )

**सुधा में मिला दिया क्यों गरल**
**पिलाया तुमने कैसा तरल**
**माँगा होकर दीन**
**कंठ सींचने के लिए**
**गर्म झील का मीन**
**निर्दय तुमने क्या कर दिया**
**सुना था तुम हो सुन्दर ! सरल !**

**( सुधा में गरल )**

उसे अपने प्रेमी जीवन की असफलता पर मार्मिक वेदना का अनुभव होता है। वह चिल्ला उठता है :—

**'झरना'** (१६२७) में इस प्रकार की प्रेम की सफलता और असफलता की अनेक रचनाएँ हैं। इस संग्रह में 'प्रसाद' प्रधानतः प्रेम और सौंदर्य के कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनमें उर्दू कवियों की मार्मिक व्यंजना, लाक्षणिकता, पीड़ावाद और अनुभूति की तरलता का परिचय मिलता है। परन्तु कुछ कविताएँ ऐसी भी हैं जहाँ इस प्रेम को ईश्वर-परक बना दिया गया है और वहाँ आध्यात्मिक प्रेम की सफल व्यंजना है। ऐसी कविताएँ मुख्यतः 'गीतांजलि' के प्रभाव को सूचित करती हैं। रवीन्द्र बाबू के स्वर में स्वर मिलाकर ही कवि कहता है :—

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ?
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान !
दुखी पर करुणा क्षण भर ही,
प्रार्थना पहरों के बदले,
हमें विश्वास है कि वह सत्य
करेगा आकर तव सम्मान।
( आदेश )

परन्तु कहीं-कहीं स्वयं कवि की अनुभूति उसके काव्य को अत्यन्त आकर्षक बना देती है। उदाहरण के लिए देखिए, इन पंक्तियों में भक्त-हृदय की कैसी उथल-पुथल भरी है :—

जब करता हूँ कभी प्रार्थना
कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की
हो जाती झंकार
चमत्कृत होता हूँ मन में। ( अव्यवस्थित )

'आँसू' में लौकिक-प्रेम को जो आध्यात्मिक क्षेत्र में ले जाने का प्रयत्न दिखलाई पड़ता है, वह 'झरना' की इन्हीं आध्यात्मिक कविताओं के प्रभाव को सूचित करता है। प्रेम की अनुभूति कवि की निजी अनुभूति है। रहस्यवाद और अध्यात्म उसकी मौलिक प्रवृत्ति होने के कारण कवि की रचनाओं में अध्यात्मवाद स्वतः आ गया है। लौकिक जीवन में कवि को जिस वेदना और असफलता के दर्शन करने पड़े, उसी ने उसके स्वर को अध्यात्म-व्यंजक बना दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसके बाद 'आँसू' (१९२६) आता है। यह 'प्रसाद' की पहली प्रसिद्ध रचना है और आज भी इसकी लोकप्रियता कम नहीं हुई है। वर्षों तक वह काव्य छायावाद की प्रतीक-रचना के रूप में उपस्थिति की जाती रही और इसमें संदेह नहीं कि इसमें नये काव्य के लगभग समस्त तत्व मिल जाते हैं। यह जिस मौलिक रूप में पहले संस्करण में हमारे सामने आई थी, उस रूप में लौकिक-प्रेम विरह-काव्य से अधिक और कुछ नहीं था। बाद के परिवर्तित और परिवद्धित संस्करणों में उसपर आध्यात्मिकता का आरोप कर दिया गया और आज इसी रूप में उसकी प्रसिद्धि अधिक है।

'आँसू' में कहानी का आभास मात्र मिलता है। उसे अधिक से-अधिक हम स्मृति-काव्य या उपालम्भ काव्य कह सकते हैं। जान पड़ता है, कवि ने किसी से प्रेम किया है और अनेक दिनों तक यह प्रेम-व्यापार चलता रहता है! जिस प्रेमिका से कवि ने प्रेम किया है उसका सौंदर्य अपूर्व है और उसका प्रेम तथा आत्म-समर्पण भी अपूर्व है। परन्तु सुख उफनाते मधु से उज्ज्वल वे रातें सदा ही नहीं रह पातीं। मिलन के बाद वियोग आता है। न जाने क्यों प्रेम-पात्र ने अपने प्रेमी को छोड़ दिया जहाँ मिलन-सुख की शीतल मलय बहती थी, वहाँ विरह की तप्त झंझा चलने लगी। कथा इतनी ही है, परन्तु 'प्रसाद' की कल्पना और कला दुःख की इस गाथा को अपूर्व मादकता, अद्भुत पीड़ा और विचक्षण दार्शनिक-तटस्थता प्रदान करती है। न जाने कितनी आधुनिक हिंदी-कविताओं को 'आँसू' के छंद, उसकी शैली, उसकी संगीत-मयता, उसकी भाव-व्यंजना ने प्रभावित किया है।

'आँसू' के आरम्भ में कवि एक विराट शून्यता का अनुभव करता है उसके हृदय में एक भयानक हाहाकार गरजता जान पड़ता है। यह सब कैसे हो गया? कहाँ गये वे मिलन-सुख? वह माधवी कुंज की एकांत–लीला? वह कह उठता है:—

> **इस करुणा-कलित हृदय में**
> **अब विकल रागिनी बजती,**
> **क्यों हाहाकार स्वरों में**
> **वेदना असीम गरजती?**
> **शीतल ज्वाला जलती है**
> **ईंधन होता दृग-जल का,**
> **यह व्यर्थ साँस चल-चल कर**
> **करती है काम अनिल का।**

उस दिन जब उस सौन्दर्य-पुंज से कवि का प्रथम परिचय हुआ था तब जैसे पतझड़ में कुसुमाकर ने प्रवेश किया हो; शून्य हृदय में न जाने कितने उद्गार भर गये थे:—

> **निर्झर सा झिर-झिर करता**
> **माधवी कुंज छाया में,**
> **चेतना बही जाती थी**
> **हो मंत्रमुग्ध माया में,**
> **पतझड़ था, झाड़ खड़े थे,**
> **सूखी सी फुलवारी में,**

किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में ।

तब की बात क्या ? तब क्या कहना ? वह मिलन अब है । कैसा था वह रूप : कवि कहता है । 'सौन्दर्य की अपार राशि थीं तुम । लावण्य-शैली भी तुम्हारे ऊपर राई की भाँति छोटी होकर न्यौछावर थी । कैसा सुषमा थी ? क्या प्यारी छवि थी ! यह अलकों में घिरा हुआ मुख ! इन काली शृंखलाओं में चन्द्रमा को किसने बाँध रखा था । तुम्हारी वेणी में रत्न गुंथे थे । मुझे आश्चर्य हुआ कि जिन सर्पों के पास मणि है वह हीरों को क्यों मुँह में भरे हुए है ! तुम्हारी आँखों में जीवन-मद की लाली थी । जैसे नीलम की प्याली में किसी ने लाल मदिरा भर दी हो, या समुद्र में नीलम की नाव तैरती हो । अंजन-रेखा जैसे समुद्र–तट है और पुतली नीलम की नाव ।'

'तुम्हारी पलकों ने न जाने कितने हृदयों को घायल कर दिया । तुम्हारी इन्हीं सुन्दर पलकों ने तूलिका बन कर न जाने कितने घायलों के चित्र बना दिये । तुम्हारे स्वस्थ कपोलों पर मुसकान ही हलकी मोटी-रेखायें हैं । तुम्हारी भौंह के संकेत में कुटिलता छिपी है । तुम्हारे होंठ विद्रुम और सीप-सम्पुट तथा दाँत मोती की पंक्ति है, तुम्हारी नासिका शुक है । यह हंस नहीं है, मोती के दाने ऐसे क्यों रखे गये हैं जैसे उन्हें चुगने के लिए रखा हो । तुम्हारी हँसी इतनी मोहक थी कि प्रभात-कालीन खिला हुआ कमल-वन भी लज्जित हो जाता था ।' इस प्रकार यह रूप-वर्णन चलता है । प्राचीन काव्य-रूढ़ियों और उर्दू की लक्षण-पद्धति के सहारे रूप का जितना सुन्दर संकेत सम्भव है वह सब 'आँसू' की पृष्ठि-भूमि बनाता है ।

फिर कवि को उस मिलन की याद आती है : 'कैसे थे वे मिलन के दिन जब मैं आलिंगन (कुम्भ) की मदिरा पीता था । तुम्हारे निश्वासों के झोंके में जैसे मलय-क्रीड़ा कर रहा हो । सुबह जाकर तुम्हें ही देखता था, प्रिये !······रात बीत जाती थी । तुम्हारा मुख मेरी गोद में रहता था । तब आकाश में तारे छिटके होते, जैसे अम्बर-पट पर मिलन-रोमांच के स्वेदकण । पत्तों में छिपे किसलय प्रेम से रोमांचित होकर कम्पित हो जाते । डालियाँ आलिंगन में बंधी होतीं । वे प्रसन्न हो फूलों को चूमतीं । भौंरे तान छोड़ते । तब (मिलन) मुरली बज उठती । मुकुल खिल जाते । मकरन्द-भार से पवन मंथर हो जाती । उस भार से दबकर (कोकिल के) स्वर कर्णकुहर में प्रवेश करते ।'······वह मिलन अब सपना हो गया है । कवि को विश्वास है, वह अब नहीं लौटेंगे । कवि कहता है :—

आयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन-कुंज में मेरे

चांदनी शिथिल अलसाई
सुख के सपनों से घेरे ।

अब तो विरह की दावाग्नि में जल भर गया है । मिलन वियोग की युगल परिस्थितियों की तुलना करता हुआ कवि कहता है, 'तव हृदय में कामना का समुद्र तुम्हारी छवि की पूर्णिमा की आभा लिए लहराता था । तुम्हारी परछाईं जैसे रत्नराशि हों, अमूल्य निधि ! अब यह समुद्र फेनिल है, आग उगल रहा है । किस तृष्णा ने हमें मथ डाला ? कौनसा बाडव इसके तल में जल रहा है ?'— इस प्रकार की अनेक ऊहाप्रधान उक्तियाँ काव्य को चमत्कारपूर्ण बना देती हैं । यह स्पष्ट है कि 'आँसू' में कवि-हृदय की सीधी सरल अभिव्यक्ति नहीं है । उसकी अपनी कला है, अपनी शैली है, परन्तु यह शैली प्राचीन काव्य-शैली से निश्चय ही भिन्न है । इस भिन्नता ने नये पाठकों को उसकी ओर आकर्षित किया । द्विवेदी-युग की जड़, गद्यप्रधान, इतिवृत्तात्मक कविता के स्थान पर अनुभूति और कल्पना पर आश्रित यह उपालम्भ-काव्य हिंदी का हृदय हार बन गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । आज की हिंदी में इसकी जोड़ की कितनी चीजें हैं । वेदना का कितना सुन्दर मूर्त-चित्र इन पंक्तियों में खड़ा किया गया है :—

जब नील निशा-अंचल में
हिमकर थक सो जाते हैं
अस्ताचल की घाटी में
दिनकर भी खो जाते हैं,
नक्षत्र डूब जाते हैं
स्वर्गंगा की धारा में
विजयी बंदी होती जब
कादम्बिनि की कारा में,
मणि-दीप विश्व-मंदिर की
पहने किरणों की माला
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला,
उत्ताल जलधि-वेला में
अपने सिर शैल उठाये,
निस्तब्ध गगन के नीचे
छाती में जलन छिपाये
संकेत नियति का पाकर

तम से जीवन उलझाये,
जब सोती गहन गुफा में
चंचल लट को छिटकाये,
यह ज्वालामुखी जगत की
वह विश्व-वेदना वाला,
तब भी तुम सतत अकेली
जलती हो मेरी ज्वाला।

इन पंक्तियों ने वेदना के जिस सार्वभौमिक, कल्याणी-रूप की सस्था का ह वह सचमुच अद्भुत है। जिस भाषा, जिस सांकेतिकता, जिस मादकता का उद्घाटन 'प्रसाद' की कला ने किया है वह सामयिक काव्य में भी अपूर्व है। परिवर्तित और परिवर्द्धित अन्तिम संस्करण (१९३३) में 'प्रसाद' ने आँसू की व्यंजना को और भी व्यापकता दे दी है। सुख-दुख से तटस्थता, सुख-दुख से समरसता का एक जीवन-संदेश भी देने का उन्होंने प्रयास किया है। कवि कहता है :—

अपने आँसू की अंजलि
आँखों में भर क्यों पीता ?
नक्षत्र पतन के क्षण में
उज्जवल होकर है जीता
—वह हँसी और यह आँसू
घुलने दे—मिल जाने दे
बरसात नई होने दे
कलियों को खिल जाने दे।

कवि प्रभात सायं की प्राकृतिक सुषमा में ही अपनी प्रियतमा का मुख देख लेता है। अपनी निजी सुख-दुख की समस्या में वह संतुलन की खोज कर लेता है। यह तो मानव-जीवन है। यहाँ तो विरह मिलन का परिणय चलता है। सुख-दुख दोनों नाचते हैं। खुला मन हो, तो देखो। यह तो मन का खेल है। यह नियतिनटी की तरह नाचती है। मनुष्य को लेकर कंदुक-क्रीड़ा करती है। हमें चाहिए कि निःसंग, निर्लिप्त होकर रहें। सुख-दुख से उदासीन होकर सुख-दुख को एक बना दें। समय आयेगा जब दुख भुला दिया जायेगा। विस्मृति (की समाधि) पर कल्याण-रूपी मेघ की वर्षा होगी। तब दुख की चिन्ता छूट जायेगी। सुख थककर सो जायेगा। तब यह दग्ध करने वाली चेतना—लहर नहीं रहेगी। जीवन (समुद्र) में शांति आ जायेगी।

यह है 'प्रसाद' के 'आँसू' की संक्षिप्त रूप-रेखा और उसके लौकिक तथा आध्यात्मिक पक्षों का निरूपण। इस रचना में कवि ने पहली बार नई मूर्तिमत्ता, नये

कल्पना-विलास और नूतन स्वतंत्र दिशा की ओर संकेत किया है। काव्य-तुकबन्दी मात्र कवि-कर्म नहीं रह गया है। वह कवि के व्यक्तित्व और उसकी अन्तः स्फूर्ति का प्रकाश बना है। 'आँसू' में जो कुछ कहा गया है वह उस समय पूर्णतः पकड़ में न आ पाया और आज भी पूर्णतः पकड़ में आ सका है, यह कहना कठिन है। परन्तु यही अस्पष्टता काव्य को आकर्षक बनाती है और उसे नये-नये अर्थ देती है। 'प्रसाद' के काव्य में रीति-काव्य के प्रिय विषय नारी-सौन्दर्य और प्रेम को युग के अनुसार नई अभिव्यक्ति मिली है। प्रेम की भावना का जो विस्तार 'प्रेम-पथिक' (१९१३) में मिलता है, उसी ने 'आँसू' में कलात्मक और कथात्मक रूप ग्रहण कर लिया है। जो कुछ कहा गया था, वह तो महत्वपूर्ण था ही, परन्तु जैसे कहा गया है वह और भी महत्वपूर्ण है। 'आँसू' की शैली ने हिन्दी-काव्य में कला और रहस्यमयता के नये-नये द्वारा उन्मुक्त किये और वह आधुनिक युग की सबसे बड़ी प्रेरणा-शक्ति बन गया।

'लहर' (१९३५) में 'प्रसाद' की अन्तिम २९ मुक्तक रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनमें कुछ कविताएँ हैं, कुछ गीत, कुछ मुक्त छंद। 'प्रसाद' की अधिकांश रचनाएँ इतनी संगीतमय हैं कि उन्हें 'गीतों' की तरह गाया भी नहीं जा सकता है। अतः उनकी रचनाओं को कविता और गीत में बाँटना कुछ कठिन ही है। ये सब रचनाएँ एक ही समय की रचनाएँ भी नहीं हैं। कुछ रचनाएँ बहुत पहले पत्रों में प्रकाशित होकर प्रसिद्धि पा चुकी थीं। जो हो, यह निश्चित है कि इस संग्रह की कविताओं का आधुनिक काव्य–साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। विषय वही है—प्रेम, यौवन, सौन्दर्य रहस्यमय मिलन, वियोग, प्राकृतिक-सुषमा और दार्शनिक चिंतन। यह आश्चर्य का विषय है कि 'प्रसाद' ने इन विषयों पर अधिक नहीं लिखा है, परन्तु जो कुछ लिखा है, वह कविता और कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

'लहर' की कविताओं में जो स्वर बार-बार उभरा दिखाई देता है वह है वेदना का स्वर। 'प्रसाद' का सारा काव्य किसी अप्रत्याशित सुख की झलक दिखाकर छिपे अभाव में जाने और उसके दुःख के क्रन्दन की कहानी है। अपने जीवन के प्राथमिक काल में उन्होंने ऐश्वर्य, सुख और समृद्धि का जो सपना देखा था, वह उनकी किशोरावस्था प्राप्ति तक लोप हो चुका था। 'इन्दु' की कविताओं से यह स्पष्ट है कि अपने यौवन के आरम्भ में उन्होंने किसी से प्रेम किया था, परन्तु अन्त में विरह और पीड़ा हाथ पड़े। 'आँसू' एक टूटे हुए हृदय का करुण-क्रंदन मात्र है। 'लहर' में जीवन की अफलता, पीड़ा और वेदना जैसे घनीभूत हो उठी हों। अपनी 'आत्मकथा' के सम्बन्ध में लिखता हुआ कवि कहता है :—

**उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।**
**अरे खिल-खिल कर हँसते होने वाली उन बातों की।**

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
आलिंगन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में,
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहागमय माया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की ?
जीवन को उधेड़ कर देखोगे क्या मेरी कंथा की ?

'प्रसाद' के सारे काव्य में 'मधुर चाँदनी रातों में चलने वाली बातें बिखरी पड़ी है। उन्होंने सुख के छल को देखा है और इस छलावे को पकड़ न सकने पर दुःख का भी अनुभव किया है। उनके सारे काव्यों में सुख-दुःख की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना हुई है।

कभी-कभी हृदय रो उठता है। कवि को लगता है, उसे कभी किसी का प्यार नहीं मिला, आलिंगन को उठे हुए हाथ जैसे किसी को न पाकर चीत्कार करते हुए गिर पड़े, कुछ ऐसी ही कवि की परिस्थिति है। वह चिल्ला उठता है :—

चिर तृषित कंठ से तृप्त-विधुर
वह कौन अकिंचन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ-सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार बार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार।
सागर-लहरों सा आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन
जल-वैभव है सीमाविहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार,
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

कभी वह कल्पना करता है कि कोई उसको प्यार करने वाला है, परन्तु वह उससे छिप कर कुछ खेल करना चाहता है। वह पूछने लगता है :—

अरे कहीं देखा है तुमने
मुझे प्यार करने वाले को
मेरी आँखों में आकर फिर
आँसू बन ढगने वाले को ?

कभी उस छिपने वाले छल की निष्ठुरता की याद कर वह उसे उपालंभ देता है।

निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मृदु प्याली को,
उसके सूखे अधर माँगते
तेरे चरणों की लाली को

प्रियतम ने उसके जीवन की प्याली ठुकरा दी है। उसका जीवन-रस शेष हो गया है। परन्तु फिर भी उसे कहना नहीं है। फिर भी प्रेमी के अधर चरणों का चुम्बन ही माँगते हैं। नियति की तिष्ठुरता के विरोध में मनुष्य और कर ही क्या सकता है ? फिर वह पीड़ा को ही चन्दन क्यों न मान लें ? 'प्रसाद' की कल्पना है कि मानव-जीवन लालसा, निराश वेदना और दुःख से निखर उठता है। यह सब उस अनन्त की निष्ठुर लीला है। मनुष्य इस लीला को रोकने में असमर्थ है। तब क्या करे ? कवि कहता है :—

तब क्यों रे फिर यह सब क्यों ?
यह रोष भरी लाली क्यों ?
गिरने दे नयनों से उज्ज्वल
आँसू के कन मनहर,
वसुधा के अंचल पर।

कवि के इस समाधान, इस नियतिवाद से हमारा विरोध हो सकता है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि 'प्रसाद' ने दुःख और पीड़ा को काव्य का सफल रूप दिया है। वह अपने व्यक्तित्व और अपने अनुभावों के प्रति पूर्णतः ईमानदार रहे हैं।

इस दुःख के साथ कभी-कभी बीते हुए सुख की स्मृति भी उभर आती है। कवि गा उठता है :—

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे,
जब सावन-घन सघन बरसते ;
इन आँखों की छाया भर थे ?

इस सुख में विभोर हो वह प्रकृति की बसंती सुषमा में अपने हृदय की सारी माधुरी उँड़ेल देता है :—

कोमल कुसुमों की मधुर रात !
शशि-शतदल का वह सुख-विकास
जिसमें निर्मल हो रहा रास,
उसकी साँसों का मलय-बात।
कोमल-कुसुमों की मधुर रात,
वह लाज-भरी कलियाँ अनन्त।

परिमल घूँघट ढक रहा वृन्त
कँप-कँप चुप-चुप कर रही बात
कोमल कुसुमों की मधुर रात !

परन्तु वास्तव में यह सुख-स्मृति उसके दुःखी व्यक्तित्व का ही एक पक्ष है। उसे बचपन की उस सुख-क्रीड़ा की याद आती है जब वह प्रेमिका की आँखों में प्रणय का अल्हड़ खेल खेल रहा था :—

अजिर के उर में भरा कुलेल,
हारता था हँस-हँस कर मन

वे दिन तो चले गये परन्तु उनकी स्मृति अब भी कवि का सर्वोपम धन बनी हुई है। कवि कहता है :—

तुम्हारी आँखों का बचपन !
आज भी है क्या नित्य किशोर,
उसी क्रीड़ा में भाव-विभोर
सरलता का वह अपनापन
आज भी है क्या मेरा धन !
तुम्हारी आँखों का बचपन !

इस प्रकार 'लहर' का कवि अपनी सारी रचनाओं को अपने जीवन की भूमिका दे-देता है।

वेदना की इस जीवन-व्यापी अनुभूति के कारण कवि अपने लिए एक अलग नीड़ बनाना चाहता है। वह कहता है :—

वसुधा नाचे ऊपर नभ हो
नीड़ अलग सबसे हो।

इस एकांत में वह अपने लिए एक नये स्वर्ग का निर्माण करेगा, जहाँ :—

सिहर-भरी कँपती आवेंगी
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर
मानस-नयन-कलिन को।
जवा कुसुम-सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रंगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँघ कर

आवेंगी शशि-किरनें
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।

एक दूसरे गीत में वह नाविक से ऐसे देश में ले चलने की प्रार्थना करता है :-

जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की रजनी रे !
जहाँ साँझ की जीवन-छाया
ढोले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढलकाती हो
ताराओं की पाँति घनी रे !

स्पष्ट है, यह पलायन-वृत्ति का परिणाम है। संसार की सभी भाषाओं के स्वच्छन्दतावादी काव्य में इस प्रकार के सपने मिलेंगे।

'लहर' की कुछ कविताएं दार्शनिक हैं और दार्शनिक भावनाओं को उपस्थित करती हैं। परन्तु 'प्रसाद' की विशेषता ने गहन भावों को भी सुन्दर काव्य का रूप दिया है। प्रकृति-सम्बन्धी गीतों में 'बीती विभावरी जाग री' गीत विशेष उल्लेखनीय है। यह 'प्रसाद' का अत्यन्त लोक-प्रसिद्ध गीत है। प्रकृति के अलौकिक स्पर्श से आत्मा में जागृति के जो छंद भर उठते हैं, उन्हें 'प्रसाद' ने सुना है। प्रकृति और जीवात्मा का इतना निकट तादात्म्य हमें अन्यत्र नहीं मिलेगा। 'प्रसाद' प्रकृति के मधुर रूपों की व्यन्जना करने में बड़े समर्थ हैं और 'लहर' की न जाने कितनी पंक्तियों में प्रकृति की बड़ी सुन्दर झाँकियाँ दिखलाई दे जाती हैं। प्रभात का चित्र है :—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे ! खुली है अभी-अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक-किरन पुलक रोमावलि मलयज बात,
लेते अंगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदु गात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला।

मलय को 'तारक-किरन पुलक रोमावलि' कहता है काव्य और कल्पना की कितनी सूक्ष्म उड़ान है कि साधारण मनीषा उसे ग्रहण ही नहीं कर पाती। प्रकृति के चित्रों की यह विविधता और सूक्ष्मता 'प्रसाद' के काव्य को अत्यन्त सुन्दर बना देती है।

'लहर' की एक अत्यन्त विशिष्ट सामाग्री उसकी चार मुक्त छंदों में लिखी ऐतिहासिक कथाएँ हैं—अशोक की चिंता, शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण, पेशोला की

प्रतिध्वनि और प्रलय की छाया । 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों और कथाओं से जो परिचित हैं उन्हें 'प्रसाद' की इन कविताओं में एक अत्यन्त परिचित चीज़ मिलेगी। कल्पना, कला, मूर्त्तिमत्ता और भाषा का जैसा ऐश्वर्य इन कविताओं में दिखाई पड़ता है, वह 'प्रसाद' के काव्य में भी अन्यत्र दुर्लभ है। ये रचनाएँ 'प्रसाद' की प्रतिभा के सम्बन्ध में हमें आश्वस्त करती हैं। 'पेशोला की प्रतिध्वनि और 'प्रलय की छाया' तो मुक्त छंद में लिखे 'गीति' जान पड़ते हैं। 'प्रसाद' की रचनाओं के किसी भी संकलन में उन्हें अनिवार्य रूप से स्थान देना पड़ेगा।

'कामायनी', (१९३६) यह 'प्रसाद' की सबसे महत्वपूर्ण रचना है। इस रचना में हम उनके तत्व-चिंतन और उनकी उत्कृष्ट काव्य-कला से एक साथ ही परिचित हो जाते हैं। जान पड़ता है, 'आँसू' (१९२५) के कुछ ही समय बाद 'प्रसाद' कामायनी की कथावस्तु की ओर आकर्षित हुए। 'प्रलय' कहानी (१९२५) और 'कामना' नाटक (१९२२) में हमें कामायनी के विषय और उसकी रूपकात्मक शैली की कुछ झलक मिल जाती है।

इस रचना के कई पक्ष हैं। कथा के मूल स्रोत के लिए 'प्रसाद' को ऋग्वेद शत पक्ष ब्राह्मण और अन्य अत्यन्त प्रचीन रचनाओं की ओर जाना पड़ा है, परन्तु वहाँ सम्पूर्ण कथा उन्हें नहीं मिली है। मनु की कथा लगभग प्रत्येक पुराण में मिलती है। परन्तु उस पर पौराणिकता की ही अधिक छाप है। काव्य के तत्व अधिक नहीं हैं। इसी से 'प्रसाद' को प्राचीनतम सूत्रों को लेकर कथा को नवीन ढंग से विकसित करना पड़ा है। इन सूत्रों में रूपश के रूप में भी इस कथा की व्याख्या हुई है। 'प्रसाद' ने अपने महाकाव्य में कथा-विकास के साथ रूपक की भी आयोजना की है और वस्तुत ! कामायनी का महत्व उतना कारण नहीं है, जितना काव्य-तत्व और कथा में अन्तर्हित उस रूपक के कारण है जिसके माध्यम से 'प्रसाद' आधुनिक जीवन के लिए एक संम्पूर्ण जीवन-दर्शन की योजना करते हैं।

कथा इस प्रकार है। महाप्रलय के बाद मनु बच रहते हैं। देव-संस्कृति का विध्वंस हो जाता है। उनका हृदय चिंता और जिज्ञासा से भर जाता है। यह प्राकृतिक प्रकोप क्यों ? क्या देव-संस्कृति के नाश के पीछे कोई दैवीय प्रेरणा है ? क्या देवों का उच्छृंखल आनन्दवाद पाप था ? प्रभात का उदय होने पर आशा का संचार होता है। जल-प्लावन भी समाप्त हो चला है। मनु स्वस्थ होकर नई संस्कृति के निर्माण की बात सोचते हैं। वह तप-रत हो जाते हैं तभी काम-गोत्र की कुमारी श्रद्धा से उनकी भेंट होती है। श्रद्धा उन्हें कठोर तपस्या से विरत करती है। मनु के मन में काम का संचार होता है। वह श्रद्धा के साथ रहने लगते हैं। 'वासना' और 'लज्जा' सर्गों में 'प्रसाद' ने दो प्रेमी हृदयों के आत्म-समर्पण का अत्यन्त सुन्दर और भाव-व्यंजक चित्र उपस्थित किया है।

यों मनु रहते हैं परन्तु उनकी देव-प्रकृति ने उन्हें शान्त नहीं रहने दिया। देव-संस्कृति में यज्ञ इत्यादि कर्म-काण्ड की प्रधानता थी। वह उसी की ओर लौटे। जल-प्लावन से बचे हुए दो असुर 'किलात' और 'आकुलि' भी आ गये। 'यह किसका यज्ञ है', ये ढूँढ रहे थे। पशु-बलि, सोमपान और मन्त्र-ध्वनि के साथ मनु ने जीवन का एक नया अध्याय खोला। परन्तु धीरे-धीरे वह श्रद्धा से दूर होने लगे। श्रद्धा का शान्ति, प्रेम और विश्वास का आँचल उन्हें बाँध न सका। वह जीवन की तप्त धारा का स्वाद चखने के लिए आतुर हो उठे। उधर श्रद्धा आसन्न-प्रसवा थी। वह अपने ही में लगी रहती थी। मनु में ईर्षा-भाव जागा और वह उससे भागे। नारी बन्धन है। पुरुष मुक्ति है। वह कब तक पंगु बना रहेगा?

परन्तु क्या मनु को शान्ति मिली? वह निरन्तर घूमने लगे। अंत में उजड़े सारस्वत प्रदेश के ध्वंसों में जा पहुँचे। इन खंडहरों ने उन्हें फिर चिंतक बना दिया। वह सोचने लगे—क्या उनकी सुख की खोज ठीक है? यह जीवन क्या है? क्या श्रद्धा का जीवन बुरा था? वहाँ कैसा विश्वास था, कैसी शांति? परन्तु जीवन का यह निष्क्रिय, सुख-दुःख निर्पेक्ष, स्थितिप्रज्ञ रूप उन्हें प्रिय नहीं था। वह काल-चक्र को अपने मन के अनुसार चलाना चाहते थे। वह सूर्य की तरह जलना चाहते थे। श्रद्धा की शान्ति उन्हें नहीं चाहिए।

यह तो ठीक है, परन्तु उन्हें श्रद्धा को छोड़ कर मिला क्या? केवल दुःख, केवल अवसाद! अब भी इस महान् अन्धकार में श्रद्धा के प्रेम की स्मृति ही एक आलोक-रेखा थी। विगत जीवन के धुंधले परन्तु सुन्दर चित्रों के अतिरिक्त जीवन को सहारा देने वाली चीज़ अब कौन रह गई थी?

परन्तु तभी इड़ा आती है और एक कर्मनिष्ठ, अहंवादी, विज्ञानमय जीवन का उत्साहप्रद और आशाजनक संदेश देती है। मनु उसके नेतृत्व को स्वीकार कर लेते हैं। उनका विषाद जाता रहता है। वह इड़ा को आत्म-समर्पण कर देते हैं। सारी सृष्ठि उन्हें अब नये रंगों में रँगी दिखाई देती है। इडा मन को भौतिक विज्ञानमय जीवन की ओर ले जाती है। यह जीवन बुद्धिवाद पर अश्रित है और यह मनुष्य के सिवा यह और किसी भी देवता को नहीं जानता। इडा कहती है:—

हाँ, तुम ही हो अपने सहाय,
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय,
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय,
यह प्रकृति परम रमणीक अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन,
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कस कर बन कर्म लीन,
सबका नियमन-शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता,

तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय,
यश अखिल लोक में रहे छाय।

यह स्पष्ट है कि यह आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का मार्ग है। मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करे और भौतिक साधनों की उन्नति कर एक नई विज्ञानमयी संस्कृति की नींव डाले। मनु के सहयोग से इड़ा सारस्वत प्रदेश के जीवन को बदल देती है। वह यंत्र-सभ्यता का केन्द्र बन जाता है। परन्तु श्रद्धा-विहीन विज्ञानाश्रित यंत्र-सभ्यता में संघर्ष अनिवार्य है। वहाँ अधिकारों की माँग पहले है, कर्तव्य और धर्म बाद की चीजें हैं। फल स्वरूप, सारस्वत प्रदेश की प्रजा में असंतोष बढ़ता है। उधर मनु का अहंभाव जाग्रत होता है। वह इडा के शरीर पर भी अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। भयानक वाह्य और अन्तर संघर्ष से जर्जरित मनु काल-चक्र के बीच में पिस जाते हैं। वह पशु-बल द्वारा प्रजा को दबा देना चाहते हैं और इस प्रयत्न में आहत होते हैं।

तभी मनु के बालक मानव को लेकर मनु को ढूंढते श्रद्धा वहाँ आ जाती है। वह स्वप्न द्वारा परिचालित है। उसने स्वप्न में मनु को आहत देखा है। वहाँ आकर वह देखती है कि मनु सचमुच आहत है। श्रद्धा का हृदय क्रन्दन कर उठता है। मनु ने भी आंखें खोलीं। युगों के बिछुड़े हृदय मिले। मनु के हृदय में पश्चाताप की भीषण झंझा बह रही थी। श्रद्धा ने स्नेह-वचनों द्वारा उसे शांत किया। परन्तु मनु के क्षोभ का अन्त नहीं था। प्रातः काल सबने देखा—मनु कहाँ चले गये। श्रद्धा मानव को इडा के पास छोड़ देती है और स्वयं मनु की खोज में निकल जाती है। घूमते-घूमते सरस्वती के किनारे तप-मुद्रा में उसे मनु के दर्शन होते हैं। मनु ने अपने ऊपर विजय प्राप्त कर ली है, परन्तु वह जीवन की विषमता का कोई समाधान अब भी नहीं ढूँढ सके हैं।

श्रद्धा के व्यक्तित्व के प्रकाश में मनु को जीवन के नये सत्य के दर्शन होते हैं। वह सारे ब्राह्मण्ड में आनन्द (नटराज) के ताण्डव-नृत्य की अनुभूति प्राप्त करते हैं। परन्तु वह जानते हैं स्वयं उस समरस भाव अथवा आनन्द तक पहुंचाने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। वह श्रद्धा से प्रार्थना करते हैं। वही उनका मार्ग-प्रदर्शन करती है और उन्हें अन्तस् के ऊँचे-ऊँचे स्तरों के दर्शन कराती है। मनु की इस आध्यात्मिक जाग्रति के बहुत सुन्दर चित्र 'प्रसाद' ने 'रहस्य' सर्ग में उपस्थित किये हैं। दाँते के 'डिवाइन कामेडिया' महाकाव्य में बीतरिस दांते का पथ-प्रदर्शन करती है। यहाँ कामायनी उसका स्थान ले लेती हैं। वह मनु को ज्ञान, कर्म और भाव-लोक (त्रिपुर) का दर्शन कराती हैं और अपनी स्थिति से इस त्रिपुर के विरोधी तत्वों को नष्ट कर देती हैं। ज्ञान, कर्म और भाव के विरोधी तत्वों के नाश होने पर ही आनन्द की समरस-भूमि दिखाई पड़ती है। यह मानव-जीवन की विडम्बना है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।

श्रद्धा की किंचित् स्मित से ही ज्ञान-कर्म भाव-भूमियों का विरोध दूर हो जाता है और एक नितांत नई दिव्य-भूमि की अनुभूति हो जाती है, जहाँ स्वप्न, स्वार्थ और जागरण भस्म हो जाते हैं, जहाँ भीतरी शक्तियाँ पूर्णरूप से सजग हो जाती हैं और साधक दिव्य अनहद-नाद सुनने लगता है । अन्तिम सर्ग में इडा और मानव श्रद्धा और मनु से मिलने आते हैं । मनु मानव को नये जीवन-दर्शन का उपदेश देते हैं । इडा और मनु देखते हैं सारे वातावरण में परिवर्तन हो उठा है । लगता है, सब जड़-चेतन एकाकार हो गया है—एक अखंड आनन्द कण-कण में ओतःप्रोत हो गया है । यही आनन्द तो मानव का लक्ष्य है ।

रूपक द्वारा कथा के छिपे संकेतों को भी पकड़ना होता है । श्रद्धा और इडा (बुद्धि) मनुष्य के जीवन के दो पक्ष हैं। इन दो पक्षों के बीच में मानव (या मनु) है । मानव श्रद्धा का सहारा लेकर चले । मनु आरम्भ में श्रद्धा के प्रति आत्म-समर्पण करते हैं, परन्तु श्रद्धा (हृदय तत्व) की सहज शक्ति को न समझ कर वह उससे ऊब जाते हैं । बुद्धिवाद, संकल्प और अपार कर्मण्यता का नया जीवन उन्हें आकर्षित करता है । 'इडा' सर्ग के छंदों में मनु के इस मनोवैज्ञानिक परिवर्तन को बड़ी कुशलता से उद्घाटित किया गया है । इस सर्ग में हमें मनु की जीवन-सम्बन्धी जिज्ञासा, उनके अवसाद, उनके कर्मवाद और इड़ा (बुद्धि) के द्वारा प्रेरणा-प्राप्ति के बड़े सुन्दर चित्र मिलते हैं । जीवन की रहस्यमयता और उसकी अपार क्षमता की अत्यन्त तीव्र अनुभूति इन छंदों में है । मनु का अन्तर्द्वन्द, उनका हृदय-पक्ष, श्रद्धा को छोड़कर इडा (बुद्धिपक्ष) की ओर बढ़ना—यही इस सर्ग का विषय है । उत्कृष्ट काव्य-तत्व और दार्शनिक चिंता का बहुत सुन्दर समन्वय इन छन्दों में मिलेगा ।

मनु की खोज मूलतः आनन्द की खोज है । अनेक प्रकार से वह इस खोज में लगते हैं । अकेला श्रद्धास्पद जीवन उन्हें पसन्द नहीं । इडा की ओर वह आकर्षित होते हैं और धीरे-धीरे इडा को पूर्णतयः अपनी बनाना चाहते हैं । फलतः संघर्ष होता है । अन्त में वह इडा को भी छोड़ देते हैं और तपस्या द्वारा एक नये जीवन-दर्शन की ओर संकेत करते हैं । वह ज्ञान (इडा), कर्म और भाव (श्रद्धा) के पूर्ण रूपेण संतुलन और शैवागमीय आनन्दवाद, समरसत्व और अद्वैतवाद में नये जीवन के अनुरूप एक दर्शन ही निकाल लाते हैं । 'रहस्य' और 'आनन्द' नाम के अन्तिम दो सर्गों में यह नया जीवन-दर्शन ज्ञान, भाव (हृदय) और कर्म के पूर्ण

रूपेण संतुलन पर आश्रित है परन्तु इस संतुलन-प्राप्ति के बाद भी कुछ करना शेष रह जाता है। वह है 'श्रद्धा' के नेतृत्व को स्वीकार करना। इसके बाद ही हृदय में सुख-दुःख-निर्भिन्नता (समरसता) की अनुभूति होती है और अन्त में अखंड आनन्द की झाँकी मिलती है। यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' न कोरी श्रद्धा चाहते हैं और न भौतिकतापूर्ण विज्ञानमयी सभ्यता के प्रति आत्मसमर्पण करते हैं। वह जीवन के अनेक उपयोगी तत्वों के पारस्परिक आदान-प्रदान में विश्वास करते हैं।

परन्तु 'कामायनी' की विचारधारा बहुत महत्वपूर्ण होने पर भी उसके काव्य-तत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'कामायनी' की उदात्त विचार-भूमि सबके लिए सुलभ काव्य-तत्व नहीं है, परन्तु कामायनी की प्रत्येक पंक्ति जिस मधु-रस से सिक्त है, वह सबके लिए आस्वाद्य है। सच तो यह है कि 'कामायनी' की दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा की चर्चा अध्ययन और अध्यापन का विषय है, परन्तु उसकी कविता जीवित-स्पंदित चीज़ है। हो सकता है, कविता में जिस दार्शनिक और मानसिक समन्वय की ओर इंगित किया है वह सबके लिए सुलभ न हो, परन्तु 'कामायनी' में 'प्रसाद' की काव्य-कला अत्यन्त उत्कृष्ट ढंग से उपस्थित हुई है। वह युगों तक मनुष्यों के हृदयों को मोहित करती रहेगी। संक्षेप में, इस काव्य-तत्व का परिचय देना भी असम्भव है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके निर्माण में छायावादी काव्य की सारी विशेषताओं ने भाग लिया है। 'कामायनी' में 'प्रसाद' ने शाश्वत मानवता के विकास के चित्र को साहित्य के रूप-रंग देकर उपस्थित किया है। सार्वभौम कल्याणकारी भावना से प्रेरित हो वह देश-काल-वर्ग-हीन मानव के लिए एक नई सभ्यता, नई संस्कृति और नये दर्शन का संकेत देने चले हैं। जीवन का मौलिक अन्वेषण और विश्लेषण कामायनी की सबसे बड़ी देन है। सब मानसिक तत्त्वों को सिमेट-बटोर कर भावी मानव के मंगल-सूत्र में गूंथ दिया गया है। नई मनोवैज्ञानिक भाषा में मानवता के विकास का यह रूपक हिंदी के आधुनिक काव्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। यह 'प्रसाद' की कवि-प्रतिभा के लिए निःसंदेह श्रेय की बात है।

## विकास-क्रम

'प्रसाद' की कविता में उसके विकास-क्रम की रूपरेखाएं एकदम स्पष्ट हैं। छायावादी काव्य के प्रवर्तक के नाते उनके काव्य को ऐतिहासिक महत्त्व भी प्राप्त है। 'इन्दु' और उनके काव्य के विकास-क्रम को समझना एक तरह से नये काव्य के जन्म और विकास की प्रतिक्रिया को समझना है। 'प्रसाद' के प्रारम्भिक प्रयोगात्मक काव्य का सम्बन्ध (१९०९—१९१६) से है। यह मासिक पत्र था और इसे स्वयं कवि के आग्रह से उनके भानजे अम्बिका प्रसाद गुप्त ने काशी से निकाला था। इस पत्र में

'प्रमाद' की प्रारम्भिक कविताएँ प्रकाशित हुई और इसके साम्पादकीयों और इतर लेखों में नई कविता के विषय में कुछ निश्चित धारणाएँ सामने आई। उनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी-काव्य एक बहुत बड़ी क्रांति लेकर चला था। कम-से-कम रीति-काव्य के वातावरण में इस नई कविता का बिगुल बजा देना बड़े साहस का काम था। वास्तव में मूल रूप से यह कविता रीति-काव्य और द्विवेदी-युग के काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में सामने आती है। रीति-काव्य का एक विशेष लक्ष्य था :—

**आगे के कवि रीझिहैं तौ कविताई होय,**
**नतु राधा कन्हाई सुमिरन को बहानौ है।**

मुख्य लक्ष्य था कविताई ( कवि-कर्म )। इसमें असफलता रही तो उसने उसे भक्ति-साधना कह दिया। 'एक पंथ दो काज'। द्विवेदी-युग की कविता का लक्ष्य था सुधार। अनेक नैतिक विषयों को कविता का जामा पहना दिया गया था। अतः कविता आह्लादिनी न रह कर 'जड़' मात्र रह गई थी। रीति-काल के कवि के लिए बंधन ही सब कुछ थे। वह तो सारा साहित्य और शास्त्र अध्ययन कर तब इस क्षेत्र में आता था। पग-पग पर वह नियमों और परम्पराओं से बँधा हुआ था। कवि-समय, कवि-प्रसिद्धियाँ, गुण-दोष—सैंकड़ों बंधन थे। द्विवेदी युग ने इन बंधनों को तोड़ा, परंतु उनकी जड़ता स्वयं उनका सबसे बड़ा बंधन बन गई। इसी से 'साहित्य के लिए कोई विधि या नियम नहीं है', सोलह-सत्रह वर्ष के युवक की बड़ी क्रांतिकारी खोज हुई। इससे भी बड़ी क्रांतिकारी खोज थी कवि के व्यक्तित्व के विषय में। रीति-काल और द्विवेदी-युग में कवि का व्यक्तित्व मर गया था। अन्तिम चरण में अपना उपनाम धर कर कवि जैसे अपने सारे व्यक्तित्व का बोझ भी सिर से उतार कर फेंक देता था। कोई भी उपनाम रख दीजिए, कविता की 'स्प्रिट' में कोई अन्तर नहीं आयेगा। इतना व्यक्तित्वहीन यह काव्य था। धीरे-धीरे कविता लिखना 'कर्म' मात्र रह गया। कवि उस कविता को अपनी कहे, उसमें अपना व्यक्तित्व भर दे, अपने सुख-दुःख की बात करे, राधा-कृष्ण के प्रतीकों को हटा दे, यह नई बात हुई। जहाँ नये युग का (छायावादी) कवि शृंगार-रस पूर्ण कविता (रीतिकाव्य) का विरोधी था, वहाँ उसे द्विवेदी युग की कविता की जड़ता में भी प्राणहीनता दिखाई पड़ती थी। इसके विरुद्ध उसने भावरस, उत्तेजना, ओज, संगीतमयता, शांति और आह्लाद को अपना लक्ष्य बनाया। रीति-काव्य में तो इन प्रवृत्तियों के दर्शन भी नहीं होंगे।

तीन और महत्त्वपूर्ण बातें इस कविता के विषय में कही गई हैं :—

(१) कविता का विषय—सत्य और सुन्दर। ये दोनों शब्द इतने अस्पष्ट, और इतने

भ्रामक हैं कि इसके कारण नया कवि सुन्दर रूपों और दार्शनिक गुत्थियों में उलझ कर रह गया।

(२) कविता का आदर्श—पश्चिमी साहित्य और उस साहित्य की मान्यताएँ। स्पष्ट ही कवि का तात्पर्य अंग्रेजी स्वच्छन्द काव्य (Romantic Poetry) से है। कवि ने अपने ऊपर एक महान् आदर्श को ओढ़ लिया है—"सत्य की प्रतिष्ठा और सौंदर्य को पूर्णरूप से विकसित करना।" वास्तव में सत्य को प्रतिष्ठित करना दार्शनिक का आदर्श है, कवि का आदर्श नहीं। इसी तरह सौंदर्य को पूर्ण रूप से विकसित करना कवि का आदर्श होते हुए भी बड़ा कठिन काम है। यह तो सन्त की तपस्या हुई।

(३) इस नई कविता की परख—'प्रसाद' ने इसके दो मापदण्ड माने है :— क) आनन्दमय हृदय (सहृदय, रसिक) पर इस काव्य का जो प्रभाव पड़े, (ख) स्वतन्त्र आलोचना (काव्य-परिपाटियों और काव्य-सिद्धांतों को अलग कर परखा जाय। मुक्त हृदय से, निर्बाध रूप से कवि या आलोचक उसके प्रभाव की विवेचना करे।) १६०६-१० में कविता के सम्बन्ध में इतने स्वतन्त्र, इतने प्रगतिशील, विचार कदाचित् किसी के नहीं रहे होंगे।

अतः स्पष्ट है कि अपनी काव्य-रचना के ३-४ वर्ष बाद ही 'प्रसाद' ने काव्य-सम्बन्धी कुछ अत्यन्त प्रगतिशील सिद्धांत बना लिये थे और इन्हीं के आधार पर उन्होंने एक नये काव्य की नींव डाली। पता नहीं, ये नये विचार इन्हें कहाँ से मिले। अंग्रेजी बँगला साहित्य के सामने इनके विचार रखे गये है, इनसे यह लगता है कि उन्होंने वासनामूलक रीतिकाव्य और गद्यात्मक जड़ द्विवेदी-काव्य के विरुद्ध अपने संस्कारों द्वारा इन्हें प्राप्त किया।

परन्तु कविता के सम्बन्ध में स्वतन्त्र भारत की दृष्टि से कुछ निश्चित सिद्धांत गढ़ लेना एक बात है और उसके अनुरूप काव्य-निर्माण करना कठिन बात है। यह बात उस समय और भी कठिन हो जाती है जब इस नये काव्य की न कोई परम्परा थी, न कोई नमूना। इसी से १६०६ ई०से १६१४ तक हम कवि को प्रयोग-कर्ता के रूप में पाते हैं। 'इन्दु की कविताएँ (१६०६-१६), कानन-कुसुम (१६१२), प्रेम-पथिक (१६१३) और महाराणा का महत्व (१६१४) उनके प्रारंभिक प्रयोग मात्र हैं।

सबसे पहले 'प्रसाद' ने भाषा ब्रज भाषा ही रखनी चाही। उस समय काव्य की लोकप्रिय भाषा वही थी। खड़ी बोली की कविता गद्यात्मक थी, रस का संचार वह नहीं कर पाई थी, अतः यह स्पष्ट था कि वह काव्य-भाषा के रूप में उतनी सफल नहीं थी जितनी ब्रजभाषा। उस समय का रसिक वर्ग यही सोचता था। 'इंदु' और 'कानन-कुसुम' की अधिकांश रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। 'इंदु' (१६०६) की दूसरी किरण में 'प्रेम-पथिक' प्रकाशित हुआ। यह ब्रजभाषा में ही था। कुछ

दिनों बाद इसे परिवर्द्धित करके स्वतन्त्र रूप से पुस्तकाकार छापा गया। तब भी वह ब्रजभाषा में ही रहा। फिर इसे परिवर्तित और परिवर्द्धित कर खड़ी बोली में ३९१ ३ ई० में सामने लाया गया। १९०९ के लगभग मूलरूप में ब्रजभाषा में लिखा जाकर यह इतना महत्वपूर्ण नहीं था, परन्तु १९१३ में जब यही खड़ी बोली में प्रकाशित हुआ तो इसने समसामयिक काव्य में एक युग परिवर्तन की सूचना दी। यह कथात्मक काव्य था। शायद अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ के काव्य से प्रभावित था, परन्तु विषय और उसकी निबंधात्मकता दोनों मौलिक होने के कारण जनता का ध्यान उसकी ओर गया। इनमें कवि ने 'प्रेम' की एक अभिनव परिभाषा उपस्थित की है :—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है
श्रांत भवन में टिक रहना,
किंतु चले जाना उस हद तक
जिसके आगे राह नहीं।

केवल इन्हीं दोनों पंक्तियों को सारे रीति-काव्य के वासना-मूलक शृंगार के समकक्ष रखा जा सकता था। कहाँ मृत्य और कहाँ स्वर्ग! आदर्श-शिथिल युग के लिए 'प्रसाद' का 'प्रेम-पथिक' नया संदेश लाया।

'प्रसाद' के प्रारम्भिक काव्य से हमें उन विशेष प्रवृत्तियों का पता लगता है जो उसके काव्य की विशेषताएँ हैं :

(१) प्रकृति के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण—'प्रसाद' के प्रारंभिक काव्य की प्रगति प्रकृति की ओर थी। यह इंदु (कला १, किरण) में प्रकाशित उनकी 'शारदीय शोभा' कविता से प्रकट होती है। 'कनक-कुसुम की अनेक कविताओं का विषय प्रकृति है; जैसे 'प्रभातिक-कुसुम', 'इन्द्र-धनुष', 'चन्द्रोदय', 'संध्यातारा'। ये सब कविताएँ ब्रजभाषा में हैं, परन्तु इन में नये स्वर स्पष्ट रूप से बोल रहे हैं। उदाहरण के लिए हम 'संन्ध्यातारा' को ही ले सकते हैं :—

कामिनी चिकुर भार अति घन नील
तामें मणिमय तारा सोहत सलील,
अनन्त तरंग तुंग माला विराजति
फेनिल गम्भीर सिन्धु निनाद बोहित
हरि कुहू में नाविक जिमि भयभीत
पीय पथ दर्शकहिं लखत सप्रीत
संसार तरङ्ग लखि भीत तिमि जन
निराश हृदय धारि संतापिय मन

शांति निशा महिषी को राजचिह्न रूप
तुमहिं लखत संध्या-तारा शुभ भूप

इसमें जो कल्पना-जन्य विलास है, वह न रीति-काव्य में मिलेगा, न द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक जड़ कविता में। परन्तु प्रकृति-सम्बन्धी भावना का विशेष विकास खड़ी बोली की प्रारम्भिक कविताओं में हुआ है। 'इन्दु' ('कला ४, खंड १, किरण १, १९१३ ) में 'भरत' शीर्षक कविता में 'प्रसाद' 'हिमालय' का वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

हिम गिरि का उत्तुगं श्रंग है सामने।
खड़ा बताता है भारत के गर्व को।
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में।
बनता है हिमलता कुसुम मणि के खिले,
पारिजात का ही पराग शुचि धूल है।
सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में,
सूर्यताप भी सदा सुखद होता यहाँ
हिमकर भी हैं खिले, विकल अरविन्द हैं।
कहीं नहीं है शोच, कहाँ संकोच है?
चन्द्र प्रभा में भी गल कर बनते नहीं
चन्द्रकान्त से ये हि:-खंड मनोज्ञ हैं।

'प्रसाद' ने पहली बार प्रकृति को हृदय की स्वच्छन्द भावनाओं के भीतर से देखा। अब तक प्रकृति प्रेमी-प्रेमिकाओं की क्रीड़ा-भूमि थी। वह विलास उपवन बनी हुई थी। उद्दीपन बिभाव के रूप में प्रकृति का वर्णन कविओं का प्रिय विषय था। परन्तु प्रेम के अतिरिक्त भी मनुष्य में कोई प्रवृत्ति हो सकती है, रीति काव्य के कवि इस बात को भूल गये थे। द्विवेदी-युग के कवियों ने प्रकृति को वस्तु-नाम वर्णन मात्र समझ लिया था। उनके हृदय से प्रकृति को अनेक परिस्थितियों में एकाकार होते पाते हैं। 'कानन-कुसुम'–संग्रह की 'प्रथम-प्रभात' शीर्षक कविता में इस नई प्रवृत्ति का आभास मिलता है। कवि प्रकृति को अपने अन्यतम भावों के माध्यम से देखता है :—

मनोवृत्तियाँ खगकुल सी थीं सो रहीं
अन्त:करण नवीन मनोहर नीड़ में,
नील गगन सा शांत हृदय भी हो रहा,
वाह्य आंतरिक प्रकृति सभी सोती रही,
स्पन्दन हीन नवीन मुकुल-मन तुष्ट था

अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरन्द से
कहा अचानक किस मलयानिल ने तभी
( फूलों के सौरभ से पूरा लदा हुआ )
आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमें
खुली आँख, आनन्द-दृश्य दिखला गया,
मनोवेग मधुकर-सा फिर तो गूँज से
मधुर-मधुर स्वर्गीय गान गाने लगा
वर्षा होने लगी कुसुम मकरन्द की
प्राण-पपीहा बोल उठा आनन्द में,
कैसी छवि ने बाल अरुण को प्रकट हो
शून्य-हृदय को नवल राग-रंजित किया,
सद्यः स्नान हुआ फिर उसी सुतीर्थ में
मन पवित्र उत्साहपूर्ण भी हो गया,
विश्व विमल आनन्द भवन-सा हो गया
मेरे जीवन का वह प्रथम प्रभात था।

'झरना' (१९२८) में 'प्रसा ' की १९१४–१७ का कविताएँ संग्रहीत हैं। 'कानन-कुसुम', 'झरना', 'लहर', तीनों नाम कवि के प्रकृति-प्रेम का आग्रह करते हैं। 'प्रथम-प्रभात' शीर्षक कविता इसमें भी है। कई नई प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। जैसे 'प्रवास-प्रभात':—

म्लान तारका गण की मद्यप मण्डली
नेत्रानिमीलन करती है, फिर खोलती,
रिक्त चषक-सा चन्द्र लुड़क कर है गिरा
रजनी के आपान का अब अन्त है,
रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये
घूंघट खोल उषा ने झाँका और फिर
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी।

इस कविता में कवि ने 'मद्यप-मंडली' का रूपक बाँध कर प्रभात में चन्द्र-तारा की अस्त-व्यस्तता का वर्णन किया है, पर वहाँ उर्दू-फ़ारसी काव्य का प्रभाव खुल पड़ा है। दूसरे पद में कवि ने उषा-प्रसंग को सुन्दर युवती के रूप में मूर्तिमान किया है, जो रजनी के उपकरण देखकर प्रसन्नता और ईर्ष्या से गर्वीली है। यह मूर्तिमत्ता (Imagery) नये काव्य का प्राण है। धीरे-धीरे कवि की प्रकृति-प्रेम की कवि-

ताओं में ऐश्वर्य और विलास का समावेश कर जाता है, परन्तु रीति-काव्य से अलग ढंग पर। 'होली की रात' शीर्षक कविता में कवि कहता है :—

**चाँदनी धुली हुई है आज**
**बिछले हैं तितली के पंख,**
**सम्हल कर मिलकर बजते साथ**
**मधुर उठती हैं तान असंख्य**
**तरल हीरक लहराता शान्त**
**सरल आशा-सा पूरित ताल**
**सिताबी छोड़ रहा विधुकांत**
**बिछा है सेज कमलिनी-जाल।**

इस कविता में लक्षणा का प्रयोग है। कवि कहना चाहता है :—"आज चाँदनी रात इतनी उज्ज्वल है कि लगता है जैसे तितली के पंख भी फिसल जायें। इस रात की नीरवता में गीत-वाद्य-ध्वनि की लहरें गूंज रही हैं। लगता है जैसे यह विश्व एक बड़ा सा हीरा हो और उसमें उज्ज्वल, पारदर्शी लहरें उठ रही हों। ताल जलपूरित है जैसे (कवि का) हृदय आशा से भरा हुआ है। चाँदी से किरनों की फुलझड़ी छूट रही है। ताल में कमलिनी का जाल बिछा है, जैसे सेज बिछी हो।" कुछ अन्य कविताओं में कवि प्रकृति के पीछे छिपे हुए किसी रहस्य को भी खोलना चाहता है। 'झरना' मे कवि कहता है :—

**मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी,**
**न है उत्पात, छटा है छहरी**
**मनोहर झरना**
**कठिन गिरि कहाँ विदारित करना**
**बात कुछ छिपी हुई है गहरी।**

इस प्रकार हम देखते है कि प्रारम्भिक काव्य में कवि ने प्रकृति सम्बन्धी दृष्टि-कोण में एक महान् क्रान्ति उपस्थित कर दी है।

**(२) नये विषय**

**(अ) अध्यात्म**

नया युग आध्यात्मिक साधना का युग नहीं था, परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि अध्यात्म इस युग की कविता का अत्यन्त लोकप्रिय विषय रहा। युग की साधारण प्रवृत्ति के यह बात इतनी विपरीत थी कि वर्षों तक नई कविता साधारण पाठकों की समझ में नहीं आती थी। कवि ईश्वर, जीव के सम्बन्ध में जो कुछ कहता था, वह युग-प्रवृत्ति के इतनी दूर पड़ता था कि उसकी खिल्ली उड़ाई जाने लगी थी।

'छायावाद', 'रहस्यवाद', 'रवि बाबू की जूठन' थोथा अध्यात्म इत्यादि कहला कर इस प्रकार का काव्य लांछित बना और लगभग एक युग तक यह लांछना बनी रही। थोड़ा बहुत अध्यात्म तो हिन्दू-जीवन के साथ लगा हुआ है ही। परन्तु जिस रूप में यह अध्यात्म पहले प्रकाशित हुआ था, उसमें अध्यात्म जीवन-साधन था, वाग्छल नहीं। सिद्ध, सन्त, सूफी और भक्त पहले साधक थे, फिर कवि। उनकी साधना ने उनके काव्य को विश्वास की दृढ़ भित्ति दी थी। उसे अस्वीकार करना असम्भव था। छायावादी कवि के जीवन के पीछे अध्यात्म-साधना नहीं हो सकती थी, यह स्पष्ट था। १६-१७ वर्ष की आयु के कवियों से अध्यात्म-साधना की आशा भी नहीं की जा सकती थी। फिर यह अध्यात्म, यह जीव-ब्रह्मवाद, यह रहस्यवाद कहाँ से आया? 'प्रसाद' के प्रारम्भिक काव्य से इसकी बहुत कुछ गुत्थियाँ खुल जाती है।

रवि बाबू की गीतांजलि (अंग्रेजी संस्करण, प्रकाशन-तिथि १९११ ई०) ने सारे संसार को चकित कर दिया था और वह सारे देश के अध्ययन और प्रशंसा का विषय बन रही थी। १९१३ के लगभग 'प्रसाद' के काव्य पर गीतांजलि का प्रभाव पड़ने लगा। इससे पहले की कविताओं में प्रेम और प्रकृति के सम्बन्ध में कवि का नया दृष्टिकोण मिलता है, परन्तु अध्यात्म कवि का विषय नहीं रहा। १९१३ की जुलाई और अगस्त की संख्याओं में 'नमस्कार' शीर्षक दो कविताएँ प्रकाशित हुईं। अंग्रेजी 'गीतांजलि' की अन्तिम कविता से इनको प्रेरणा मिली जान पड़ती है। जिस बंगला गीत का यह रुपान्तर है, वह है :—

**एकटि नमस्कारे**
**प्रभु एकटि नमस्कारे।**

'प्रसाद' ने कविता के अध्यात्म-भाव को ग्रहण कर लिया, परन्तु इसे हिन्दी-चिन्तन की भित्ति दे दी :—

**जिस मन्दिर का द्वार सदा उन्मुक्त रहा है**
**जिस मन्दिर में रंक नरेश समान रहा है**
**जिसका है आराम प्रकृति का कानन सारा**
**जिस मंदिर के दीप इन्दु, दिनकर औ तारा**
**उस मन्दिर के नाथ को**
**निरुपम निर्भय स्वस्थ को**
**नमस्कार मेरा सदा**
**पूरे विश्व-गृहस्थ को।**
**तप्त हृदय को जिस उशीर गृह का मलयानिल**
**शीतल करता शीघ्र दान कर शांति को अखिल**

जिसका हृदय पुजारी है रखता न लोभ को
स्वयं प्रकाशानुभव मूर्ति देती न क्षोभ को
प्रकृति सुप्रांगण में सदा
मधु क्रीड़ा कूटस्थ को
नमस्कार मेरा सदा
पूरे विश्व-गृहस्थ को ।

'गीतांजलि' का एक गीत है :—

जीवण जखन शुकाय जाय
करुना धाराय ऐसो ।

इससे यह कविता मिलाइये :—

जब प्रलय का हो समय ज्वालामुखी मुख खोल दे
सागर उमड़ता आ रहा हो, शक्ति साहस बोल दे
ग्रह-गण सभी हों केन्द्रच्युत लड़कर परस्पर मग्न हों
उस समय भी हम हे प्रभो तव पद्म पद में लग्न हों
जब शैल के सब शृंग विद्युतवृन्द के आघात-से
हों गिर रहे भीषण मचाते विश्व में व्याघात-से
जब घिर रहे हों प्रलय-घन अवकाश गत आकाश में
तब भी प्रभो ! यह मन खिंचे तव प्रेमधारा पाश में

(इन्दु, फ़रवरी, १९१४)

'कानन-कुसुम' और 'झरना' की कितनी ही कविताओं पर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में गीतांजलि का प्रभाव है। ऐसा कहने में हम 'प्रसाद' की मौलिकता पर कोई आक्षेप नहीं करते। गुजराती, मराठी, पंजाबी, सिंधी और दक्षिण भारत की भाषाओं पर भी गीतांजलि का प्रभाव पड़ा है। 'गीतांजलि' की प्रसिद्धि ही ऐसी थी, उसकी शैली मे कुछ ऐसा चमत्कार था कि उसके प्रभाव से उस समय बच सकना असम्भव था। कहीं-कहीं तो रवि बाबू की विचारधारा को भी उसी तरह अपना लिया गया है जैसे :—

जब मानते हैं व्यापी जल, भूमि में, अनिल में,
तारा शशांक में भी आकाश में अतल में,
फिर क्यों ये हठ है प्यारे मन्दिर में वह नहीं है
यह शब्द जो नहीं है उसके लिए नहीं है।

इसकी तुलना अंग्रेजी गीतांजलि के ११ वें गीत से की जा सकती है। इसी तरह इसी गीत के भाव को 'आदेश' शीर्षक-कविता में कवि रख देता है :—

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति,
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान ।
दुखी पर करुणा क्षण भर ही
प्रार्थना पहरों के बदले
हमें विश्वास है कि वह सत्य
करेगा आ कर तव सम्मान

इन कविताओं में जो भावधारा बही है वह इस प्रकार है—"पूजा-तपस्या सब व्यर्थ हैं। जो इस सृष्टि में व्याप्त है वही मनुष्य में भी व्याप्त है। इससे सब से बड़ी पूजा-तपस्या यह है कि दीन-दुखियों की सेवा की जाय। वह केवल मन्दिर में ही हो यह बात नहीं है।

फिर वह (परमात्मा) मनुष्य (जीवात्मा) से भिन्न भी तो नहीं है और न बहुत दूर ही है। जब लोग कहते हैं कि मनुष्य वंचक है, अपदार्थ है कंगाल है तो वे यह भूल जाते हैं कि 'गुप्तनिधियों' का रक्षक यक्ष उसके पास खड़ा है, उनकी मूर्खता पर हँस रहा है ('कुछ नहीं')। जब परमात्मा पास है, तो उसके धन से आत्मा धनी बनी रहेगी परन्तु उस यक्ष के नैकट्य का परिचय पाना तो कठिन है। जब तक मन में 'कामना' है, तब तक उसे कैसे पाया जा सकता है। कवि प्रार्थना करने बैठता है, परन्तु कामना के नूपुर की झंकार कान में गूंज जाती हैं और वह चमत्कृत हो जाता है (अव्यवस्थित) जब जीवात्मा इस 'कामना' के बंधन से ऊपर उठ जाता है, तो वह दिव्य मिलन के आनन्द को पाने लगता है। 'कानन-कुसुम' की अधिकांश प्रेम की कविताएँ लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक रूप देने की प्रवंचना में पड़ गई हैं। अतः दो पक्षों में घटाने के प्रयत्न के कारण अध्यात्म-सम्बन्धी कितनी ही कविताएँ अस्पष्ट हो गई हैं। यहाँ से 'रहस्यवाद' का आरम्भ होता है। 'प्रसाद' ने अपने निबंध में रहस्यवाद को 'भंगिमा' या शैली-मात्र माना है। इन कविताओं के अध्ययन से उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। वह मूलतः 'रहस्य' या आत्मा-परमात्मा' के कवि नहीं थे। परन्तु जब इस रूप में उनकी प्रसिद्ध हो गई तो वह चुपचाप इसे निभाते गये। 'प्रसाद' मूलतः प्रेम-विलास और सौन्दर्य के कवि हैं। उन्होंने आनन्द के आधार पर मानव-जीवन में सुखों-दुखों की व्याख्या की है। वह कलाकार कवि हैं। वह इस अर्थ में रहस्यवादी कवि नहीं हैं जिस अर्थ में हम कबीर, मीरा और महादेवी को रहस्यवादी कहेगे। 'झरना' की एक कविता में आधुनिक रहस्यवाद का सर्वोत्तम चित्र है। कबीर, दादू और मीरा इत्यादि

के काव्य में ऐसे चित्र मिलेंगे। अध्यात्मिक आनन्द के सुख का वर्णन करता हुआ कवि लिखता है :—

मिल गये प्रियतम हमारे, मिल गये
यह अलस जीवन सफल सब हो गया,
कौन कहता है जगत है दुःखमय
यह सरस संसार सुख का सिन्धु है,
इस हमारे और प्रिय के मिलन से
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा
कोकिलों का स्वर विपंची नाद भी
चन्द्रिका, मलयज पवन, मकरन्द औ
मधुप माधविका कुसुम सी कुंज में
मिल रहे सब साज मिलकर बज रहे
आज इस हृदयाब्धि में, बस क्या कहूँ
तुंग तरल तरङ्ग कैसी उठ रही— 'मिलन'

यह स्पष्ट है कि यह आध्यात्मिक साधना की कविताएँ 'गीतांजलि' का प्रभाव ही सूचित करती है। इनके पीछे साधना का बल नहीं है। वैसे उपनिषदों और संत-काव्य में इस प्रकार की भावनाएँ थी। परन्तु उपनिषदों का प्रभाव ब्रह्म-समाज के माध्यम से 'गीतांजलि' पर पड़ चुका था। संत-काव्य (विशेषतः कबीर और दादू के काव्य) की ओर हिन्दी प्रदेश का ध्यान एक दशक बाद गया। वास्तव में छायावादी काव्य के कई अंग हैं। उसके अध्यात्म-पक्ष के काव्य का अपना विशेष स्थान है और उसकी पारम्परा में 'गीतांजलि' के काव्य का अपना विशेष महत्व है और उसकी परम्परा 'गीतांजलि' से पहिले नहीं जाती। श्री राय कृष्णदास ने 'प्रसाद' के संस्मरणों को लिखते हुए लिखा है कि 'गीतांजलि' के प्रकाशन के कुछ दिनों बाद उसी से प्रभावित होकर उन्होंने कुछ गद्य-गीत लिखे। बाद को ये गीत मैंने लिखे हैं। सम्भव है, तुम्हें सुनाये हों, यह मित्रों पर ही हाथ सफा। 'प्रसाद' जी अत्यन्त सहृदय व्यक्ति थे। मित्रता के बीच में उन रचनाओं को उन्होने नहीं पड़ने दिया। कुछ रचनाओं को उन्होंने नष्ट कर दिया। शेष रचनाओं को उन्होंने पद्य का रूप दे दिया। कविताएँ 'कानन-कुसम' और 'झरना' की कविताएँ हैं। इस उदघाटन के बाद 'छायावाद' के अध्यात्म-पक्ष की कविताओं पर 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में विशेष उलझन नहीं रह जाती। बाद की रहस्यात्मक कविताओं पर चाहे और प्रभाव पड़े हों परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में इस प्रकार की रचनाओं का सूत्रपात 'गीतांजलि' के कारण ही हुआ। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी-काव्य को रवि बाबू का ऋण स्वीकार करना ही पड़ेगा।

(ख) करुणा ।

जीवन-ब्रह्म के रहस्यात्मक मिलन-वियोग के बाद भी छायावाद के कई नये विषय रह जाते हैं । इनमें एक महत्वपूर्ण विषय है करुणा या वेदना का । प्रारम्भ में इसका सम्बन्ध अध्यात्म-भावना से ही था । करुणा के द्वारा ही भगवान् भक्त के समीप आता है । एक ओर भक्त की विपदा है, भक्त की हीनता है, दूसरी ओर भगवान् की निःसीम करुणा । 'प्रसाद' कहते हैं :—

**तुम्हारी करुणा ने प्राणेश**
**बना करके मनमोहन वेश**
**दीनता को अपनाया**
**उसी से स्नेह बढ़ाया**
**अलसता लता बढ़ चली साथ**
**मिला था करुणा का शुभ हाथ ।**

यह तो हुआ आधुनिक काव्य के करुणावाद या वेदनावाद का अध्यात्म पक्ष । परन्तु स्वयं कवि के व्यक्तिगत दुःख क्लेश और योग की पराजयपूर्ण मनोस्थिति भी इसके लिए उत्तरदायी है । 'प्रसाद' को होश संभालते ही दुःखों से पाला पड़ा । १२ वर्ष की आयु (१६०१) में वह पितृहीन हो गये । चार वर्ष बाद (१६०४) उनकी स्नेहमयी माता की भी मृत्यु होगई । दो वर्ष बाद (१६०६) उनके ज्येष्ठ भ्राता भी गोलोक को प्राप्त हुए । सारा व्यापार चौपट होगया । सारा घर उजड़ गया । अनेक परिस्थितियों से लड़ते-झगड़ते अस्तित्व बनाये रखने का प्रश्न था । जब हम देखते हैं कि 'प्रसाद' को तीन बार विवाह करना पड़ा, दो पत्नियों की मृत्यु उन्हें देखनी पड़ी, तो हम यह स्पष्ट देखते हैं कि कवि के जीवन का एक बड़ा भाग विपत्ति भाग्य चक्र के बीच में से गुजरा । इसीसे बुद्ध के क्षणिकवाद (या दुःखवाद) से उन्हें प्रेम हो गया और अपने नाटकों में उन्होंने बार-बार इसी करुणा को समाधान के रूप में देखा (१६१३ ई० में) मानसिक संकटों से घबड़ा कर 'प्रसाद' कहते हैं :—

**ये मानसिक विप्लव प्रभो जो हो रहे दिन-रात हैं ।**

(करुणा-क्रन्दन, अप्रैल १६१३)

अगली ही संख्या में हम उन्हें वेदनात्मक काव्य की ओर झुका पाते हैं । 'दलित कुमुदिनी' एक उदाहरण है । 'हृदय-वेदना,' 'निशीथमयी' (एकांत में) आदि कविताएँ अन्य उदाहरण हो सकती हैं । दुख में भरे हुए कवि को सारा संसार ही छलावा दिखाई दिया, सब कुछ मृग-मरीचिका । 'करुणा-पुंज' की कविताओं में वह कहता है :—

**क्लांत हुआ सब अंग शिथिल क्यों वेष है**

मुख पर श्रम-सीकर का भी उन्मेष है
भारी बोझा लाद लिया, न सँभार है
छल-छालों से पैर छिले, न उबार है
चले जा रहे वेग भरे किस ओर को
मृग-मरीचिका तुम्हें दिखाती छोर को
किन्तु नहीं है पथिक ! वहाँ जल है नहीं
बालू के मैदान सिवा कुछ भी नहीं।

यहाँ 'छल-छालों' और भारी बोझ का जो उल्लेख है वह कवि के जीवन की परिस्थिति का फल है, उसमें अध्यात्म-साधना की कोई बात नहीं है। परन्तु हिन्दी काव्य में अपनी बात कहने की तो परम्परा थी ही नहीं। फिर इतने अन्यतम ढंग से तो अपनी बात किसी ने कही भी नहीं थी। फल यह हुआ कि इस प्रकार की वेदना-मयी कविताओं के पीछे भी अध्यात्म की प्रेरणा ढूँढी जाने लगी और कवि को अस्पष्टता के दोष से लांछित माना गया।

(ग) प्रेम : लौकिक।

अध्यात्म का अर्थ है पारलौकिक प्रेम। परन्तु लौकिक प्रेम भी कविता का महत्वपूर्ण विषय है। रीतिकाव्य में सामान्य रूप से प्रेम की चर्चा है। उसे 'प्रेम' नहीं 'रति' कहना चाहिए। उसमें स्त्री-पुरुष के अन्यतम सम्बन्ध को शास्त्र के माध्यम से देखा गया है। 'प्रसाद' ने पहली बार लौकिक-प्रेम का काव्य लिखा। अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों में इस तरह के काव्य की परम्परा थी और 'प्रसाद' इस परम्परा से प्रभावित हुए। वास्तव में 'प्रसाद' सौन्दर्य, प्रेम और विलास के कवि हैं। विनोद-शंकर व्यास ने इशारा किया है कि अपनी तरुणाई के दिनों में 'प्रसाद' किसी को प्यार करते थे, जीवन भर वह उपेक्षित रहे और इस व्यक्तिगत असफलता का वेदना-वाद के गढ़न में महत्वपूर्ण हाथ रहा है। जान पड़ता है १६१३ के लगभग यह प्रेमचक्र आरम्भ हुआ। 'इन्दु' कला ४ खंड १, किरण ५ में उनकी एक ग़ज़ल 'भूल' शीर्षक से प्रकाशित हुई थी। इसमें उर्दू ढंग से प्रेमी की असफलता और प्रेमिका की निष्ठुरता का वर्णन है :—

सरासर भूल करते हैं उन्हें जो प्यार करते हैं,
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते हैं,
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का
किसी से पूछ लेते हैं यही उपकार करते हैं।
जो उँचे चढ़के चलते हैं वे नीचे देखते पर हम
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते हैं।

न इतना फूलिये तरुवर, सुफल कोरी कली लेकर
बिना मकरन्द के मधुकर नहीं गुंजार करते हैं।
'प्रसाद' उसको न भूलो तुम, तुम्हारा जो कि प्रेमी है
न सज्जन छोड़ते उसको जिसे स्वीकार करते हैं।

इसके बाद 'आँसू' (१९२६) तक इन प्रेम-कविताओं की परम्परा बराबर चलती है। यहीं नहीं, लहर (१९३५) में भी इस प्रकार की कविताओं के दर्शन हो जाते हैं। प्रेम की पीड़ा के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति प्रगट होती है। प्रेम की पीड़ा छायावादी काव्य का विषय है और वह लौकिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर घटाई जा सकती है। कवि कहता है :—

मैं तो तुमको भूल गया हूँ
पा कर प्रेममयी पीड़ा।

उर्दू-कवियों के काव्य में इस दुःखवाद की परम्परा है। प्रेमी की वियोग की घड़ियाँ मिलन से अधिक प्रिय होती हैं। सच तो यह है कि 'प्रसाद' के प्रेम-काव्य पर शैली और विचारधारा, दोनों के विचार से उर्दू-फारसी की कविता का गहरा प्रभाव है। इस प्रभाव को समझे बिना उसे भली भाँति ग्रहण ही नहीं किया जा सकता। 'झरना' में वियोग-भावना अत्यन्त बलवती है। कवि-प्रेमिका की निष्ठुरता का वर्णन करता हुआ नहीं थकता :—

सुधा में मिला दिया क्यों गरल
पिलाया तुमने कैसा तरल
माँगा होकर दीन
कण्ठ सींचने के लिए
गर्म झील का मीन—
निर्दय तुमने यह क्या किया ?
सुना था, तुम हो, सुन्दर, सरल।

(सुधा में गरल)

एक अन्य कविता में कवि बताता है कि अतिथि रूप में प्रेम चुप-चुप हृदय में घुस गया, परन्तु जान पड़ा, वह 'नाहर' था, अतिथि नहीं था :—

उसको कहते 'प्रेम'
अरे, अब जाना—
लगे कठिन नख-रेख
तभी पहचाना—

कभी वह यह कहकर आश्वासन पा लेता है—'रे मन, न कर तू कभी दूर का प्रेम', कभी प्रियतम को अपने हृदय की शुद्धता परखने का दावा करता है—कभी मिलन-क्षण की याद करता है :—

**शुद्ध सुवर्ण हृदय है, प्रियतम**
**तुमको शंका केवल है।** (कसौटी)

कभी मिलन-क्षण की याद करता है :—

**नियत था—पर हम दोनों थे शान्त**
**वृत्तियाँ रह न सकीं फिर दाँत**
**कहा जब व्याकुल हो उनसे**
**मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?**

'होली की रात' शीर्षक कविता में कवि व्यंग करता है—उसके हृदय में जो होली जल रही है :—

**उड़ा दो मत गुलाल-सी हाय**
**अरे अभिलाषाओं की धूल,**
**और ही रंग नहीं लग जाय**
**मधुर मंजरियाँ जावें भूल—**
**विश्व में ऐसा शीतल खेल**
**हृदय में जलन रहे, क्या बात ?**
**स्नेह से जलती होली खेल**
**बना ली, हाँ, होली की रात।**

एक अन्य कविता (उपेक्षा करना) में कवि स्पष्ट ही इस लौकिक प्रेम का बात कहता है :—

**किसी पर मरना यही तो दुःख है,**
**'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है,**

'आँसू' भी विरह-जन्य वेदना का खंड-काव्य है। हिन्दी प्रेम-काव्य में इसका स्थान प्रमुख रहेगा, परन्तु यह उनके प्रारम्भिक काव्य में नहीं आता। यह स्पष्ट है कि लौकिक-प्रेम 'प्रसाद' की सबसे प्रमुख प्रवत्ति थी। उनकी प्रारम्भिक आध्यात्मिक कविताएं 'गीतांजलि' से प्रभावित है, परन्तु उनका प्रेम-काव्य उनकी अपनी चीज है। यह कवि का जीवन-इतिहास है। परन्तु पहले कुछ आध्यात्मिक गीतों से प्रभावित होकर जनता उनके लौकिक काव्य में पारमार्थिक अर्थ ढूँढ़ने लगी। फल यह हुआ कि कविता समझ में ही नहीं आई। इसमें 'प्रसाद' का कोई दोष नहीं था। इस अस्पष्टता ने नई कविता को उपहास का विषय बना दिया।

परन्तु 'प्रसाद' के काव्य में विषय की नवीनता ही नहीं थी, विचार की नई रेखाएं ही उन्होंने नहीं गढ़ी, उन्होंने इन विचारों के प्रकाशन के लिए नई शैलियों और नये छन्दों का निर्माण भी किया। इस विषय में उनके प्रारम्भिक काल की कविताएं और भी प्रयोगात्मक हैं। शैली के विषय में दो विशेषताएं हैं। १ कल्पना का आग्रह और २. लाक्षणिक प्रयोग।

१. कल्पना का आग्रह :—

१९०९ के लगभग 'प्रसाद' ने 'कल्पना' शीर्षक एक कविता लिखी है। कविता ब्रज-भाषा में है। कवि कल्पना के खेलों का वर्णन करता हुआ कहता है :—

**हे कल्पना सुखदान**
**तुम मनुज जीवन-प्रान**
**तुम विशद व्योम समान**
**तव अन्त नर नहिं जान**

अन्त में वह कल्पना के आनन्द का आह्वान करता हुआ कह रहा है :-

**तव शक्ति लहि अनमोल**
**कवि करत अद्भुत खेल**
**कहि दृग स्वविन्दु तुषार**
**गुहि देत मुक्ताहार,**
**तुम दान कर आनन्द**
**हिय को करहु सानन्द,**
**नहिं यह विषय संसार**
**तहँ कहाँ शांति बयार।**

(कला १, किरण ५)

इसके बाद ही 'साँध्यतारा' कविता में हम कवि के कल्पना-जन्य विलास का अद्भुत चमत्कार देखते हैं। इस कविता में संध्यातारा को वेणी में ग्रंथित मणि, अनन्त तरंग-सागर पर तैरता हुआ जहाज, और निशा-महिषी का राज्य-चिह्न कहा है। 'पंत' की 'पल्लव' की कविताओं में छायावादी कवियों के कल्पना-प्रेम का सबसे उत्कृष्ट प्रमाण पाते है। वहाँ तो कवि कल्पना-जन्य चित्रों का ढेर-पर-ढेर लगता चला जाता है। इतना बड़ा यह ढेर लग जाता है कि मन थक जाता है। इन चित्रों के चमत्कार में मन भले ही खो जाये, आलम्बन का रूप इतना धुँधला पड़ जाता है कि उसके संबंध में कोई जिज्ञासा शांत नहीं होती। कवि 'बापू' (गांधी जी) पर लिखे, या 'संध्यातारा' पर या 'शरद' पर, एक ही तरह की उपमाएं, एक ही तरह का कल्पना छल, एक ही शब्द-कोष। कल्पना के इस अतिरेक ने छायावादी-काव्य को खिलवाड़ बना डाला।

अनुकरण करने वालों को यही सबसे सरल लगी। फल यह हुआ कि छायावाद-काव्य में जितने कल्पना-चित्र हैं, उतने एक हज़ार वर्ष तक चलते हुए सारे हिंदी-काव्य में नहीं मिलेंगे।

लाक्षणिक प्रयोग :—

'प्रसाद' के प्रारंभिक काव्य से ही विशिष्ट भंगिमा की ओर उनका आग्रह झलकता है। वास्तव में प्रसाद' 'छायावाद' की व्याख्या करते हुए उसे अभिव्यंजना का एक रूप मान लेते हैं। उनके लिए यही उनका सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। वह लिखते हैं :—

"ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे। अभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म अभ्यान्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय अभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगे।" इस प्रकार 'छायावाद' को प्रधानतया शब्द, शब्द-भंगिमा और शैली क्षेत्र में एक क्रांति मानते हैं। इसे कविता का वाह्यांग कहें तो भी कुछ अनुचित नहीं होगा। इसके चार अंग थे :—

(१) नई पद-योजना

(२) नई शैली

(३) नया वाक्य-विन्यास ; जिनमें सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास हो और जो भावों में एक तड़फ उत्पन्न करदे।

(४) आभ्यन्तर भावों के लिए शब्दों की नवीन भंगिमा। 'प्रसाद' ने छायावाद के इसी बाह्य पक्ष की ओर अधिक बल दिया है। वह कहते हैं, "बाह्य उपाधि से हट-कर अन्तर्हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में वे पहले कम समझे जाते थे। किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ-द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का हाथ होता है। कार्य-बोध व्यवहार पर निर्भर है। शब्द-शास्त्र में पर्यायवाची और अनेकार्थवादी शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ चमत्कार का महात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए। ध्वनिकार ने इसी पर कहा है, "प्रतीयमानं पुनरन्य देववस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्'। अभि-व्यक्ति का यह ढंग निराला है और अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। इसी लिए प्राचीनों ने कहा :—

**मुक्ता फले षुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।**
**प्रति भाति यदंगेषु तल्लावण्य मिहोच्यते॥**

मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसे ही कांति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छिति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया है। 'कुन्तक' ने वक्रोक्ति से कहा है :—

**प्रतिभा प्रथमोद्भेद समये यत्र वक्रता।**
**शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते ॥**

शब्द और अर्थ की यह स्वभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कांति का सृजन करती है। इसके वैचित्र्य का सृजन करना ही विदग्ध कवि का काम है।

अभिव्यक्ति के इस नये ढंग की 'प्रसाद' ने प्राचीनों की उक्तियों के सहारे व्याख्या की है। उन्होंने बताया है, "यह कोई नई वस्तु नहीं। भारतीय काव्य- परंपरा में बराबर इसका प्रयोग रहा है और आनन्दवर्द्धन और कुंतक जैसे आचार्यों ने साहित्य-शास्त्रों में इसकी व्याख्या की है। कवि अर्थ से कुछ अधिक प्रगट करना चाहता है। इसके लिए वह एक नई शैली पकड़ता है। अर्थ से अधिक जो है, इसे प्राचीनों ने 'लावण्य', 'छाया', 'विच्छित्ति', 'वक्रता', 'वैदग्धमैत्री' नाम से प्रगट किया है। इसे ध्वनि भी कहते हैं। यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त रहती है। कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा के भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है यह वह नहीं है किन्तु यौवन के भीतर रमणी-सुलभ श्री वह आभूषण है, घूंघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अभिव्यक्ति के अनेक साधन उपलब्ध कर चुकी है। इस दुर्लभ छाया का संस्कृत-काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की थीं, किन्तु आंतर-अर्थ-वैचित्र्य को प्रगट करना भी इसका प्रधान लक्ष्य रहा था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं उन्होंने उपमाओं में भी आंतर-सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया। 'निरहंकार मृगांक', पृथ्वीगतयौवना', 'संवेदन मिवाम्बर', मेघ के लिए 'जनपदवधू लोचनैः पीयमानः' या कामदेव के कुसुम शर के लिए 'विश्वसनीयमाधुर्य'—ये सब प्रयोग बाह्य-सादृश्य से अधिक आंतर सादृश्य को प्रकट करने वाले हैं।" "इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक है।" "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार के लाक्षणिक काव्य का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'आँसू' (१९२५-३३) है। यद्यपि झरना की कविताओं में १९१७-१९ के आस-पास 'प्रसाद' ने अपनी

इस नई शैली का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' ने लाक्षणिक शैली के ये उपकरण माने हैं :—

(१) शब्दों के नवीन सार्थक प्रयोग।

(२) (छायामयी वक्रता के लिए) सर्वनामों का प्रयोग जैसे "वे आँखें कुछ कहती हैं।"

(३) वैदग्ध्यमय वाग्भंगी (शब्द और अर्थ की वक्रता) जिसके द्वारा अर्थ-वैचित्र्य और चमत्कार की सृष्टि हो।

(४) आतर स्वरूप-प्रधान उपमाओं का प्रयोग। अलंकार के भीतर आने पर भी ये उपमाएँ उनसे कुछ अधिक है।

(५) प्रतीकों का प्रयोग। 'गीतिका' की भूमिका में 'निराला' के काव्य की व्याख्या करते हुए 'प्रसाद' ने लिखा है कि प्रत्येक युग की कविता अपने लिए अलग प्रतीक चुन लेती है। छायावादी-काव्य में प्रतीकों का प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि वे इस पृथ्वी की चीज नहीं रहे। अनेक नये प्रतीक आये। कुछ पुराने प्रतीक भी रहे जैसे अभिसार, मिलन, विरह। संत-काव्य में इनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। आत्मा-परमात्मा के मिलन-वियोग का वर्णन करते हुए कवि इसी प्रतीक-शैली का सहारा लेते थे। 'इंदु' (१९१४) में 'खोलो द्वार' शीर्षक 'प्रसाद' की कविता प्रकाशित हुई है :—

**शिशिर कणों से लदी हुई कमली के भीगे हैं सब तार**
**चलता है पश्चिम का मारुत लेकर भी बरफों का भार**
**भीग रहा है रजनी का भी सुन्दर कोमल कबरी-भार**
**गरम किरण-सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम खोलो द्वार**
**धूल लगी है काँटे जैसी, पग-पग पर था दुःख अपार।**
**किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार**
**डरो न प्रियतम धूलि-धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार**
**धो डालेगी इनको प्रियवर इन आँखों आसू की धार।**

'संत-काव्य' 'भक्ति-काव्य' और 'रीति-काव्य' तीनों में इस अभिसार की परंपरा है। संत-काव्य में आत्मा परमात्मा के प्रति अभिसार करती है। भक्ति-काव्य में राधा-कृष्ण के अभिसार का प्रिय विषय रहा है। रीति-काव्य में केन्द्रीय भावना का ही अभिसार है :—

**दृगन में भाले परैं, पगन में छाले परैं**
**तऊ लाल लाले परैं रावरे दरस के**

यह भाव बार-बार रीति-कविता में आता है। परन्तु प्राचीन काव्य में इस भाव को समझने में कोई दुविधा नहीं है। नये कवियों से इस अभिसार की आशा नहीं की

जाती थी। वे तो रीति-काल के विरोध में एक नई काव्य-रीति खड़ी कर रहे थे। इसी से जनता इस 'अभिसार' की बात को समझ नहीं सकी।

छंदों में नवीन प्रयोगों की बात कहनी ही नहीं है। खड़ी बोली हिंदी की कविता का प्रारम्भ हरिश्चन्द्र ने किया, श्रीधर पाठक ने कवित्त-सवैया के अतिरिक्त कुछ नये छंद इस काव्य में जोड़े, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध ने अनेक प्रयोग किये। परन्तु १९१३-१४ तक (जब 'प्रसाद' क्षेत्र में आये) छंदों की जड़ता बनी हुई थी। नये भावों के प्रकाशन के लिए नये-नये छंदोका आयोजन नहीं हो रहा था। 'इंदु' काल (१९०९-३६ में 'प्रसाद' ने कितने ही नये छंदों को अपनाया। गज़ल चतुष्पदी (सानेट) सम्बोधनात्मक गीति (Lyric), त्रिपदी (बंगला-छन्द) अतुकान्त भिन्नतुकान्त, पयार (बंगला-छन्द, इत्यादि छन्द अपनाये। 'चौपाई' (१६ मात्रा) के तो अनेक नये प्रयोग हमें मिलते हैं। असम-मात्रिक और विषम-मात्रिक छन्दों के बहुत से प्रयोग हमें 'झरना' (१९१४-१७) में मिल जायेगे। सच तो यह है कि 'छायावादी' कवियों ने पहली बार खड़ी बोली के छन्दों को प्राण दिये। उन्हें जीवन-रस से युक्त सिद्ध किया। कहाँ द्विवेदी-युग के जड़, गतिहीन और उल्लहास-शून्य छन्द, और कहाँ नये कवियों की संगीतमयी पद-योजना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२६ ('आँसू' के प्रकाशन की तिथि) तक 'प्रसाद' नये काव्य (छायावाद) की रूपरेखा स्थिर कर चुके थे। इस नये काव्य की कुछ विशेषताएँ थी :—

(१) विषय-जन्य विशेषताएँ।
- (क) आध्यात्मिक-प्रेम।
- (ख) प्रेम की रहस्यमयता।
- (ग) पीड़ा का महत्व-गान।
- (घ) कथा-काव्य के प्रति प्रेम।
- (ङ) प्रकृति-प्रेम।
- (च) वेदना की प्रधानता।

(१) जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण।
(२) लघु और उपेक्षित जीवों और व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति।
(३) दुःख और वेदना की अनुभूति।
(४) व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का वास्तविक उल्लेख।
(५) संकीर्ण संस्कारों के प्रति विद्रोह।
(६) मनुष्य की दुर्बलताओं का सहानुभूति-पूर्ण चित्रण।
(७) व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अवस्था और सामाजिक रूढ़ियों की परख

(८) स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि

(२) शैली-जन्य विशेषताएँ।

(क) स्वानुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति(व्यक्तिवाद)

(ख) भावों की सूक्ष्म व्यंजना।

(ग) काव्य में नाटकीयता का प्रयोग।

(घ) लाक्षणिकता (आभ्यन्तर वर्णन के लिए शब्दोंकी नई भाव-भंगिमा।

(ङ) कल्पना का उद्रेक।

(च) नया वाक्य-विन्यास जिसमें सूक्ष्म अभिव्यक्ति का आभास हो और जो भाव में एक तड़फ उत्पन्न कर दे।

(३) छन्दगत विशेषताएँ।

(क) अनेक नये छन्दों का प्रयोग।

(ख) गीतात्मकता।

ये सब विशेषताएँ 'प्रसाद' के प्रारम्भिक काव्य (१९०६–१४) में ही पुष्ट हो जाती हैं। इसके बाद उनका आँसू-काल (१९२४–६) आरम्भ होता है। 'आँसू' इस विकास का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। १९२६ ई० में 'आँसू' पहली बार प्रकाशित हुआ। छायावादी काव्य की यह पहली लोकप्रिय चीज है। १९३३ के दूसरे और १९३९ के तीसरे संस्करणों में यह आज प्राप्त है। यह उसका प्रौढ़तम रूप है। कवि बार-बार परिवर्तन-परिवर्द्धन करता गया है। 'आंसू' में कोई कहानी नहीं, केवल कहानी का आभास मिलता है। इसलिए अर्थ अस्पष्ट ही रह जाते है। जहाँ काव्य की वीथिका और लेखक की मनोभूमि के सम्बन्ध में भी अटकल लगानी पड़ती है, वहां ही दशा होती है। कवि ने किसी से प्रेम किया है, यह सच है।

यह प्रेम-व्यापार अनेक परिस्थितियों में अनेक दिनों तक चलता रहता है। परन्तु सहसा यह समाप्त हो जाता है। कदाचित् किसी कारण से प्रेम-पात्र ने 'प्रेमी' को अपनाना छोड़ दिया। जहाँ मिलन-सुख की तरंगें थी, वहाँ विरह की तप्त झंझा चलने लगी। 'आँसू'-काव्य इसी विरह-कथा का आधुनिक रूप है।

पहले संस्करण में 'आँसू' विशुद्ध प्रेम-काव्य है। उसका विषय है लौकिक-प्रेम परन्तु दूसरे-तीसरे संस्करणों में अनेक नये छंद जोड़कर उसे आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, जिससे पाठक की उलझन और भी बढ़ जाती है। 'प्रसाद' के इस प्रेम-काव्य को समझने के लिए बड़ी कठिनाई यह है कि वे उर्दू-फारसी के काव्य से काफी प्रभावित थे और उनकी संस्कृत-गर्भित भाषा और लक्षणा से प्रभावित पाठक यह रहस्य जान नहीं पाता। इसका फल यह होता है कि सारा काव्य ही अस्पष्ट हो जाता है। उर्दू-साहित्य के इस प्रभाभ ने 'आँसू' को अस्पष्ट बना

दिया है। बात कहने की लाक्षणिक शैली में जो अस्पष्टता आ जाती है, उसे हटा देने पर इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि अधिकांश काव्य उपालम्भ मात्र है। प्रेमी-प्रेमिका के मिलन-दिन कितने सुख के दिन थे। विरह के दिनों में उनकी स्मृति उठती है और प्रेमी कवि व्याकुल हो उठता है। वे प्रभात, वे सायं, बे चांदनी की धुली हुई रातें कहाँ। अब तो एकाकी जीवन बिताना है, अकेले तारे गिनना है अन्त में उपालम्भ देते-देते कवि थक जाता है। इस विचार से उसे शान्ति मिल जाती है कि समय आयेगा तब यह दुख भी भुला दिया जायगा। वह सोचता है—यह तो मानव-जीवन है। इसमें विरह-मिलन का क्रम चलता रहता है। सुख-दुःख विरह-मिलन ये दोनों तो मन के खेल हैं। अतः हताश होना कैसा! समय का प्रवाह दुःख-सुख के आवर्त्तो-निवर्त्तो के ऊपर एक महान् शांति चक्र की भांति बहता रहता है। यह दार्शनिक निस्पृहता उसे शक्ति देती है। वह निश्चेतन रहकर उस दिन की प्रतीक्षा करने लगता है जब मन निःस्पृह भाव से सुख-दुख से ऊपर उठ जायेगा। उस समय प्रेमी के मन को शांति प्राप्त होगी, वेदना की झंझा रुक जायेगी और तब यही विच्छेद अनन्त-मिलन में बदल जायेगा।

'लहर' (१९३५) और 'कामायनी' (१९३७) 'प्रसाद' की अन्तिम रचनाएँ हैं। 'आँसू' ने एक नई मूर्तिमत्ता, एक नई कल्पना-विश्वास, एक नूतन तथा स्वतन्त्र्य दिशा की ओर संकेत किया था। 'लहर' और 'कामायनी' इन्हीं प्रवृत्तियों की श्रेष्ठतम परिणति हैं। 'लहर' में जयशंकर 'प्रसाद' की प्रौढ़तम प्रगतियों और कुछ मुक्त छन्दों का संग्रह है। यह संग्रह कवि को प्रौढ़तम रूप में हमारे सामने रखता है। इस समय कवि 'कामायनी' को समाप्त कर रहा था। इस संग्रह की कविताओं को भली भाँति समझ लेने पर हमें 'प्रसाद' की सभी प्रवृत्तियाँ सुन्दर ढंग से समझ में आती है 'लहर' की कविताओं की चार दिशाएँ हैं—(१) रहस्यवाद (२) प्रकृतिवाद (३) करुणा (४) कथा। 'अशोक की चिन्ता', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण' और 'प्रलय की छाया' चार कथात्मक कविताएँ हैं। इन सब कथाओं का मूल स्रोत ऐतिहासिक है। इस श्रेणी की कविताएँ आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कम हैं। 'निराला' का 'शिवाजी का पात्र' इसी श्रेणी की कविता है। इन कविताओं की विशेषता उनके विषय से सम्बन्धित नहीं है। वे मानसिक और कलात्मक चित्रण के लिए महत्वपूर्ण हैं। इन कविताओं का हिन्दी साहित्य में एक विशेष स्थान रहेगा। यह तो हुई प्रथम प्रवृत्ति। शेष तीनों प्रवृत्तियाँ प्रारम्भिक काल से बराबर पुष्ट और स्वस्थ होती चली आ रही हैं। यहीं कवि शुद्ध रहस्यवादी भूमि पर प्रतिष्ठित होकर जीव-ब्रह्म की लुका-छिपी को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रखता है, कहीं प्रियतम की आँख मिचौनी और उसकी आतुर अपलक प्रतीक्षा उसे पागल बना देती है, कहीं करुणा

और वेदना को ही जीवन का सबसे बड़ा सत्य मानकर कवि उन्हीं में लीन हो जाता है। 'आँसू' के बाद 'लहर' 'प्रसाद' का सबसे सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है। इसकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ विलास और ऐश्वर्य की वह झाँकी सामने रखती हैं जो 'प्रसाद' ने अपने बचपन में देखी थी। कवि देखता है, उसका सोने का संसार खो गया है। उसे लगता है, प्रकृति का वैभव उसके लिए जीवन का वरदान नहीं लाता। लगता है, जैसे 'प्रसाद' का व्यक्तित्व इन रचनाओं में तद्रूप हो गया हो। 'प्रसाद' विलास, ऐश्वर्य और मादकता के कवि हैं। उन्होंने अतीत के टूटे हुए स्वप्न और विलासमय रंगों में रंगी सायं-प्रात का विषद चित्रण किया है। स्वयं अपने में निमज्जित हो, कालिदास और रवीन्द्रनाथ के प्रेम-विलास और रहस्य की मादक कल्पना को उन्होंने अपनाया है और उसे सोने के पत्रों में सजा कर रखा है। कला की ये विलास से सँवारी रूप-रेखाएँ जन-काव्य की श्रेणी की चीजें नहीं परन्तु एक विशेष वर्ग की, एक विशेष श्रेणी के काव्य का अन्यतम रूप हैं।

अन्त में हम देखते हैं कि 'इन्दु' (१९०९) से लेकर 'कामायनी' (१९३६) तक 'प्रसाद' ने जो काव्य लिखा वह अधिक नहीं, परन्तु जब हम उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्य को बड़ी सावधानी से बनाया-सँवारा है, इतनी बड़ी साधना कदाचित् किसी आधुनिक कवि को नहीं करनी पड़ी। 'साधना' से हमारा तात्पर्य कला और विचार (चिंतन) की साधना से है। कहाँ 'भारतेन्दु' में प्रकाशित ब्रजभाषा की वह तुकबंदियाँ और कहाँ 'कामायनी' का हिमचुम्बी ऐश्वर्य! इस कवि ने नई भाषा गढ़ी, नई शैली का आविष्कार किया, अनेक नये छन्द बनाये और नये भावों, नये विचारों, नये दृष्टिकोणों को रस देकर काव्य-भूमि में उतारा। उपन्यास, कहानी और नाटक के क्षेत्र में भी 'प्रसाद' की सार्वभौमिक प्रतिभा ने बहुत कुछ दिया,—सच तो यह है कि उन्होंने नये साहित्य के प्रत्येक अंग में क्रान्ति को जन्म दिया। परन्तु इन क्षेत्रों में और-और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। काव्य के क्षेत्र में तो वह अकेले ही थे। 'पंत' और 'निराला' कुछ बाद में आये। उन्होंने इतनी नई प्रवृत्तियाँ नहीं चलाईं, 'प्रसाद' द्वारा चलाई हुई प्रवृत्तियों को ही अपनी प्रतिभा का बल दिया। 'निराला' में विद्रोह का तेज अधिक है, 'पंत' में अलंकृत सज्जा विशेष है। परन्तु नये काव्य के प्राण तो 'प्रसाद' ही हैं। उनमें बंगालीपन नहीं है, अंग्रेज़ीपन नहीं है, वह नये काव्य के विष्णु हैं। 'निराला' ने रुद्र की तरह तीक्ष्ण प्रहार कर जो पुराना था उसे तोड़-फोड़ कर जनता को चकित कर दिया, 'पंत' ने अनेक नये काव्य-लोकों को जन्म दिया, परन्तु पच्चीस वर्ष तक नई प्रवृत्तियों का पोषण 'प्रसाद' की प्रतिभा को ही करना पड़ा।

इस आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा का पूर्ण विकास कामायनी में

देखने को मिलता है। यह महाकाव्य जहाँ एक ओर रामचरितमानस के बाद महाकाव्य-परम्परा को फिर से स्थापित करता है, वहाँ दूसरी ओर छायावादी-काव्य की गीति-प्रधान, लाक्षणिक कविता का भी प्रतिनिधित्व करता है। पूर्व के काव्य में तो इस तरह की कोई चीज़ है ही नहीं, पश्चिम के काव्य में भी इस श्रेणी की चीजें कम मिलेंगी। गेटे का 'फास्ट' और हार्डी का 'डाइनेस्ट' शैली और विचार-धारा की प्रौढ़ता की दृष्टि से इन रचनाओं से समानता रखते हैं। स्वयं 'प्रसाद' जी के काव्य में 'कामना' (१९२७) इसी श्रेणी का नाटकीय प्रयोग है। 'कामना' में 'प्रसाद' ने आधुनिक वित्त-प्रधान मशीनी सभ्यता पर व्यंग किया है। इस मशीनी-सभ्यता के विरुद्ध उन्होंने कृषि-प्रधान सभ्यता की आवाज उठाई हैं। 'एक घूंट' में उन्होंने औपनिषदिक आश्रमों की सभ्यता की ओर इशारा किया है। परन्तु इन समाधानों से उनकी तुष्टि नहीं हुई जान पड़ती। आधुनिक मशीनी-सभ्यता इतनी हलकी नहीं है कि उसे सहज में ही उड़ाया जा सके। इसीलिए 'कामायनी' में 'प्रसाद' को और ऊपर उठकर चिंतन के आधार पर नया समाधान उपस्थित करना पड़ा। उन्होंने आधुनिक विज्ञानवाद को 'कर्मवाद' माना है। ज्ञान, कर्म और भाव के समन्वय में ही जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि सम्भव समझी है। इसी से 'कामायनी' लिखने की आवश्यकता उन्हें जान पड़ी। तीनसौ वर्ष पहले तुलसी ने रामाश्रित भक्तिमय जीवन के आदर्श को हिन्दी प्रदेश की जनता के सामने रखा था, तब से भारतीय जीवन पर अनेक प्रभाव पड़े। पश्चिम की सक्रिय कर्म-प्रधान ऐहिकता से संपर्क बढ़ा। एक नये जीवन-दर्शन की पुकार हुई। आधुनिक युग में दयानन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, गाधी और जवाहरलाल इत्यादि महापुरुषों ने नई परिस्थितियों के अनुसार नये जीवन-दर्शन गढ़ने के प्रयत्न किये। अपने साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द और 'प्रसाद' इस ओर अग्रसर हुए। 'कामायनी' की महत्ता यही नया जीवन-दर्शन है। 'प्रसाद' का सारा काव्य इस नये दर्शने की भूमिका है।

## काव्य-समीक्षा

'प्रसाद' के काव्य से हिन्दी के स्वच्छन्दतावाद के आन्दोलन का आरम्भ होता है। सरस्वती (१९००-१९१०) और मुकुटधर पांडेय (१८९५-१९१८) की बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रकाशित कुछ कविताएँ इस आन्दोलन की सूचना देती है, परन्तु आन्दोलन का पहला उन्मेष हमें 'प्रसाद' की रचनाओं में ही मिलता है। 'इन्दु' (१९०९-१९१६) में प्रकाशित रचनाओं में ही वह चौराहे पर खड़े दिखाई देते हैं। उन्होंने भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग की काव्य-धाराओं में ब्रजभाषा और खड़ी बोली में योग दिया। ब्रजभाषा-काव्य में नये काव्य-विषयों की अवतारणा उन्हीं की

सूझ थी। शोक है, इस दिशा में वह पूर्णतयः सफल नहीं हो सके। ब्रजभाषा रीति-काव्य की प्रचीन रूढ़ियों से ही चिपटी रही। द्विवेदी-युग की कविता में काव्य अधिक नहीं था। कवि कर्मी मात्र रह गया था। 'प्रसाद' ने पहली बार निर्वैयक्तिकता के बंधन को तोड़ दिया। उनकी वाणी में उनका अपना जीवन सौ-सौ छन्दों में फूट पड़ा। कवि ने अपनी अनुभूति को शत प्रति-शत सच्चाई के साथ उपस्थित करना चाहा। इससे उसका विषय सीमित अवश्व हो गया और वह आत्म-स्थित बन गया। उसने अपने व्यक्तित्व को ही सब कुछ समझ लिया। परन्तु जहाँ काव्य में व्यत्तित्व की भी छाप वर्जित थी, वहाँ यह व्यक्तिवाद बहुत गड़ी चीज थी। विषय के अनुरूप कवि की शैली भी बदली, उसमें ऐसे तत्वों की प्रधानता होगई जो व्यक्तित्व पर आश्रित हैं। स्वानुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति, भावों की सूक्ष्म व्यंजना, नाटकीयता का प्रयोग, लाक्षणिकता (आभ्यन्तर वर्णन के लिए शब्दों की नहीं भाव-भंगिमा), कल्पना का उद्रेक और नये ढंग का वाक्य-विन्यास जिसमें सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास हो और जो भाव में एक तड़प उत्पन्न कर दे—ये सब नई शैली के महत्वपूर्ण तत्व बन गये। नये शब्दों की भी खोज हुई और इस दिशा में अनेक नये प्रयोग भी हुए। 'प्रसाद' का प्रारम्भिक काव्य इन प्रयोगों से भरा हुआ है। भाव व्यंजना पर वल देने के कारण काव्य में गीतात्मकता का समावेश होगया और धीरे-धीरे कविता चित्रमय संगीत बन गई।

नये काव्य की सबसे बड़ी क्रांति छन्दों और भाषा के क्षेत्र में नहीं थी। सबसे बड़ी क्रांति काव्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित थी। नये काव्य में सौन्दर्य के सम्बन्ध में एक नई दृष्टि विकसित हुई। नारी-सौन्दर्य, कला के सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य को लेकर जो लिखा गया, वह परिपाटीबद्ध तनिक भी न रहीं। प्राचीन कवियों ने नारी-सौन्दर्य को 'कच-कुच-कटाक्ष' के भीतर से देखा था और वह स्वयं अपने उपमानों में खो गये थे। नये कवियों ने स्त्री के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि विकसित की और उसके सौन्दर्य से 'मन-नयन-प्राण' को पवित्र करना चाहा। उन्होंने प्रेम की रहस्यमयता के गीत गाये और उसे वासना के गहन गर्त से उठाकर स्वर्गीयता के उच्चासन पर सुशोभित किया।

परन्तु कवि यहीं नहीं रह गया। उसने पीड़ी के गीत गाये और आध्यात्मिक प्रेम की तीक्षाप्ता का अनुभव किया। उसके काव्य में वेदना के स्वरों की प्रधानता हो गई। उसने जहाँ व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का स्पष्ट उल्लेख किया वहाँ मनुष्य की दुर्बलताओं का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण भी उपस्थित किया और उपेक्षितों और पीड़ितों को काव्य का विषय बनाया। सच तो यह है कि नये काव्य में कवि की मानवता और सहृदयता का विस्तार हुआ। 'पंत' ने ठीक ही कहा है :—

धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान ।

काव्य की परम्परागत जड़ता समाप्त होगई और उसने उन्मुक्त आकाश की रहस्यमयी नीलिमा का स्पन्दन जाना ।

'प्रसाद' और उनकी कविता का आधुनिक काव्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । उन्होंने जड़ता के तिलिस्म को तोड़ा और नये-नये प्रयोगों से नये काव्य का मार्ग प्रशस्त किया । उनके प्रारम्भिक काव्य और अन्तिम प्रौढ़ काव्य में आकाश और पाताल का अन्तर है । इसका कारण यह है कि उन्होंने विकास की अनेक मंजिलें पार की हैं और उनके काव्य में आधुनिक कविता के विकास की स्पष्ट रूपरेखा मिलती है । 'चित्राधार' और 'कानन-कुसुम' की अटपटी पंक्तियाँ आज काव्य कहला भी न पायेंगी, परन्तु इन्हीं नींव के पत्थरों पर 'प्रसाद' ने कला-कौशल का वह ताजमहल उठाया जो युग-युग तक उनकी प्रतिमा का स्मारक बना रहेगा । 'प्रलय की छाय' में नारी के सौन्दर्य-गर्व का यह चित्र देखिये :—

मेरे उस यौवन क मालती-मुकुल में
रन्ध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को हंसाने को !
पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गंध से—
कस्तूरी-मृग जैसी ।
पश्चिमी जलधि में---
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानों चूमने को मुझको,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर ।
नृत्यशील शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हंसने लगीं ।
मेरें तो,
चरण हुये थे विजड़ित मन भार से ।
हंसती अनंग-बालिकाएँ अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु-अभिषेक में
नतशिर देख मुझे ।

'पेशोला की प्रतिध्वनि' में राणा प्रताप की मृत्यु-शय्या की चिंता की सूक्ष्म भंगिमा देखिये :—

कौन लेगा भार यह ? कौन विचलेगा नहीं ?

दुर्बलता इस अस्थि माँस की—
ठोंक कर लोहे से, परख कर वज्र से,
प्रलयोल्का-खंड के निकष पर कस कर
चर अस्थि-पुंज-सा हंसेगा अट्टहास कौन ?
साधना पिशाचों की बिखर चूर-चूर होके
धूलि-सी उड़ेगी किस दृप्त फूत्कार से ।
कौन लेगा भार यह ?
जीवित है कौन ?
साँस चलती है किसकी ?
कहता है कौन ऊँची छाती कर मै हूँ—
—मैं हूँ—मेवाड़ में,
अरावली शृंग-सा समुन्नत सिर किसका ?
बोलो, कोई बोलो—अरे क्या तुम सब मृत हो ?
आह इस खेवा की !—
कौन थामता है पतवार ऐसे अंधड़ में ?
या फिर मनु का जीवन विषयिक यह गम्भीर चिंतनः—
किस गहन गुहा से अति अधीर
झञ्झा-प्रवाह-सा निकला यह जीवन ? विक्षुब्ध महा-समीर ?
ले साथ विकल परमाणु-पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर ?
भयभीत सभी को भय देता, भय की उपासना में विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा, जगती को करता अधिक दीन
निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
सहर्ष कर रहा-सा जब से, सबसे विराग सब पर समता
अस्तित्व चिरन्तन-धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर ?

सभी जगह आपको एक नये ओज, एक नये उदात्त भाव, एक नई कल्पना के दर्शन होंगे। न जाने किन-किन तत्वों से 'प्रसाद' ने अपने काव्य को सवारा है।' कहीं उर्दू की लाक्षणिकता से, कहीं संस्कृत कवियों की समास–पद्धति से, कहीं बँगला की भावुकता से, परन्तु सब कही उन्हीं के व्यक्तित्व के स्वर बज रहे हैं। 'आँसू' (१९२६) 'लहर' (१९३५) और 'कामायनी' (१९३६) में 'प्रसाद' काव्य-कला और प्रतिभा के कैलाश पर खड़े हैं। आधुनिक कवियों में इतना काव्यतत्व, इतनी अनुभूति और उसका इतना सांकेतिक प्रकाशन अन्यत्र नहीं मिलेगा ।

'प्रसाद' के काव्य में उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन पूरी-पूरी मात्रा में हुआ है। उनके व्यक्तित्व में अमीरी, ऐश्वर्य, तप और तटस्थता का विलक्षण समन्वय था। उनके काव्य में भी यह समन्वय मिलता है। उनके काव्य में सबसे आकर्षक वस्तु यही 'प्रसादत्व' है। 'प्रसाद' का ऐश्वर्य उनका विलासमय भ्रूभंग, उनकी जीवन-मृत्यु के आर-पार देखने वाली अन्तर्दृष्टि, उनका आनन्द, उनकी चुहलें और फिर उनकी गुरु-गंभीरता। येही तत्व 'प्रसाद' के काव्य की विशेषताएँ हैं। उनके काव्य में कल्पना का राजसी वैभव हमें आश्चर्य चकित कर देता है। एक स्थान पर वह स्वयं कल्पना का आह्वान करते हुए दिखाई देते हैं :—

'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग में कल्पना का सवश्रेष्ठ विलास मिलेगा। साधारणतः लज्जा को शब्दों में पकड़ना कठिन है। परन्तु कवि ने बड़ी सतर्कता से लज्जा की यह प्रतिकृति उतारी है :—

आह ! कल्पना का सुन्दर यह
जगत मधुर कितना होता !
सुख स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता-सोता।
कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती-सी,
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निरखता ज्यों।
सुरभिय लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों।
वैसी ही माया में लिपटी,
अधरों पर उंगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए,
—नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाहें फैलाए-सी
आलिंगन का जादू पढ़ती !
किन इन्द्रजाल के फूलों से

लेकर सुहाग-कण राग-भरे;
सिर नीचा कर हो गूंथ रही
माला जिससे मधु-धार ढ़रे ?

'प्रसाद' के काव्य में इस प्रकार के सेंकड़ों चित्र मिलेंगे। मानव-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण करते हुए गर्भिणी श्रद्धा का यह चित्र देखिए:—

केतकी-गर्भ सा पीला मुँह
आँखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी
कम्पित लतिका-सी लिए देह;
मातृत्व-बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज,
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज;
सोने की सिकता में मानो
कालिंदी बहती भर उसास,
स्वर्गंगा में इंदीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।

रीतिकालीन नारी के अस्वस्थ चित्रण के सम्मुख कल्पना के सुन्दरतम उपकरणों से सँवारी श्रद्धा और इड़ा की मूर्तियाँ सचमुच अभिनन्दनीय हैं।

परन्तु 'प्रसाद' मुख्यत: अशरीरी और अमूर्त भावों और विचारों के कवि हैं। उन्होंने काव्य को साधारण कल्पना-विलास से बहुत ऊपर उठा कर बुद्धि-तत्त्वों के बीच में भावना के इन्द्रधनुषी लोक में खड़ा किया है। दार्शनिक और आध्यात्मिक भावों और विचारों से उनकी रचनाएँ ओत:प्रोत हैं। वह सौन्दर्य, प्रेम, सुख-दु:ख, जीवन-मृत्यु और मानवता के कवि हैं। उनका काव्य का ताना-बाना अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल है। उन्होंने अपने जीवन के प्रभात में जिस ऐश्वर्य, सौन्दर्य और प्रेम की झाँकी देखी है, जो झाँकी, झांकी मात्र रह गई, जाने पर फिर लौट कर नहीं आई, उसके अभाव की पीड़ा और वेदना की अभिव्यंजन भी उनके काव्य में हुई है। उन्होंने इस जले जगत के वृन्दावन बन जाने की भी आशा प्रकट की है और जीवन के प्रभात को अनेक बार पुकारा है। उनका काव्य मानव की मंगल-कामना से ओत:प्रोत कला और कल्पना के सूक्ष्मतम तत्वों से पुष्ट नये युग की सबसे सुन्दर सम्पत्ति है। परिमाण में वह थोड़ा सही, उसमें कुछ अस्पष्टता और रहस्यवादिता सही, परन्तु उस जैसी सौन्दर्यभंगिमा अन्यत्र कहाँ है ? संगीत, ऐश्वर्य और कल्पना का ऐसा मादक सपना और कहाँ मिलेगा ?

# प्रसाद के नाटक

नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' की प्रारंभिक रचनाएँ वे रूपक हैं जो 'इंदु' (१६०६-१६) में प्रकाशित हुए और जिन्हें हम आज 'एकांकी' का नाम दे सकते हैं। इन रूपकों में 'प्रसाद' की नाटकीय कला का केवल अविकसित रूप ही मिलता है। फिर भी 'प्रसाद' की नाटकीय कला के विकास के अध्ययन के लिए ये महत्वपूर्ण हैं। 'इंदु' में ये प्रारंभिक रूपक इस क्रम से प्रकाशित हुए :—

(१) सज्जन—'इंदु' कला ६, किरण ६, १०. ११—सन् १६१०-११

(२) कल्याणी-परिणय—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १७, संख्या २—सन् १६१२।

(३) करुणालय—'इंदु',—कला ४, खंड १, किरण २, सन् १६१२।

(४) प्रायश्चित्—'इन्दु', कला ४ खंड १, किरण १,—जनवरी सन् १६१४।

(५) राज्यश्री—'इन्दु' कला ६, खंड १, किरण २, जनवरी सन् १६१४।

'प्रसाद' का पहला पुस्तकाकार प्रकाशित नाटक 'विशाख' (१६२१) है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' दोनों में उन्होंने बाद में विशेष परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है और इनके पहले संस्करण को हम प्रारम्भिक रचनाओं में रख सकते हैं। यद्यपि प्रायः जिस रूप में ये रचनाएं बाजार में प्राप्त हैं उनमें अप्रौढता के चिह्न अधिक नहीं मिलते और परिवर्तित-परिवर्द्धित नाटक की ही आलोचना अधिक समीचीन है। इन प्रारम्भिक रचनाओं को हम उनके प्रयोग कह सकते हैं और 'प्रसाद' की प्रौढ़ नाटकीय-कला की विवेचना करते समय हमें उन्हें दृष्टि-पथ से हटा लेना होता है।

'राज्यश्री' (१६१५) और 'विशाख' (१६२१) में 'प्रसाद' ने ऐतिहासिक आधार को स्वीकार किया था, परन्तु 'राज्यश्री' के प्रारम्भिक संस्करण में इतिहास का

ताना वाना उतने कौशल से नहीं बुना गया था और 'विशाख' की कथ वस्तु एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ (कल्हण की 'राजतरंगिणी') पर आधारित होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। एक स्थानीय राजा की चरित्र-भ्रष्टता का प्रकाशन ही कथानक का लक्ष्य था। वस्तुत। हम दोनों नाटकों में 'प्रसाद' की उस नाटकीय प्रतिभा का शतांश भी नहीं पाते जिसका प्रदर्शन 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में हुआ है। राखालदास बाबू के उपन्यास 'शशांक' (१९२०) के आधार पर 'प्रसाद' ने 'राज्यश्री' के नवीन संस्करण में कुछ [illegible] भी किया, परन्तु इससे रचना के महत्व में कोई अन्तर न आ सका।

'प्रसाद' के परवर्ती नाटकों को हम तीन श्रेणियों में रख सकते है। पहली श्रेणी ऐतिहासिक नाटकों की हैं। ये हैं, 'अजातशत्रु' (१९२२) स्कन्दगुप्त' 'विक्रमादित्य' (१९२२), चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१) और 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३)। दूसरी श्रेणी में हम 'जनमजेय के नागयज्ञ' (१९२६) को रख सकते है जो एक पौराणिक नाटक है। तीसरी श्रेणी में 'कामना' (१९२७) और 'एक घूँट' (१९२९) नाम के रूपकात्मक नाटक आते हैं। 'कामना' अन्तः प्रवृत्तियों के मानवीकरण के आधार पर लिखा हुआ 'प्रबोध चन्दोदय' की श्रेणी का रूपक है। 'एक घूँट' को हम समस्या-मूलक नाटक कह सकते हैं। एक तरह से वह पूर्ण विकसित नाटक है भी नहीं—वह 'एकांकी' की कोटि में आ जाता है। नाटकीय दृष्टि से वह 'प्रसाद' की सबसे असफल रचना मानी जायेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' के साहित्य में नाटकों का बहुत बड़ा स्थान है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ मुख्यतः नाटक ही रहते हैं। लगभग ३३ वर्षों तक उन्होंने नाटक-रचना में योग दिया। प्रारंभिक अप्रौढ़ कलाहीन एकांकियों से लेकर उन्होंने 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' जैसे बड़े-बड़े प्रौढ़ नाटक हमें दिये। परन्तु 'प्रसाद' की नाटकीय कला का अध्ययन करते समय हमें यह नहीं भूल जाना होगा कि उनके व्यक्तित्व में सबसे अधिक प्रभावशाली अंश कवि का है, नाटककार का नहीं। उनके नाटक कविता के भार से दब गये हैं और कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि उन्हें नाटकीय परिस्थितियों और रंगमंच का अच्छा ज्ञान भी नहीं था। भारतेन्दु की प्रसिद्धि, उनके नाटकों की लोकप्रियता और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों ने उनका ध्यान नाटक की ओर आकर्षित किया और 'प्रसाद' ने उसे अपने अध्ययन, इतिहास-ज्ञान, काव्यात्मक-अनुभूति और ऐतिहासिक चरित्रों के पुनर्निर्माण का साधन बनाया। फिर भी इसमें संदेह नहीं है कि हिंदी-नाटक को साहित्यिकता दी और कला की दृष्टि से भी उन्होंने बहुत दूर तक पुष्ट किया और कदाचित् काव्य के बाद नाटक ही उनकी सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है।

'प्रसाद' के नाटक मूलत: आदर्शवादी और स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) नाटक हैं। उनकी अपनी अलग परंपरा है। इस प्रकार के नाटकों में कथानक बहुत ही जटिल और मिश्रित होते हैं। मुख्य कथावस्तु अनेक गौण कथानकों या उपकथाओं में इस तरह उलझी होती है कि उसको अलग करना कठिन हो जाता है। चरित्र स्वच्छंद, आदर्शवादी और कवि-दार्शनिक के समान होते हैं। नाटक के स्वच्छंद और कवित्व-पूर्ण वातावरण में ऐसे ही पात्रों की योजना स्वाभाविक लगती है। इन नाटकों की भाषा-शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण, अलंकृति एवं गद्य गीतों के समान होती है। कवित्व-पूर्ण वातावरण उपस्थित करने के लिए रहस्यपूर्ण और कलापूर्ण गीतों की योजना भी चलती है। जहाँ तक कवित्व का संबंध है, ये नाटक नाट्य-साहित्य की विभूति हैं। इनका अपना सौन्दर्य है। परंतु रंगमंच की दृष्टि से इनमें अनेक दोष हैं और ये अभिनय के अयोग्य, जटिल, दुरूह और जनरुचि के विरुद्ध हैं। पाठ्य नाटकों के रूप में ही ये विशेष लोकप्रिय रहे हैं।

प्रारंभिक रूपकों में दो 'सज्जन' (१९१०-१९११) और 'करुणालय' (१९१२) पौराणिक हैं और शेष दो कल्याणी-परिणय' (१९१२) और 'प्रायश्चित' (१९१४) ऐतिहासिक। 'सज्जन' की कथा का मूल स्त्रोत महाभारत है। दुर्योधन की कुटिल राजनीति की सफलता और युधिष्ठिर की व्यवहारहीनता के कारण पांडवों को बनवास मिलता है। परन्तु वे वहाँ भी शांतिपूर्वक नहीं रह सकते। दुर्योधन के चाटुकार मित्र उसे सलाह देते हैं कि वह बन में जाकर मृगया खेले और उत्सव मनाये। इस प्रकार वे पाण्डवों के हृदयों को ईर्ष्या से दग्ध करना चाहते थे। उत्सव समाप्त होने पर मृगया की तैयारी होती है। गंधर्व चित्रसेन वन का रक्षक है। वह सावधान करता है। गंधर्वों के क्रीड़ास्थल में मृगया खेलना दुस्साहस है, परन्तु दुर्योधन आत्म-गर्वित है, वह उसकी बात नहीं मानता। फलस्वरूप युद्ध होता है और दुर्योधन अपने मित्रों के साथ बंदी हो जाता है। बन के दूसरे भाग में स्थित पांडवों को इसकी सूचना मिलती है। धर्मराज युधिष्ठर उसी समय अर्जुन को आज्ञा देते हैं कि वह दुर्योधन को छुड़ा लाये। अर्जुन और चित्रसेन में युद्ध होता है। चित्रसेन युद्ध के क्षेत्र में अपने मित्र अर्जुन को पहचान जाता है। वह युद्ध को रोक देता है और युधिष्ठिर के समीप क्षमा प्रार्थी होता है। दुर्योधनादि मुक्त हो जाते हैं। दुर्योधन भी धर्मराज की उदारता और सज्जनता देखकर लज्जित होता है।

'करुणालय' की कथा बलिविरोध को सामने लाती है। इस एकांकी मे पाँच दृश्य हैं। पहले दृश्य में अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र अपने सेनापति ज्योतिष्मान् के साथ नौका-विहार करते दिखाई पड़ते हैं। आकाशवाणी होती है। महाराज ने अपने राजकुमार को बलि चढ़ाने की प्रतिज्ञा की है, परन्तु वह प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई।

आकाशवाणी उस प्रतिज्ञा की स्मृति दिलाती है। हरिश्चन्द्र वचन देते हैं कि वह शीघ्र ही इस प्रतिज्ञा का पालन करेंगे। दूसरे दृश्य में राजकुमार रोहित उपस्थित होता है। वह वन-प्रांत में घूम रहा है। पिता ने बलि होने की आज्ञा दी है। परन्तु वह कैसे निरर्थक अपना जीवन दे दे? पिता की ऐसी आज्ञा भी क्या मान्य है? जीवन-संबंधी अनेक तर्क-वितर्कों के बाद वह निश्चय करता है कि भाग कर प्रकृति की शरण में चला जाये। प्रकृति भी नेपथ्य में इस निश्चय का समर्थन करती है। तीसरे दृश्य में ऋषि अजीगर्त के सामने रोहित प्रगट होता है। इस समय ऋषि अपनी निर्धनता से दुःखी हैं। रोहित निवेदन करता है कि यदि वह अपना एक पुत्र नरमेध के लिए सौंप दें तो वह बदले में सौ गायें दे। ऋषि अपने मंझले पुत्र शुनःशेप को दे देते हैं। चौथे दृश्य में रोहित महाराज हरिश्चन्द्र से वाद-विवाद करता है। वह अपने भागने का समर्थन करता है। वशिष्ठ आकर पिता-पुत्र के वाद-विवाद का अन्त करते हैं। वह व्यवस्था देते हैं कि रोहित की जगह शुनःशेप की बलि दी जा सकती है। बलि का आयोजन होता है। अन्तिम दृश्य अधिक नाटकीय है। महाराज हरिश्चन्द्र और रोहित यहाँ पर उपस्थित हैं। शुनःशेप भी बँधा हुआ है। शक्ति उसका बध करने बैठता है परन्तु करुणा उसका हाथ रोकती है। इस पर अजीगर्त स्वयं पुत्र का बध करने के लिए तैयार हो जाता है। बलि होने वाली है। शुनःशेप प्रार्थना करता है। उसी समय आकाश से गर्जना होती है और विश्वामित्र अपने पुत्रों के साथ यज्ञ-मंडल में प्रवेश करके बलि को रोक देते हैं। सहसा एक दासी वहाँ पहुँच जाती है। वह विश्वामित्र की पत्नी है। शुनःशेष उसी का पुत्र है। सारा रहस्य प्रकट हो जाता है। दासी मृदुला, दासी-कर्म से मुक्त की जाती है और नर-बलि की समाप्ति की घोषणा की जाती है। ईश्वर की प्रार्थना और सबकी मंगल-कामना के साथ रूपक की समाप्ति होती है।

'कल्याणी-परिणय' (१९१२) और 'प्रायश्चित्त' (१९१४) ऐतिहासिक एकाकी कहे जा सकते हैं। 'कल्याणी-परिणय' की कथा चंद्रगुप्त, चाणक्य और सिल्यूकस से सम्बन्धित है। इतिहास इस कथानक की सत्यता का साक्षी है। नंदकुल के नाशक चन्द्रगुप्त ने अपने प्रबल पराक्रम से सिल्यूकस जैसे वीर पर विजय प्राप्त की थी और अपनी पुत्री के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था। 'चन्द्रगुप्त' (१९३१) के चौथे अंक में लगभग बीस वर्ष बाद लेखक ने इस रूपक की सामग्री का समावेश किया है। आरम्भ में कौटिल्य अपने नाम की सार्थकता पर विचार करता हुआ अपने गुप्तचरों के द्वारा अपने भावी कार्यक्रम का नियंत्रण करता दिखाई देता है। दूसरे दृश्य में चन्द्रगुप्त मृगया में पड़ी सुन्दरियों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना आकर्षण प्रगट करता है। अचानक शत्रुओं के आक्रमण की

सूचना पाकर अपने सेनापति चन्द्रविक्रम को यह आदेश देता है कि वह ग्रीक-सेना पर प्रत्याक्रमण की व्यवस्था करे। आगे चलकर कथा के क्रम से कार्नेलिया प्रथम दर्शन के आधार पर ही चन्द्रगुप्त से अपना प्रेम प्रगट करती है और सिल्यूकस भी स्वपराजय के अपमान का अनुभव करता है। इसी समय सीरिया पर ऐंटिगोनस की चढ़ाई से त्रस्त होकर वह संधि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। परिणामतः सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का विवाह चंद्रगुप्त के साथ होता है और चन्द्रगुप्त अपने ससुर की सहायता के लिए अपने सेनापति चन्द्रविक्रम की नियुक्ति करता है।

'प्रायश्चित्त' का कथानक इतिहास की एक किंवदन्ती पर खड़ा है। प्रतिकार एवं द्वेष-बुद्धि से प्रेरित हो जयचन्द में दुर्भावनाओं का जन्म होता है। परिणाम-स्वरूप वह अपने जामाता पृथ्वीराज पर चढ़ाई करता है और युद्ध में उसे मार कर पाशविक प्रसन्नता से नाचने लगता है। उसी समय आकाशवाणी के रूप में उसे दुष्ट कृत्यों के लिए भर्त्सना मिलती है। उस भत्र्त्सना को सुनकर और इस रक्तपात की विभीषिका के मूल में अपने को पाकर उसके हृदय में पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। निर्जन और शून्य अन्तरिक्ष के कोने में उसे अपनी प्रिय पुत्री सयोगिता की मूर्ति-झाँकती हुई दिखाई देती है। सहसा प्रायश्चित की भावना स्थायी रूप धारण कर लेती है और अर्द्धविक्षिप्त अवस्था में वह रण-भूमि से लौटता है। उसी समय मुहम्मदगौरी उस पर चढ़ाई करता है और वह सैन्य-नियंत्रण का सारा दायित्व अपने पुत्र तथा मन्त्री पर छोड़ कर स्वयं राजकीय कार्यों से तटस्थ हो गंगा में धंसकर प्राण-विसर्जन करता है।

इन सभी कथानकों का विवेचन हम एक साथ कर सकते हैं। वस्तुतः इन नाटकों या एकांकियों में प्रचलित कथा को ही स्वीकार कर लिया गया है, और उसे सीधे-साधे रूप में सम्वाद के माध्यम से उपस्थित कर दिया गया है, केवल घटनाओं का वर्णन ही जैसे लेखक का उद्देश्य हो। घटनाएं भी इतनी संक्षिप्त हैं कि कथा का क्षेत्र बहुत संकुचित हो गया है और उसमें नाटकीयता और वस्तुविन्यास का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'सज्जन' के कथानक में अपेक्षाकृत घटनाएं अधिक हैं। परन्तु 'प्रायश्चित्त' में कथा का संकोच इतना अधिक है कि वह भावनाट्य बन गया है। केवल एक पात्र में उठती हुई आशंका, घृणा और पश्चात्ताप की भावना को लेकर किसी भी एकांकी की रचना नहीं हो सकती। इसे काव्य का विषय अवश्य बनाया जा सकता है। नाटक 'गद्य-काव्य' नहीं है—उसमें परिस्थितियों का उत्थान-पतन और चरित्रों का घात-प्रतिघात अवश्य रहना चाहिए। 'कल्याणी-परिणय' में कथा का विन्यास अच्छा नहीं हुआ है। आरम्भ से लेकर अन्त तक कथा की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चली जाती है। कोई उतार-चढ़ाव नहीं, कोई नाट

'करुणालय' का भी यही हाल है। 'करुणालय' तो गीतिनाट्य ही है। उसमें कथा के विशेष विस्तार को स्थान नहीं मिल सका है। प्रख्यात पौराणिक वृत्त को लेकर ही लेखक चला है। यह अवश्य है कि उसने कथावस्तु को नटकीय पद्धति से दृश्यों में विभाजित कर दिया है, परन्तु इससे कथावस्तु के संगठन में कोई महत्वपूर्ण अन्तर पड़ा नहीं जान पड़ता। वस्तु में थोड़ा आरोह-अवरोह है, परन्तु वह केवल इसलिए कि नाटकीय विभाजन के कारण ऐसा आयोजन स्वत: ही हो जाता है। यह स्पष्ट है कि एकांकियों की वस्तु अत्यंत प्रारंभिक अवस्था में है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' तक 'प्रसाद' के नाटकों का कथा-संगठन थोड़ा भी कलात्मक नहीं हो पाया। बाद के दोनों नाटकों को 'प्रसाद' ने परिष्कृत रूप में भी उपस्थित किया है, परन्तु थोड़े-बहुत परिवर्तन से उनकी नाट्यवस्तु पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा है। 'अजातशत्रु' (१९२२) तक में कथावस्तु का संकलन नाटकीय ढंग से नहीं हो सका है। उनकी कड़ियाँ भी पूरी तरह जुड़ नहीं पाई हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के कथा-संगठन से नाटकीयता पर आघात होता है और नाटक संवाद-मात्र रह जाता है। परन्तु 'प्रसाद' की कल्पना और कला कुछ इस प्रकार की थी कि वह कथा पर केन्द्रीयकरण या नाटकीयकरण स्वीकार नहीं करती। केवल स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में ही कथा का विकास कुछ अधिक हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' में कथा सबसे अधिक संगठित है और इस तरह वह 'प्रसाद' का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। परन्तु 'प्रसाद' का कथा-संगठन-कौशल आरंभ से ही निर्बल रहा है, इसमे सन्देह नही। प्रारम्भिक रूपक इसी ओर इंगित करते हैं।

इन प्रारम्भिक नाटकों में कथा तो अधिक है नहीं चरित्र-चित्रण भी अधिक नहीं है। जो थोड़ी-बहुत कथा नाटककार लेकर चल रहा है, उसे ही उसने निबाहा है। पात्रों के चरित्र के संबंध में वह मौन है। कथा-प्रवाह से पात्रों के संबंध में जो समझ लिया जाय, वही बहुत है, फिर कथा-प्रवाह ही कितना है ? फलत: इन प्रारम्भिक एकांकियों में चरित्र का आभास-भर मिलता है। इससे अधिक कुछ नही मिलता। फिर जहाँ चरित्र की रेखाएँ उभारी भी गई है वहां भी पात्रों के व्यक्तित्व-विकास की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया गया है। कुछ पात्र सज्जन हैं और कुछ पात्र दुर्जन हैं। इस प्रकार बात समाप्त हो जाती है। पात्रों को देव-चरित्र और राक्षस-चरित्र में विभाजन हो गया है। 'प्रसाद' ने प्रौढ़ नाटकों में भी इस पद्धति को बड़ी दूर तक अपनाया है। 'सज्जन' में एक ओर दुराग्रही और दुर्जन दुर्योधन है और दूसरी ओर मनुष्य की सारी दुर्बलताओं और दुर्भावनाओं से मुक्त, सज्जनता की मूर्ति, युधिष्ठिर। दुर्योधन के विद्वेष की ज्वाला इस शीतलता के सागर की कुछ ही छींटें पाकर शांत हो जाती है। नाटककार काव्य-न्याय को लेकर चलता है और सत्य की

जय और 'शांतम् पापम्' के साथ कथावस्तु परिणति को प्राप्त करता है। इस प्रकार के कथानक में चरित्रों के विकास का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, चरित्र जैसे आते हैं, वैसे ही नाटक के अंत में चले जाते हैं। कथानक में ऐसी परिस्थितियाँ ही नहीं उठतीं कि उनमें परिवर्तन हो। 'प्रायश्चित्त' में भी चरित्र-चित्रण की यही दशा है। उसमें पात्र तो एक ही है—जयचन्द। उसकी पश्चात्ताप की दशा का बड़ा सुन्दर वर्णन एकांकी में है, परन्तु यह पश्चात्ताप कायरता और विवशता का रूप॰ग्रहण कर लेता है। वह अपने जामाता पृथ्वीराज की मृत्यु और पुत्री संयोगिता के वैधव्य का कारण बनकर जीना नहीं चाहता। बार-बार वह चाहता है कि वह सत्कर्मों की ओर प्रेरित हो, परन्तु अन्त में द्वेष-बुद्धि के द्वारा संचालित हो वह ऐसा काम करता है जिसके लिए वह युगों-युगों तक लांछित रहेगा। पश्चात्ताप की भावना ने जयचन्द की क्षत्रिय-वृत्ति को भी पूर्णतः कुंठित कर दिया है और वह अपने को निर्बल-अशक्त मानकर कायर की तरह युद्ध-क्षेत्र से भागकर गंगा में अपने प्राणों का विसर्जन कर देता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त की देवी पर जयचन्द की बलि तो हो जाती है और उसके प्रति किसी प्रकार की सद्भावना हमारे मन में नहीं जागती। यदि वह मुसलमानों के विरुद्ध सशक्त मोर्चा खड़ा कर उन्हें परास्त कर वैराग्य धारण करता तो हम उसे निःसन्देह बहुत ऊंचा समझते। इतिहास साक्षी है कि जयचन्द ने ऐसा नहीं किया। उसके पश्चात्ताप पर कायरता की छाप थी। 'प्रसाद' ने ऐतिहासिक सत्य को निबाहा है, परन्तु वह जयचन्द को पश्चात्ताप में भी महान् नहीं बना सके।

'कल्याणी-परिणय' में घटना-बाहुल्य के कारण चरित्र-चित्रण का विशेष अवसर ही नहीं मिला है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस का ही चरित्र कुछ खुलकर सामने आता है। चाणक्य में बुद्धि और कर्मण्यता की पराकाष्ठा है। सारा सूत्र उसी के द्वारा परिचालित है। निःस्पृह भाव से वह चन्द्रगुप्त के लिए मंगल-योजना में लगा है। 'चन्द्रगुप्त' (१९३१) में जिस निर्लिप्त कर्मयोगी के दर्शन होते हैं, उसका पूर्वाभास इस एकांकी में मिल जाता है। चन्द्रगुप्त भी 'चन्द्रगुप्त' नाटक के नायक का पूर्ण अविकसित रूप है। वह युद्ध-व्यवसाय में कुशल, वीर और व्यवहारपटु है। उसमें क्षत्रियोचित तेज और उदारता का अभूतपूर्व मिश्रण है। हम उसे कभी भी लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं पाते। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का चन्द्रगुप्त 'कल्याणी-परिणय' के चन्द्रगुप्त से बड़ा है, परन्तु भिन्न नहीं है। अन्य प्रसंगों ने उसके चरित्र में कुछ दूसरे प्रकार की सामग्री का समावेश किया है। सिल्यूकस भी चन्द्रगुप्त के समान ही वीर है—परन्तु वह अवसरवादी भी है। कथा-विस्तार के अभाव में उसका पूरा चित्र सामने नहीं आता।

'करुणालय' में चरित्र-चित्रण की ओर विशेष आग्रह है ही नहीं। विश्वामित्र शुनःशेप और उद्धत युवक रोहित का चरित्र ही कुछ विकसित हो सका है। एक आँख

मूंद कर पिता की आज्ञा मानकर चलने में अपने जीवन की पूर्णता समझता है। दूसरा पिता की प्रत्येक आज्ञा पर तर्क-वितर्क करता है और स्वच्छन्द रूप से जो उसके मन में आता है, करता है। एक प्रकार से वह पितृ-द्रोही ही अधिक है। उसमें चातुर्य विशेष है और अपने स्थान पर शुनःशेप की बलि की योजना करने के कारण वह आदर्शभ्रष्ट, दुर्बल-हृदय युवक ही रह गया है। महाराज हरिश्चन्द्र, वशिष्ठ और विश्वामित्र अपने-अपने वर्गों के प्रतीक-मात्र हैं। कथा-प्रवाह में वह इतना व्यक्तित्व इकट्ठा नहीं कर पाते कि उनपर स्वतन्त्र रूप से विचार हो सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक एकांकियों में चरित्र-चित्रण का भी विकास नहीं मिलता। कथानक की दृष्टि से तो ये एकांकी पहले ही पंगु थे। नाटक का सबसे महत्वपूर्ण अंग चरित्र-चित्रण है और नाटकों में 'प्रसाद' ने इस अंग को अनेक प्रकार से पुष्ट किया है, परन्तु इन पहली रचनाओं में चरित्र-चित्रण की प्रतिभा के जरा भी दर्शन नहीं होते।

इन प्रारंभिक रचनाओं में लेखक ने पुराण-काल, वैदिक-काल, मौर्य-काल और राजपूत-काल से सामग्री ली है। 'करुणालय' का सम्बन्ध वैदिक-काल से है और उनमें सामाजिक जीवन का थोड़ा-बहुत चित्रण भी हो सका है परन्तु 'सज्जन' में नाटककार ने महाभारत की कथावस्तु ली है। महाभारत-कालीन जीवन और संस्कृति का चित्र उसने हमें नहीं दिया। 'प्रायश्चित्त' एक व्यक्ति के श्वासोच्छ्वास के आधार पर खड़ा किया गया है। उसमे सामयिक जीवन के चित्र की बात ही नहीं उठती। 'कल्याणी-परिणय' में नाटककार मौर्य तथा नन्द-युग की सांस्कृतिक रूपरेखा खींच सकता था, परन्तु वह ऐसा नहीं कर सका।

'प्रसाद' के इन प्रारम्भिक रूपकों से उनकी रचना-पद्धति पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। जान पड़ता है, 'प्रसाद' ने भारतेन्दु के नाटकों का अध्ययन किया था और उन्नीसवीं शताब्दी के नाटककारों की रचना-पद्धति से वह पूर्णतः परिचित थे। काशी के नाटक-प्रेमी वातावरण में इन नाटकों की पद्धति से परिचित होना उनके लिए असंभव नहीं था। इन रचनाओं में नांदी–पाठ और भरतवाक्य की योजना हुई है। संस्कृत-नाटकों में मंगल-विधान के लिये ही ऐसी योजना रखी गई थी। रंगमंच पर ही उसका लोकमंगल-रूप पूर्णतया खुलता था। इसमें नाटक लोक-विनोद की सामग्री से बहुत ऊँचा उठकर मंगलमय बन जाता था। बाद के साहित्यिक रूप में नांदी और भरतवाक्य जड़ीभूत होगये। नाटककारों ने विविध ढंग से इनकी योजना में बुद्धि का चमत्कार प्रदर्शित करना आरम्भ किया। 'सज्जन' में प्राचीन शैली का रूप कुछ अधिक खुला मिलता है। आरम्भ में नांदी-पाठ और सूत्रधार-नटी का संवाद है। अन्त में भरतवाक्य या प्रशस्ति-वाक्य है। हरिश्चन्द्र-युग के सभी नाटककारों ने इसी रीति कि भी

को अपनाया था। परवर्ती रचनाओं में धीरे-धीरे वह नांदी और भरतवाक्य हटाते गये 'प्रायश्चित्त' में न नांदी-पाठ है, न सूत्रधार, न भरतवाक्य; परन्तु 'प्रसाद' के नाटक कुछ इस तरह अवश्य समाप्त होते हैं कि उनमें '[illegible]' का आभास होता है। सत्य और न्याय की विजय की घोषणा या नायक के आत्मत्याग के बाद पटाक्षेप होने से मंगल की भावना बनी ही रहती है।

रचना-पद्धति में जो सबसे बड़ी अप्रौढ़ बात मिलती है, वह है पद्यात्मक संवाद। गद्य बोलते-बोलते पात्र पद्य बोलने लगता है। कहीं-कहीं गद्य का उत्तर पद्य में चलता है। अनेक पात्र जैसे [illegible] करते हुए सामने आते हैं। इस प्रकार की अव्यावहारिक और कृत्रिम योजना का मूल अपनी साहित्यिक रचनाओं और समसामयिक पारसी रंगमंच के प्रभाव में ढूंढा जा सकता है। परवर्ती रचनाओं में 'प्रसाद' ने क्रमशः यह शैली छोड़ दी, परन्तु अजातशत्रु तक पद्यात्मक संवाद-शैली कुछ प्रमुख रही है। 'सज्जन' में पद्यात्मक संवाद की भरमार है और विशेषता यह है कि पद्यों की भाषा ब्रज है। भाषा-शैली की दृष्टि से इस ब्रजभाषा-पद्य में चाहे थोड़ी विशेषता भी हो, यह निश्चित है कि उसने नाटकीय सौंदर्य को एकदम नष्ट कर दिया है। 'प्रायश्चित्त' में पद्यात्मक संवाद अधिक नहीं हैं, परन्तु आकाशवाणी का प्रयोग किया गया है। पारसी रंगमंच में आकाशवाणियाँ भी कम नहीं चलती थीं। 'कल्याणी-परिणय' के संवादों में पद्य के प्रयोग का बाहुल्य है। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति कम हो गई और अन्त में 'चन्द्रगुप्त' (१९३१) तक पहुंचते-पहुँचते एकदम समाप्त हुई। यह अच्छा ही हुआ। इससे 'प्रसाद' को अपने संवादों में काव्य-तत्वों की प्रतिष्ठा करनी पड़ी, जो आज उनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है। रचना के क्षेत्र में एक अन्य नवीनता 'कल्याणी-परिणय' में आधुनिक ढंग से गीतों का प्रयोग है।

'प्रसाद' के प्रौढ़ नाटकों में एक पौराणिक नाटक भी है—'जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६)। कालक्रम से यह रचना 'राज्यश्री' (१९१५), 'विशाख' (१९२१) और 'अजातशत्रु' (१९२२) के बाद आती है। यह तीनों ही ऐतिहासिक नाटक हैं। यद्यपि 'विशाख' की कथावस्तु 'कल्हण' की ऐतिहासिक रचना 'राजतरंगिणी' पर आश्रित होने पर भी विशेष ऐतिहासिक तत्वों को समन्वित करके नहीं चली है, फिर भी 'नागयज्ञ' में हमें 'प्रसाद' की एक गौण प्रवृत्ति मिलती है और स्वतंत्र रूप से उसका अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

नाटक की कथावस्तु महाभारत और हरिवंश पर आधारित है और बहुत से चरित्रों की रूपरेखाएँ भी वहीं से ली गई हैं। घटनाओं की परम्परा ठीक करने में नाटकीय स्वतन्त्रता से काम लिया गया है परन्तु नाटककार ऐतिहासिक नाटक की मर्यादा को सामने रखकर चला है। फलतः ऐसी स्वतन्त्रता अधिक नहीं बरती गई है।

'भूमिका' में लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नाटक के पात्रों में कल्पित केवल चार पात्र हैं—पुरुषों में माणवक और त्रिविक्रम और स्त्रियों में दामिनी और शीला। जहाँ तक हो सका है, आख्यान-भाग में भारत-काल की ऐतिहासिकता की रक्षा की गई है और इन कल्पित चार पात्रों से मूल घटनाओं का संबंध-सूत्र जोड़ने का ही काम लिया गया है। इन कल्पित पात्रों में से कुछ महाभारत-प्रसूत ही हैं जैसे वेद की पत्नी दामिनी का चरित्र और व्यक्तित्व वही पुरातन है, केवल नाम कल्पित है।

कथा का संबंध आर्य और नागजाति के 'भारत-कालीन' संघर्ष से है।—'नाग जाति भारतवर्ष की एक प्राचीन जाति थी जो पहले सरस्वती के तट पर रहती थी। भरत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें वहाँ से खाण्डव वन की ओर हटाया। खाण्डव में भी वे अर्जुन के कारण न रहने पाये। खाण्डव-दाह के समय में नाग जाति के नेता तक्षक निकल भागे। महाभारत-युद्ध के बाद परीक्षित ने शृंगी ऋषि का अपमान किया और तक्षक ने काश्यप आदि से मिलकर सम्राट् परीक्षित की हत्या की। उन्हीं के पुत्र जनमेजय के राज्यकाल के आरम्भ में आर्य जाति के भक्त उत्तंग ने वाह्य और आभ्यंतर कुचक्रों का दमन करने के लिए जनमेजय को उत्तेजित किया। आर्य युवकों के अत्यंत उत्साह से अनेक आभ्यंतर-विरोध रहते हुए भी नवीन साम्राज्य की रक्षा की गई है। श्रीकृष्ण द्वारा संपादित महाभारत-साम्राज्य की पुन:योजना जनमेजय के प्रचण्ड पराक्रम और दृढ़ शासन से हुई थी। सदैव से लड़ने वाली इन दो जातियों का मेल-मिलाप हुआ, जिससे हज़ारों वर्षों तक आर्य सामृाज्य में प्रजा फूलती-फलती रही।' इस वस्तु पर 'प्रसाद' ने कल्पना का जो बड़ा ताना-बाना खड़ा किया है, वह अपूर्व है। मुख्य-कथा सरमा-मनसा की जातिविद्वेष संबंधी भावना पर आश्रित है। सरमा कुकुर वंश की यादवी है। द्वारिका-ध्वंस के बाद जब अर्जुन यादवियों को लेकर इंद्रप्रस्थ जा रहे थे तब नागों ने आभीरों के साथ मिलकर यादवियों का हरण किया था। इस युद्ध में धनंजय भी विचलित हो गये थे। कुछ यादव-कुमारियाँ नाग-जाति के तरुणों की वीरता पर मुग्ध होकर उनके साथ स्वत: चली आई थीं। उनमें ही सरमा भी थी। उसने नाग-सरदार वासुकि के प्रति आत्मसमर्पण किया था। वासुकि से हमें एक पुत्र भी प्राप्त हुआ था—माणवक। सरमा चाहती थी कि किसी तरह नागों और आर्यों का प्राचीन विद्वेष समाप्त हो जाये, परन्तु वह अपने इस प्रयत्न में सफल नहीं हो सकी। उसकी प्रतिद्वन्दी है मनसा। खाण्डव-दाह की स्मृतियाँ अब भी मनसा को विचलित किये हैं। खाण्डव-दाह के समय अर्जुन और कृष्ण ने लाखों नाग जला दिये थे। जिन्होंने आग बुझाने का प्रयत्न किया उन्हें तीरों से बेध डाला था। यह सब विश्वबंधुत्व और प्रेम के नाम पर। नागों का शौर्य और उनका भारत-व्यापी सामृाज्य मनसा में नये सपने भर रहा है। उसे अपने ओजपूर्ण नागरक्त

का गर्व है। उसके मस्तिष्क में अभी तक राजेश्वरी होने की कल्पना खुमारी की तरह भरी है। कितना सुन्दर था वह अतीत जब सरस्वती का जल पीकर स्वस्थ और पुष्ट नाग जाति कुरुक्षेत्र की सुन्दर भूमि का स्वामित्व करती थी। वह जानती है कि यादवियों का अपहरण कर नागों ने खाण्डवदाह का ही बदला लिया था। इसी भावना से नागराज तक्षक ने शृंगी ऋषि से मिलकर परीक्षित का संहार किया था। मनसा की भाँति सरमा ने भी विजाति के पुरुष से विवाह किया है। उसका पति है ऋषि जगत्कारु जिससे आस्तीक नाम के पुत्र को उसने जन्म दिया है। परन्तु अभी भी आर्य जाति नागों से घृणा करती है। इसलिए सरमा की चेष्टा सफल नहीं हो पाती। मनसा के आर्य-विद्वेष से दुःखी हो सरमा नागों का निवासस्थान छोड़ देती है और अपने पुत्र माणवक को अपने साथ ले जाती है। मनसा भी पति-पुत्र द्वारा परित्यक्त है। जगत्कारु उसे छोड़ गये हैं। यह स्पष्ट है कि आर्यनाग संघर्ष इस तरह समाप्त नहीं होगा। मनसा वासुकि की बहन है परंतु वह सरमा को रोकती नहीं। वासुकि को इससे थोड़ा क्षोभ होता है। वह अपनी बहन के इस व्यवहार से बहुत दुःखी होता है।

सरमा माणवक को लेकर इन्द्रप्रस्थ चली जाती है, परन्तु वहाँ भी जाति-द्वेष चल रहा है। उसका पुत्र माणवक अनार्य है न! एक दिन जनमेजय के भाइयों ने उसे खूब पीटा। वह कुतूहल से यज्ञशाला में चला गया था। लोगों ने कहा, उसने घी का पात्र जूठा कर दिया। सरमा जनमेजय और रानी वपुष्टमा के पास जब न्याय की प्रार्थना लेकर जाती है, तब उसे धिक्कार के सिवा और कुछ नहीं मिलता। उसने नाग-जाति के पुरुष से विवाह किया है। जनमेजय स्पष्ट कहता है कि पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है। सरमा आई थी अपने स्वजातियों और संबंधियों में शांति और सांत्वना की आशा से। अब उसे पता चला कि आर्यों में उसका कोई स्थान शेष नहीं। वह क्रोध से भर जाती है। जाती हुई वह चेतावनी दे जाती है—"काश्यप, मैं जाती हूँ। किन्तु स्मरण रखना, दुःखिता, अनाथ रमणी का अपमान, पीड़ित की मर्म-व्यथा, काल बनकर राजकुल पर अपनी कराल छाया डालेगी। उस समय तुम्हारे ऐसे लोलुप पुरोहित उससे राजकुल की रक्षा न कर सकेंगे।" माणवक प्रतिशोध की भावना से भर जाता है। अभी वह बच्चा है, परन्तु वह जनमेजय की गुप्त हत्या द्वारा प्रतिशोध लेगा। सरमा उसे इस दुष्कृत्य से विरत करती है, परन्तु माणवक दुःखी होकर उसे छोड़ जाता है। रह जाती है अकेली सरमा। वह पति की नहीं रही, नागों की नहीं रही, पिता-वंश में लौट कर लांछा उसने उठाई और अब वह पुत्र को भी अपने पास न रख सकी। इतना बड़ा

अभाग्य किस नारी का होगा ? एक विशेष परिस्थिति में पड़कर वह अपने पति नाग-राज वासुकि से सुलह कर लेती है, परन्तु पहले प्रतिज्ञा ले लेती है कि वह उसका कोई अपमान न कर सकेगा। वासुकि इसका उसे वचन दे देता है।

इस कथा के साथ प्रासंगिक रूप से वेदव्यास और उनकी पत्नी दामिनी की भी कथा चलती है जो ऋषि के शिष्य उत्तंग पर मोहित है और जिसके कारण कथा-सूत्र में एक नए विस्फोट का जन्म होता है। फलस्वरूप कथावस्तु जटिल हो जाती है और उसके नाटकीय रस पर आघात होता है।

नाटक की कथावस्तु का सूत्र मनसा की इस उक्ति में है—"हाँ सरमा, मुझमें भी ओजपूर्ण नागरक्त है। इस मस्तिष्क में अभी तक राजेश्वरी होने की कल्पना खुमारी की तरह भरी हुई है। वह अतीत का इतिहास याद करो जब सरस्वती का जल पीकर स्वस्थ और पुष्ट नाग जाति कुरुक्षेत्र की सुन्दर भूमि का स्वामित्व करती थी। जब भारत जाति के क्षत्रियों ने उन्हें हटने के लिए विवश किया, तब वे खांडव वन में अपना उपनिवेश बनाकर रहने लगे थे। उस समय तुम्हारे कृष्ण ने साम्य और विश्वमैत्री का जो संदेश पढ़ा था, क्या उसे तुम सुनोगी ? और जो नृशंसता आर्यों ने की थी, उसे आँखों से देखोगी ?" जाति-प्रेम की भावना मनसा के सारे प्रयत्नों के पीछे एक महान संचालिका-शक्ति के रूप में छिपी है, परन्तु प्रतिहिंसा की भावना भी कम नहीं है। आर्यों के इस अत्याचार से निरीह नागों का निर्वासन हुआ और दुर्गम हिमावृत्त चोटियों के मार्ग से कष्ट सहते हुए उन्हें गांधार देश की सीमा में जाना पड़ा। तक्षशिला नागों का केन्द्र बन गया।

परन्तु हस्तिनापुर के पास भी कुछ नागों के केन्द्र रह गये। तक्षक और वासुकि वहीं से विद्रोह के सूत्रों का संचालन करते थे। अर्थलोलुप काश्यप भी उनसे मिल गया। परीक्षित की हत्या में उसका हाथ था, जनमेजय को ऐसा संदेह है। जनमेजय की किशोरावस्था में उसकी राज-परिषद् ने भारत के साम्राज्य का बड़े नियमित रूप से सुशासन किया। सिंहासन पर बैठते ही जनमेजय ने दस्य-प्रदेश को विजित किया और दस्यु जातियों की उच्छृंखलता का अवरोध किया। पुरोहित काश्यप ने इस अभि-यान का पौरोहित्य स्वीकार नहीं किया था। इसलिए जनमेजय ने तुरकावषेय से अपना महाभिषेक कराया। परन्तु तुरकावषेय आदर्श ऋषि थे। उन्होंने दक्षिणा की सारी मुद्रा काश्यप को दिलाकर उसके क्रोध को शांत कर दिया। जनमेजय की रानी वपुष्टमा उत्तंक ( स्नातक ) को स्वर्णकुंडल दक्षिणा में दान देती है। इससे काश्यप उत्तंक और जनमेजय का एकदम विरोधी हो जाता है और नागराज वासुकि तक्षक से मिल जाता है। इस प्रकार आर्यों और नागों में संघर्ष-सूत्र पूर्ण रूप से संगठित हो जाते हैं।

परंतु संघर्ष के सूत्रों के विकास के साथ ही संघर्ष के शमन की दिशाएं भी प्रगट हो जाती हैं। नये पुरोहित के लिए तपोवन में खोजता हुआ जनमेजय तक्षक की कन्या मणिमाला पर आसक्त हो जाता है। यह परिणय यदि सफल हो जाये तो आर्यो-नागों का विरोध शांत हो जाये, ऐसा जान पड़ता है। नाटक का अन्त इसी प्रकार के परिणय से होता है। 'चन्द्रगुप्त' और 'अजातशत्रु' में भी विरोध का शमन परिणय-सूत्र से ही होता है। 'प्रसाद' की कल्पना के परिचालन का एक सूत्र यह भी है।

उत्तंक, दामिनी और वेद की कथा प्रासंगिक है। मुख्य कथावस्तु को उत्तंक के माध्यम से जोड़ा गया है परंतु यदि ये तीन पात्र नहीं होते तो आर्य-नाग-संघर्ष-संबंधी कथावस्तु कुछ और तरह संगठित हो जाती है। उत्तंक जनमेजय के नाग-विद्वेष को अवश्य जागृत करता है और इस तरह अन्त तक जनमेजय के सारे नागविरोधी-कृत्यों में सूत्र का संचालन उसके हाथ में ही रहता है। तक्षशिला की घाटी में पहुँच कर जनमेजय और चण्ड भार्गव द्वारा संचालित आर्य-सेना नागों का अपार जनक्षय करती है। गांधार-विजय से लौट कर जनमेजय यहाँ अश्वमेध यज्ञ करना चाहता है परंतु काश्यप तक्षक से मिलकर एक प्रपंच रचता है। यह प्रपंच सफल-सा हो जाता है। वपुष्टमा का हरण होता है परन्तु जनमेजय के प्रचंड क्रोध के आगे नाग ठहर नहीं पाते। वह नागों को हवि के रूप में अग्नि में डालकर नागयज्ञ का सूत्रपात करता है। इस चरम सीमा पर पहुँच कर वेदव्यास के प्रयत्नों से कथा बड़ी ही तीव्र-गति से विरोध-शमन की ओर बढ़ती है। मणिमाला-जनमेजय के परिणय से कथा समाप्त होती है।

यह स्पष्ट है कि नाटककार की कल्पना ने आर्य नाग-विद्वेष की कथा को अवतार और प्रासंगिक कथाओं से पुष्ट करना चाहा है और अन्त में कथानक की रूप-रेखा को असरल और अस्पष्ट बना दिया है। कथा की अनावश्यक विस्तृति और पात्र-पात्रियों की भरमार उसके प्रभाव को कम कर देती है। स्त्रीपात्र अपेक्षाकृत कम हैं—वपुष्टमा, मनसा, मणिमाला, दामिनी और शीला, परन्तु पुरुष पात्र १८ हैं—जनमेजय, तक्षक, वासुकि, काश्यप, वेद, उत्तंक, आस्तिक, मदुक, शौनक, च्यवन, वेदव्यास, त्रिविक्रम, माणवक, जगत्कारु, चण्डभार्गव, तुरकावषेय, अश्वसेन। पात्रों की इतनी भीड़ में चरित्र-चित्रण का अवकाश मिलना कठिन है परन्तु 'प्रसाद' की कल्पना थोड़े पात्रों को लेकर चलना नहीं चाहती। वह अधिकतः कथावैचित्र्य में उलझ जाती है। इससे उनके नाटकों में चरित्र-चित्रण को अधिक स्थान नहीं मिल पाता।

जो हो, 'प्रसाद' की प्रतिनिधि रचना न होते हुए भी यह नाटक कई दृष्टि-कोणों से महत्वपूर्ण है। इसमें वह कोई महान चरित्र उपस्थित नहीं कर सके हैं,

परन्तु श्रीकृष्ण और व्यास के लोकनायकत्व की झाँकी बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। वेदव्यास में हमें उस परिपूर्ण ब्राह्मणत्व के दर्शन होते हैं, जो बाद में चाणक्य में विकसित हुआ है। स्थान-स्थान पर महाभारत-काल की संस्कृति का भी भव्य चित्र मिलता है—विशेषकर आश्रम-संस्कृति का। नारी के महामहिम उदात्त चित्र भी हमें यहाँ मिलते हैं और अपने युग की दो महत्वपूर्ण समस्याओं (जाति-द्वेष और राष्ट्रीयता) का प्राचीन रूप भी हमें दिखलाई देता है। नाटक की कथावस्तु में और पात्रों के कथोपकथन के द्वारा 'प्रसाद' ने 'भाग्यवाद' या 'नियतिवाद' के पक्ष में बड़ी प्रबल अपील की है परन्तु वेदव्यास के दार्शनिक दृष्टिकोण और भगवान् कृष्ण की कार्य-निष्ठा में 'नियतिवाद' और 'कर्मवाद' का एक सुन्दर संतुलन उपस्थित हो जाता है। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य और ब्राह्मणत्व जैसे गंभीर विषयों को नाटककार ने विवेचना का विषय बनाया है। फलतः नाटक की भूमि पौराणिक होते हुए भी वह आधुनिक चिंता के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक है। इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रसाद' की कवि-कल्पना और वस्तु-संयोजन-प्रतिभा ने पुरातन कथा को नये राग-रंगों से अभिव्यक्त किया है और वह आकर्षक बन गई है।

'प्रसाद' के दो प्रतीक नाटकों 'कामना' (१६२७) और 'एक घूँट' (१६२६) को भी हम अलग से ले सकते हैं। वह प्रारंभिक प्रयोगात्मक नाटकों 'जनमेजय का नागयज्ञ' और ऐतिहासिक नाटकों से भिन्न कोटि की रचनाएँ हैं। संस्कृत में इस प्रकार की एक रचना 'प्रबोध-चन्द्रोदय' थी जिसमें धार्मिक और मानसिक प्रवृत्तियों को रूपक के रूप में उपस्थित किया गया था। समसामयिकों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'डाकघर' जैसे अनेक प्रतीक नाटक अवश्य लिखे थे परन्तु उनमें दूर तक रूपक लेकर चलने की प्रवृति नहीं है और वे मूलतः काव्यात्मक और गीतिप्राण (Lyrical) हैं। 'कामना' मे मनः-प्रवृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व और मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक सरल जीवन पर नई सभ्यता के आघात-प्रतिघात का कथात्मक चित्रण है। उस तरह की चीज़ इस साहित्य में हमें नहीं मिलेगी। 'एक घूँट' पर अवश्य रवि बाबू की 'चिरकुमार सभा' का प्रभाव लक्षित है परन्तु यह प्रभाव भी अधिक नहीं है। वस्तुतः यह सब नितान्त नई श्रेणी की रचना है। इसमें बौद्धिकता की छाप इतनी अधिक है कि नाटक का कथात्मक और चारित्रिक भाग एकदम लुप्त-सा हो गया है और सम्पूर्ण नाटक सम्वाद के रूप में एक समस्यामूलक प्रबन्ध का वि[illegible]ास जैसा दिखलाई पड़ता है।

'कामना' के कथानक में संग्रहकारिणी वृत्ति के प्रतिनिधि स्वर्ण और आत्म-विस्मृति के प्रतिनिधि मद्य के प्रचार द्वारा मानव के प्रारम्भिक सन्तोष और शान्ति से भरे हुए जीवन को चुनौती मिलती है। जनता विलास से शासित होकर भौतिकता

को ही सब कुछ मानने लगती है। कथा का क्षेत्र फूलों का द्वीप है जिसमें 'तारा' की संतान रहती है। इन लोगों का जीवन कृषि पर ही निर्भर है। फलतः महत्व और आकांक्षा का नाम भी नहीं है और सारा समाज ही प्रेम, सहयोग और सहकारिता के पवित्र भावों से स्पंदित होता है। नियम, राजनीति, बंधन, अभिशाप, मद आदि संस्कृति-जन्य उपकरण इस द्वीप में अभी विकसित नहीं हुए हैं। प्रकृति ही जैसे वहाँ की सूत्रधारिणी हो। कामना इस फूलों के द्वीप की रानी है और वही वहाँ के सरल जीवन और पूजा-पाठ का नेतृत्व करती है।

एक दिन कामना के जीवन में परिवर्तन होता है। वह समुद्र-तट पर विचार-मग्न बैठी है कि वहाँ नाव पर बैठा हुआ एक विदेशी आता है। उसका नाम है विलास। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कामना उसका स्वागत करती है। धीरे-धीरे विलास द्वीप के निवासियों से अधिक नैकट्य प्राप्त कर लेता है। पहले तो कामना को ही सोने और मदिरा का प्रभाव दिखा कर उसपर अपना अधिकार जमा लेता है, फिर सारे द्वीप में घोर सांसारिकता फैलाता है। राजनीति और कूटचक्रों का जन्म होता है। द्वीप वालों में ऐहिकता, विलासिता और नवीन भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि होती है। धीरे-धीरे पुरातन सन्तोष-प्रधान संस्कृति विलुप्त हो जाती है और नवीन सभ्यता के साथ हाहाकार, युद्ध और दरिद्रता का तांडव-नृत्य होने लगता है। अन्त में कामना अपने वाग्दत्त पति संतोप और उसके मित्र विवेक की ओर फिर लौटती है। पुनः कामना और सन्तोष का संयोग होता है और विलास तथा लालसा का इंद्रजाल टूट जाता है।

यह स्पष्ट है कि इस कथा के द्वारा नाटककार एक विशेष विचारधारा को स्पष्ट कर रहा है। 'कामना' के द्वारा उसने आधुनिक सभ्यता की चमक-दमक की निर्बलता और कलुषता की ही प्रबल भर्त्सना की है और आदिम तथा प्राकृतिक जीवन की नैसर्गिकता और सरसता को सराहा है। संसार-भर के सारे स्वच्छंदता-वादी (रोमांटिक) कवि और लेखक आदिम मानव-सभ्यता में अपनी कल्पना का स्वर्ग-स्वप्न देख लेते हैं। 'प्रसाद' की प्रतिभा मूलतः स्वच्छंदतावादी है। उन्होंने भी ऐसा ही किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तव में प्रतीकवादी नाटक और प्रतीकवादी नाट्यकला रोमांटिक नाटक और रोमांटिक नाट्यकला की ही एक श्रेणी है। इसी से 'प्रसाद' का यह प्रयत्न भी उनकी मौलिक मनोवृत्ति से अलग नहीं किया जा सकता।

'कामना' में सभ्यता के विकास को आदिम मानव-स्वर्ग का विनाशकारी कहा गया है। नाटक का नीतिवादी स्वर मुखर है। नाटककार मानव-जीवन और उसके भविष्य के लिये कोई नई व्यवस्था उपस्थित नहीं करता परन्तु वह मानव-जीवन

और सभ्यता के आलोचक के रूप में सामने आता है। वह सभ्यता के विघातक परिणामों की ओर संकेत करता है और मनुष्य को एक बार फिर प्रकृति की क्रोड़ में भेजना चाहता है। यह आदिम सभ्यता और प्रकृति की ओर लौटना क्यों ? इसका कारण है आधुनिक वित्त-प्रधान, महाजनी सभ्यता के प्रति उसका असंतोष। पश्चिमी सभ्यता का प्रवेश हमारे हिन्दी-प्रदेश में कुछ देर से हुआ। उन्नीसवी शताब्दी में हमारा बहुत-कुछ पुराना चलता रहा। बीसवीं शताब्दी में इस पुराने से हमारा संबंध विच्छेद होने लगा और समाज में वित्त की प्रधानता हो गई। स्वर्ण, विलास और मदिरा ही सभ्यता के प्रतीक बन गये। इस नये परिवर्तन ने समाज के चिंतकों और भावुक-हृदयों के सामने एक समस्या उत्पन्न कर दी। 'प्रसाद' जीवन की हलचल से दूर रहकर जीवन पर अणुवीक्षणी दृष्टि डालने वाले सूक्ष्मदर्शी कवि थे। उन्होंने देखा पश्चिमी सभ्यता की इस चमक-दमक में देश की जनता बह जायेगी। परन्तु भारत के पास क्या कोई समयोपयोगी दर्शन नहीं है ? 'कामना' और 'कामायनी' इसी चिंतन के दो पक्ष हैं। 'कामना' विध्वंसात्मक है, 'कामायनी' निर्माणात्मक। 'कामना' के द्वारा 'प्रसाद' ने पाश्चात्य सभ्यता के छल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया, 'कामायनी' द्वारा उन्होंने भारतीय समाज को ज्ञान-कर्म-भाव समुच्चय का नया जीवनदर्शन दिया। 'अजातशत्रु' (१९२२) में हम उन्हें पहली बार सशक्त शब्दों में पश्चिमी सभ्यता की आलोचना करते हुए पाते हैं। वाजिरा कहती है—"क्या विप्लव हो रहा है ? प्रकृति से विद्रोह करके नये साधनों के लिये कितना प्रयास होता है। अन्धी जनता अंधेरे में दौड़ लगा रही है। इतनी छीना-झपटी, इतना स्वार्थ-साधन कि सहजप्राय अन्तरात्मा की सुख-शान्ति को भी लोग खो बैठते हैं। भाई भाई से लड़ रहा है, पुत्र पिता से द्रोह कर रहा है, स्त्रियों का पतियों पर प्रेम नहीं, शासन करना चाहती हैं। मनुष्य मनुष्य के प्राण लेने के लिये शस्त्रकला को प्रधान गुण समझने लगा है और उन गाथाओं को लेकर कवि कल्पना करते हैं, बर्बर रक्त में और भी उष्णता उत्पन्न करते हैं।" यह केवल एक अग्निस्फुलिंग-मात्र था। 'कामना' में 'प्रसाद' ने व्यापक रूप से मानव-सभ्यता के जन्म और विकास का चित्र उपस्थित किया है और भौतिक सुख-कामना से प्रवाहित मानव के सामने नैसर्गिक जीवन की शान्ति का इशारा किया है। जहाँ सभ्यता का अर्थ ही स्वर्ण, विलास और मदिरा हो, वहाँ स्वार्थ, अधिकार-लिप्सा, राजनैतिक द्वन्द्व, अनियम-युद्ध, हत्या और अविश्वास का राज्य नहीं होगा तो और क्या होगा ? प्रकृति के अखण्ड राज्य में मंगल था, शान्ति थी, स्वास्थ्य था, आनन्द था। आधुनिक मानव ने अपने जीवन में प्रकृति का स्पर्श खो दिया है। विज्ञान ने उसके सामने भौतिक सुख के साधन उपस्थित किये हैं और उन्हीं को वह सभ्यता मानने लगा है। प्रकृति से हटकर मनुष्य

के जीवन का विकेन्द्रीकरण हो गया है और उसकी अनीतिमूलकता उसे मृत्यु की ओर लिये जा रही है।

यह भी स्पष्ट है कि 'प्रसाद' इस नाटक में आधुनिक सभ्यता पर व्यंग कस रहे हैं। उन्होंने अपने व्यंग को एक अत्यन्त संगठित कथानक में गूँथ दिया है जिससे इस व्यंग की तीव्रता कुछ कम हो गई है, परन्तु इससे व्यंग का महत्व और भी बढ़ जाता है। द्वीप का वातावरण पूर्ण-रूप से प्रकृतिनिष्ठ है। संगीत, स्वच्छंद-प्रेम, फूलों, नदियों और भोले-भाले कुमार-कुमारियों के निश्छल संलाप से नाटक का आरम्भ होता है। अभी उन्होंने सभ्यता का छल नहीं सीखा है। 'उन्हें तारा-पुत्र कहो, स्वर्ग की संतान कहो या अमृत-पुत्र—वे धन्य हैं। सभ्यता के विकास के साथ दुःख, शोक, निर्धनता, वर्ग-चेतना और सैनिक-नियंत्रण का पदार्पण होता है। नाटक के अन्त में द्वीप की रानी अपने मुकुट को उतार फेंकती है। सभ्यता का यह विलास और स्वर्ग का वातावरण तथा मानवी प्रकृति का यह उपहास उसके लिए असहनीय हो जाता है। अन्त में विवेक आता है। इस तरह कथा साधारण पात्र-पात्रियों के द्वन्द्व से ऊपर उठकर सार्वभौमिकता प्राप्त कर लेती है और मानव के साधारण जीवन से उसकी प्रवृत्तियों में प्रवेश करती है।

नाटक के सारे पात्र प्रतीकात्मक हैं। उनमें चारित्रिक विकास के लिये अधिक गुंजाइश नहीं है। विलास जीवन की लालसा-प्रधान प्रवृत्तियों का प्रतीक है, विवेक युग-युग की संचित मनुष्य की ज्ञान-परम्परा का प्रतीक है, सन्तोष मानव की मूल शांति का प्रतीक है। 'कामना' में जीवन की उत्कट इच्छा पात्र-रूप में उपस्थित है, 'करुणा' में मानव की सार्वभौमिक सहवेदना की भावना और लीला में मनुष्य की हास-विलासमय निश्चित प्रकृति का आरोप है। इन प्रतीकों के द्वारा नाटककार जीवन के सत्य को नाटकीय रूप देने का प्रयत्न करता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी कोटि की रचनाओं में यह रचना शीर्ष-स्थान को प्राप्त कर सकेगी।

'एक घूँट' को हम वास्तव में प्रतीक नाटक नहीं कह सकते। उसमें पात्र जीते-जागते स्त्री-पुरुष हैं, यद्यपि वे किसी विशेष विचार या दृष्टिकोण को लेकर ही उपस्थित होते हैं, परन्तु कथा की अपेक्षा दृष्टिकोण या विचार की ओर अधिक आग्रह हमें उसी प्रकार यहाँ मिलता है जिस प्रकार 'कामना' में और सन्देश की व्यापकता और सार्वभौमिकता भी उसी प्रकार की है। अतः 'प्रसाद' के नाटकों मे यदि उसे किसी नाटक के साथ रखा जा सकता है तो 'कामना' के साथ। विस्तार की दृष्टि से यह एकांकी-मात्र है। दृश्य भी एक ही है। इतनी थोड़ी सी सामग्री से न कथावस्तु का विकास संभव है और न चरित्रों की रूपरेखाएं ही पुष्ट हो सकी हैं। 'प्रसाद' को एक बात कहना है, इसे उन्होंने पात्रों के माध्यम से कहना पसंद किया है। इससे बात के पक्ष-

विपक्ष भली-भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। किसी विशेष कथा-चमत्कार या नाटकीयता का आग्रह इस एकांकी में नहीं है। वास्तव में इस नाटक में 'प्रसाद' ने बंधनों का विरोध किया है और आत्मा में प्रकृतिस्थ आनन्दवाद को ही एक-मात्र सच्ची उपलब्धि बतलाया है। वनलता का एक गीत है :—

**खोल तू अब भी आँखें खोल !**
**जीवन-उदधि हिलोरें लेता उठतीं लहरें लोल।**
**छवि की किरणों से खिल जा तू, अमृतझड़ी सुख से मिल जा तू,**
**इस अनन्त स्वर में मिल जा तू वाणी में मधु घोल।**
**जिससे जाना जाता सब यह, उसे जानने का प्रयत्न, अह !**
**भूल अरे अपने को, मत रह जकड़ा बंधन खोल।**

यही गीत इस एकांकी का प्राण है। इसी में नये आनन्दवाद का संदेश निहित है। उत्तर 'प्रसाद' भाग्यवादी नहीं है। आनन्दवादी हैं। 'कामायनी' और 'इरावती' में उन्होंने अपने आनन्दवाद को एक अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक दृष्टि दी है। कदाचित् इसकी रूपरेखा उनके मन में 'एक घूँट' लिखते समय थी, परन्तु उसने किसी सुस्पष्ट दर्शन का रूप ग्रहण नहीं किया था। 'इरावती' में भी आनन्दवाद का प्रतीक आनन्द नाम का भिक्षु ही है। यहां भी हम आनन्द नाम के एक स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक से परिचय प्राप्त करते है। वह तो किसी भी बंधन में नहीं बँधना चाहता —विवाह भी उसके लिए एक बंधन ही है। प्रेमलता और मुकुल से अपने आनन्दवाद की व्याख्या करता हुआ वह कहता है—'जैसे उजली धूप हमको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की शुद्ध प्रेरणा फूलों की पंखड़ियों को गद्गद कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है वैसे ही जीवन की निरन्तर परिस्थिति होनी चाहिये। जीवन की झंझट और आकांक्षाएं यदि इस आनन्दवाद के बीच मे पड़ें तो उन्हें पुचकार दो, सहला दो, तब भी न मानें, तो किसी एक का पक्ष न लो। बहुत संभव है कि वह आपस में लड़ जायें और तुम तटस्थ दर्शक-मात्र बन जाओ और खिल-खिलाकर हँसते हुए वह दृश्य देख सको।' आत्मा का स्वास्थ्य, सौंदर्य और सारल्य प्रेम की स्वतन्त्रता में ही है। प्रेम के क्षेत्र में अबाधता और स्वच्छंदता ही एकमात्र नियम हैं। इस विचारधारा के अनुसार विवाह और एक पति-पत्नी व्रत भी आत्मा के बंधन बन जाते हैं और स्वच्छंद प्रेम ही मानव का एक-मात्र लक्ष्य बन जाता है।

परन्तु स्वयं 'प्रसाद' कदाचित् यह जानते हैं कि यह अतिवाद है और आनंद-वाद का स्वस्थ और सुन्दर रूप नहीं है। इसी से स्वतन्त्र प्रेम का प्रचारक आनन्द प्रेमलता के परिणय-सूत्र में बंध जाता है और अपनी भूल समझ लेता है। वर्तमान

युग में नर-नारी के यौनाकर्षण को प्राकृतिक धर्म मानकर वैवाहिक बंधनों के स्थान पर अबाध यौनसंगम की जो पुकार उठी है, जान पड़ता है, इस एकांकी द्वारा 'प्रसाद' ने उस विचारधारा के समर्थकों पर व्यंग किया है। परन्तु यह व्यंग्य तो नाटकीय परिणति के द्वारा ही हमारे सामने आता है। इस व्यंग्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। वह है 'प्रसाद' के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन। वह दु:खवाद को छोड़कर आगे बढ़ आये हैं। उनका पूरवर्ती साहित्य नियतिवाद और दु:खवाद से पूर्ण है और इनका ऐसा घटाटोप है कि इसके लिए 'प्रसाद' लांछित किये जाते रहे हैं। यहाँ हम पहली बार दूसरा स्वर सुनते हैं कि—'यह जो दु:खवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है उसका रहस्य क्या है; डर उत्पन्न करना, विभीषिका फैलाना जिससे स्निग्ध गम्भीर जल में अबाध गति से तैरने वाली मछली-सी विश्वसागर की मानवता चारों ओर जाल-ही-जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे, सबसे भयभीत, सबसे सशंक।' 'इरावती' में आनन्द बौद्ध-भिक्षुओं के क्षणिकवाद और दु:खवाद को स्पष्ट रूप से भर्त्सना का लक्ष्य बनाता है। यह स्पष्ट है कि अब 'प्रसाद' ने यह जान लिया है कि दु:खवाद ही एकमात्र परिस्थिति का हल नहीं है। यह चारों ओर जो विराट दु:ख का सागर फैला है, उसे एक दूसरी नाव पर भी पार किया जा सकता है। यही से उनके आनन्दवाद का जन्म होता है और यहीं से वह जीवन के जीने का स्वप्न देखना प्रारम्भ करते हैं।

इस आनंदवाद की भित्ति है सौन्दर्यवाद। जीवन के लक्ष्य के संबंध में विवेचना करता हुआ आनन्द कहता है—'विश्वचेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है। जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ, अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकता है। दु:ख की कल्पना करना ही इस सौन्दर्य को मलिन बना देता है।' मुकुल पूछता है—'तो क्या फिर दु:ख नाम की कोई वस्तु ही नहीं है?' इस पर आनंद कहता है—'होगी कहीं। हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दु:ख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दु:खमय है और दु:ख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है? स्पष्ट ही आनंद का यह उल्लेख बौद्ध-चिंतन और बौद्ध-दर्शन की ओर है। यह आनंदवाद कितना सुन्दर है! कितनी सुन्दर बात है। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जाये कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है। दु:ख का चिंतन पाप है। सहवेदना और सहानुभूति भी पाप हैं। इनसे दु:ख की प्रवृत्तियों को ही बल

युग में नर-नारी के यौनाकर्षण को प्राकृतिक धर्म मानकर वैवाहिक बंधनों के स्थान पर अबाध यौनसंगम की जो पुकार उठी है, जान पड़ता है, इस एकांकी द्वारा 'प्रसाद' ने उस विचारधारा के समर्थकों पर व्यंग किया है। परन्तु यह व्यंग्य तो नाटकीय परिणति के द्वारा ही हमारे सामने आता है। इस व्यंग्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। वह है 'प्रसाद' के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन। वह दुःखवाद को छोड़कर आगे बढ़ आये हैं। उनका पूरवर्ती साहित्य नियतिवाद और दुःखवाद से पूर्ण है और इनका ऐसा घटाटोप है कि इसके लिए 'प्रसाद' लांछित किये जाते रहे हैं। यहाँ हम पहली बार दूसरा स्वर सुनते हैं कि—'यह जो दुःखवाद का पचड़ा सब धर्मों ने, दार्शनिकों ने गाया है उसका रहस्य क्या है; डर उत्पन्न करना, विभीषिका फैलाना जिससे स्निग्ध गम्भीर जल में अबाध गति से तैरने वाली मछली-सी विश्वसागर की मानवता चारों ओर जाल-ही-जाल देखे, उसे जल न दिखाई पड़े; वह डरी हुई, संकुचित-सी अपने लिए सदैव कोई रक्षा की जगह खोजती रहे, सबसे भयभीत, सबसे सशंक।' 'इरावती' में आनन्द बौद्ध-भिक्षुओं के क्षणिकवाद और दुःखवाद को स्पष्ट रूप से भर्त्सना का लक्ष्य बनाता है। यह स्पष्ट है कि अब 'प्रसाद' ने यह जान लिया है कि दुःखवाद ही एकमात्र परिस्थिति का हल नहीं है। यह चारों ओर जो विराट दुःख का सागर फैला है, उसे एक दूसरी नाव पर भी पार किया जा सकता है। यहीं से उनके आनन्दवाद का जन्म होता है और यहीं से वह जीवन के जीने का स्वप्न देखना प्रारम्भ करते हैं।

इस आनंदवाद की भित्ति है सौन्दर्यवाद। जीवन के लक्ष्य के संबंध में विवेचना करता हुआ आनन्द कहता है—'विश्वचेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम जीवन है। जीवन का लक्ष्य सौन्दर्य है, क्योंकि आनंदमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ, अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकता है। दुःख की कल्पना करना ही इस सौन्दर्य को मलिन बना देता है।' मुकुल पूछता है—'तो क्या फिर दुःख नाम की कोई वस्तु ही नहीं है?' इस पर आनंद कहता है—'होगी कहीं। हम लोग उसे खोज निकालने का प्रयत्न क्यों करें? अपने काल्पनिक अभाव, शोक, ग्लानि और दुःख के काजल आँखों के आँसू में घोल कर सृष्टि के सुन्दर कपोलों को क्यों कलुषित करें? मैं उन दार्शनिकों से मतभेद रखता हूँ जो यह कहते आये हैं कि संसार दुःखमय है और दुःख के नाश का उपाय सोचना ही पुरुषार्थ है? स्पष्ट ही आनंद का यह उल्लेख बौद्ध-चिंतन और बौद्ध-दर्शन की ओर है। यह आनंदवाद कितना सुन्दर है! कितनी सुन्दर बात है। यदि मनुष्य को यह विश्वास हो जाये कि मानव-जीवन की मूल सत्ता में आनंद है। दुःख का चिंतन पाप है। सहवेदना और सहानुभूति भी पाप हैं। इनसे दुःख की प्रवृत्तियों को ही बल

मिलता है। हम आनंद को ही जीवन का लक्ष्य मान कर चलें तो कितना सुख हो, कितनी शांति हो!' इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि 'एक घूंट' (१६२६) कवि की नई सांस्कृतिक और दार्शनिक खोज का प्रतीक है। 'कामायनी', 'इरावती' और 'इंद्र'-संबंधी निबन्ध की विचारधारा की पूर्व-भूमि हमें इसी नाटक में मिलती है।

नाटक की कथा इस प्रकार है—अरुणाचल नाम के एक सुन्दर, प्राकृतिक दृश्यपूर्ण प्रदेश में कुछ मित्रों ने आश्रम खोल रक्खा है। यह वास्तव में ब्रह्मचर्याश्रम हैं। यहाँ संयम, संतोष और सरल जीवन का पाठ पढ़ाया जाता है। मुकुल, कवि-रसाल, वनलता और प्रेमलता इस आश्रम के प्रमुख व्यक्ति हैं। कुछ भक्त भी हैं जिन्होंने आश्रम के आदर्शवाद को स्वीकार कर लिया है। सारा आयोजन सुचारु रूप से चलता है। परन्तु अचानक आनंद का प्रचारक आनंद वहाँ आ जाता है। आश्रम की जड़, यांत्रिक और अनुभूतिशून्य व्यवस्था उसे अच्छी नहीं लगती। पहले-पहल आश्रम-वासी उसकी विचारधारा और उसके उच्छृंखल स्वाभाव का विरोध करते हैं, परन्तु अन्त में वे उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। कवि रसाल, जो अब तक संयम और संतोष का गाना गा रहे थे, उनका स्वर बदल जाता है। स्वयं उनकी पत्नी उनके इस परिवर्तन को देखकर आश्चर्य-चकित होती है। धीरे-धीरे आश्रम के जड़ वातावरण में स्निग्धता आती है। जड़ उपयोगितावाद का प्रतीक विदूषक सब के हास्य और तिरस्कार का पात्र बन जाता है। परन्तु स्वयं आनंद भी सदैव मुक्त और उच्छृंखल नहीं बना रह पाता। वह प्रेमलता के प्रेम-जाल में बन्दी हो जाता है। नाटक के अन्त में हम देखते हैं कि पात्रों ने जीवन को सरल रूप में ग्रहण करना सीख लिया है। प्राकृतिक जीवन के उन्मुक्त उपयोग के प्रति उनकी उदासीनता जाती रही है। विशुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण जीवन की आनंदमयी स्वीकृति में बदल गया है।

जैसा हम पीछे कह चुके हैं, इस कथा में विशेष आकर्षण नहीं है। पात्रों की चारित्रिक रूप-रेखा किंचित-मात्र भी नहीं उभरती। ऐसा जान पड़ता है कि वे केवल नाटककार के सिद्धांतों के प्रतीक है और उनसे परे उनका व्यक्तित्व है ही नहीं। वस्तुतः 'कामना' की भाँति यहाँ भी 'प्रसाद' के हाथ बधे हैं और वे अपनी चरित्र-निर्माण-प्रतिभा का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। 'कामना' में पात्रों के नाम से यह प्रगट हो जाता है कि वह किस प्रवृति के प्रतीक हैं। यहाँ नाम-धाम, रूप-रंग मानवीय हैं, परंतु पात्र कठपुतलियों की तरह बाहरी सूत्रों से परिचालित हैं। उनमें कर्तृत्व कुछ भी नहीं है। परन्तु सच तो यह है कि 'कामना' और 'एक घूंट' दोनों 'प्रसाद' की महत्वपूर्ण नाटयकृतियाँ न होने पर भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इन दोनों रचनाओं में हमें कलाकार का चिंतन-पक्ष स्पष्ट रूप से उद्भासित दिखाई देता है। 'कामना' में

पश्चिमी सभ्यता की धनलिप्सा और मार्मिक-मदिरा प्रियता का विरोध है। भारत के उज्ज्वल अतीत के जो चित्र 'प्रसाद' के प्रौढ़ ऐतिहासिक नाटकों में मिलते हैं, उनसे जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की चहल-पहल उन्हें एक दम अर्थशून्य दिखाई पड़ती है। 'एक घूँट' में पश्चिमी सभ्यता का एक विरोधी-पक्ष चित्रित है। यहाँ सरलता और प्राकृतिक जीवन की ओर इतना आग्रह है कि वह अतिवाद बन गया है। 'प्रसाद' इसको जीवन के स्वाभाविक विकास के लिए अभिनंदनीय नहीं मानते। उनके अनंदवाद का एक पहलू यहाँ समाधान के रूप में दिखाई देता है। 'कामायनी' में आनंदवाद के आध्यात्मिक और रहस्यवादी पक्ष पर विशेष बल है। यहाँ उसके प्राकृतिक पक्ष को अधिक उभारा गया है। प्रकृति के विरोध से मानव-मन अपने भीतर विरोधों की सृष्टि कर सकता है, उसे जड़ता और अंधकार से भर सकता है, परन्तु जीवन की परिपूर्ण उपलब्धि उसे इस तरह प्राप्त नहीं हो सकती। जिस दिन उपचेतन इन विरोधों से विरोधी हो उठता है और उसके भीतर एक महान् विस्फोट का सृजन होता है उस दिन वह आश्चर्यचकित हो जाता है। प्रेमलता में यही आश्चर्य-सृजन दिखलाई पड़ता है। इस रहस्य को न समझकर वह फूट पड़ती है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'कामना' और 'एक घूंट' 'प्रसाद' की प्रतिक्रिया के दो रूप हैं। वह जीवन से भाग कर किसी काल्पनिक मीना-भवन की सृष्टि नहीं करना चाहते थे। जीवन और प्रकृति के उन्मुक्त, आनंदमय उपयोग को ही वह मानव के लिए कल्याणकर मानते थे। इस उपयोग को ही वह मानव के लिए कल्याणप्रद मानते हैं। परंतु इस उपयोग का जो रूप पश्चिमी सभ्यता के रूप में इस देश को आकर्षित कर रहा है, उसे वह महत्व देने के लिए तैयार नहीं थे। यह दैहिक लिप्सा और आत्मिक पतन का मार्ग है।

इन प्रतीक-नाटकों के समक्ष हम हिन्दी और बंगला के कुछ अन्य प्रतीक नाटकों को रख सकते हैं। हिंदी में इस प्रकार की रचना कवि 'पंत' की ज्योत्स्ना (१९३२) है, जिसमें कवि इस पृथ्वी पर जाति-वर्ण-भेद हीन पूर्ण मानव स्वर्ग के निर्माण का आयोजन करता है। इस नाटक में भी आधुनिक मशीनी-सभ्यता के प्रति तीव्र व्यंग्य दिखलाई पड़ता है। उसका सांस्कृतिक और निर्माण-पक्ष 'कामना' की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। स्वप्न और कल्पना के द्वारा उन्होंने एक नये सौन्दर्य–जगत् का इन्द्रजाल बुन दिया है। परन्तु 'कामना' प्रतीकात्मक है, परन्तु प्रतीकात्मक होते हुए भी उसमें रस-सृष्टि है। 'ज्योत्स्ना' जड़ स्थिर मात्र चित्र है। 'एक घूंट' को हम रवि-बाबू की 'चिरकुमार सभा' के साथ रख सकते है, यद्यपि रविबाबू की रचना प्रहसन है और उसमें व्यंग की जो रूपरेखाएँ उभारी गई हैं वह 'प्रसाद' की रचना से अलग हैं। फिर भी दोनों रचनाओं का दृष्टिकोण एक ही है। रवि ठाकुर भी जीवन की संपूर्ण

उपलब्धि के पक्षपाती हैं। अपने जीवन के पूर्वार्द्ध की ही एक रचना 'प्रकृति-प्रतिशोध' में उन्होंने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। इस रचना का नायक एक संन्यासी है जो संसार के समस्त स्नेह-बन्धन तथा प्रकृति के विचित्र आकर्षणों का मायाजाल तोड़ कर इन्द्रियों पर विजयी होना चाहता है। परन्तु अन्त में वह अपनी कठिन तपस्या से विरत हो अज्ञातकुलशीला बालिका के वात्सल्य-रस में डूब कर गा उठता है :—

> आज हो आमि आर नहिर संन्यासी,
> पाषाण संकल्प भार दिये विसर्जन।
> आनन्दे विश्वास फैले संचि एक यार।
> हे विश्व, हे महातरी चलेछ कोथाय,
> आमारे तुलिया लओ तोमार आश्रये—
> एका आमि साँतारिया पारिब ना जेते।
> कोटी-कोटी यात्री ओई जेतेछ चलिया,
> आमियो चलिते चाइ उहादेर साके।
> जे पथे तपन शशी आलो धरे आँछे
> से पथ करिया तुच्छ, से आलो त्याजिया,
> आपनारि क्षुद्र एह खद्योत आलोके।
> केन अंधकारे मरि पथ खूंजे खूंजे।

"आज से (अब) मै संन्यासी नहीं हूँ। संकल्प के पाषाण को विसर्जन कर बच जाने की खुशी में एक बार आनन्द का विश्वास लूँ। हे विश्व, हे महातरी! किधर जाती हो, मुझे अपने आश्रय में ले लो। मैं अकेले तैर कर पार नहीं जा सकूँगा। ये कोटि-कोटि यात्री चले जा रहे हैं। मैं भी उनके ही साथ चलना चाहता हूँ। जो पथ सूर्य और चन्द्र के आलोक से उद्भापित है, उस पथ को तुच्छ समझ कर उस प्रकाश को छोड़ कर, अपने इस खद्योत समान तुच्छ प्रकाश के सहारे कौन इस अंधकार में पथ खोज-खोज कर मरे!" ठीक यही दृष्टिकोण हमें 'एक घूंट' में मिलता है। परन्तु उसकी अभिव्यंजना नाटकीय और मानवीय नहीं हो सकी है। फलतः वह सिद्धान्त-प्रतिपादन-मात्र रह गया है, जीवन की मांसलता उसे नहीं मिल सकी। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों नाटक 'प्रसाद' के साहित्य और चिंतन के दो पथ-चिन्ह हैं और इनसे हमें उनकी विचारधारा को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है, और पता चलता है कि वह युग-चिंता का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। पश्चिमी भौतिकवाद और पूर्वी निवृत्ति-मार्ग के बीच में से एक संतुलित मध्यममार्गी रेखा इन रचनाओं में मिलती दिखाई पड़ती है।

नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' का प्रमुख कर्तृत्व छः ऐतिहासिक नाटक हैं। इनमें से 'विशाख' (१९२६) की कथावस्तु काश्मीर के इतिहास से सम्बंधित होने पर भी प्रेम रोमांस मात्र है। उसे हम 'जनमेजय' और 'राज्य-श्री' के बीच में रख सकते हैं। विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण 'राज्य-श्री' (१९१५), 'अजातशत्रु' (१९२२), स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' (१९२६), 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१) और 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३६) में ही मिलता है। इन सभी रचनाओं को हम एक साथ भी ले सकते हैं। इन ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास का वैभव तो है ही, काव्य-कला और नाटकीय भंगिमाओं के साथ चारित्रिक बंधान भी अत्यंत उच्च कोटि का है। उसमें हम भारतेन्दु और द्विजेन्द्रलाल राय की नाटकीय कला का परवर्ती विकास पाते हैं। भारतेन्दु की अधिकांश शक्ति अनुवाद और रूपक में लग गई है। उनके सात नाटक संस्कृत से अनूदित या संस्कृत-नाटकों पर आश्रित हैं। दो बंगाली नाटकों पर आधरित हैं और एक शेक्सपिअर के नाटक का रूपान्तर है। मौलिक नाटकों में से दो (प्रेम-योगिनी, सती-प्रताप) अपूर्ण हैं। शेष छः मौलिक नाटकों में से तीन (वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, अंधेर नगरी) प्रहसन हैं, एक ऐतिहासिक (नीलदेवी), एक प्रेम, रोमांस या गीतिनाटच (चन्द्रावली) और एक सामयिक राष्ट्रीय भावना-प्रधान रूपकात्मक रचना (भारतेन्दु दुर्दशा)। यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' की रचनाएँ इन नाटकों से भिन्न श्रेणी की चीजें हैं। इसी से उन्हें अपनी कला की रूपरेखा स्वतः गढ़नी पड़ी है। 'विशाख' (१९२१) में हमें भारतेन्दु की नाटचकला के चिन्ह मिलते हैं, परन्तु अन्य नाटकों में इस प्रकार की कोई चीज़ नहीं मिलती। यह अवश्य है कि 'प्रसाद' भी भारतेन्दु की भाँति नाटक को श्रेष्ठ साहित्यिक रूप देने में समर्थ हैं और भाषाशैली, काव्यतत्त्व, गीतिकला और संवाद के क्षेत्रों मे दोनों ने अत्यत उच्च कोटि की चीजें हिंदी को दी हैं। पारसी नाटकों के उत्कर्ष में जो लोकप्रियता का भाव छिपा था, उसमें साहित्यिक वातावरण प्रस्तुत करना कठिन था। परन्तु 'प्रसाद' उसमें पूर्ण समर्थ हुए। द्विजेन्द्रलालराय के मूल नाटक बंगला में हैं, परन्तु 'प्रसाद' के साहित्य-क्षेत्र में उतरने से पहले ही वे हिन्दी में अनूदित होकर रंगमंचीय लोकप्रियता के कारण उसकी अपनी चीज़ बन गये थे। राय के नाटकों में से एक मूर्खमण्डली प्रहसन है, तीन (उस पार, भीष्म, सीता) पौराणिक हैं, शेष ऐतिहासिक। केवल एक नाटक (चन्द्रगुप्त) को छोड़ कर शेष सब मुस्लिम युग या मध्य युग से सम्बंधित हैं। उनमें नाटचरस बहुत है, परन्तु कहीं-कहीं वे अतिनाटकीयता से दूषित भी हैं। किसी प्रकार की राष्ट्रीय या सांस्कृतिक दृष्टि उनमें दिखाई नहीं पड़ती। शेक्सपिअर की नाटकीय कला के आधार पर उनकी नींव रखी गई है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि द्विजेन्द्रलाल राय

के नाटकों ने ही आधुनिक युग की नाटकीय प्रतिभा को फिर नये रूप से उद्वेलित किया और भारत के विभिन्न प्रांतों और क्षेत्रों में प्रथम नाटकारों ने उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण की। रंगमंचीय उपयोगिता और नाटकीय तत्त्वों के समावेश के कारण ये नाटक भारत-भर में लोकप्रिय रहे हैं और पारसी कम्पनियाँ और उनके नाटककार भी उनके समय से अछूते नहीं रह सके हैं।

इसमें संदेह नहीं की 'प्रसाद' राय के नाटकों से परिपूर्ण परिचित थे, परन्तु उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने नाटकीय विषय और नाटकीय कथा के क्षेत्र में अपनी सीमाएँ बना लीं और उन्हीं को लेकर चले। उनके प्रारंभिक प्रयोगों ने उनका दिशा-निर्देश किया। 'राज्यश्री' और 'विशाख' में हमें भारतेन्दु की कला का प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। 'अजातशत्रु' में विभिन्न ऐतिहासिक सूत्रों के गढ़ने में भी उन्होंने अपनी कला का रूप स्वतन्त्र ढंग से गढ़ा है। स्वगत भाषण, संवाद की काव्यात्मकता, गीतों के समावेश और स्वच्छंदतावादी दृष्टि के कारण 'प्रसाद' के परवर्ती नाटक राय के नाटकों के साथ रखे जा सकते है, परन्तु यह स्पष्ट है कि 'चन्द्रगुप्त मौर्य' को छोड़कर अन्य कोई नाटक राय की रचना से स्पष्ट रूप से प्रभावित नहीं है, और न उसका प्रतिस्पर्द्धी ही है। समान नाटकीय दृष्टि वस्तुतः समान परिस्थितियों के कारण है। दोनों आदर्शवादी-स्वच्छंदतावादी कलाकार हैं और साहित्य-कला के मर्मज्ञ हैं। फलतः नाटकों में बहुत-सी समानताएं स्वतः आ जाती हैं वैसे 'प्रसाद' बौद्ध-युग, मौर्य-युग और गुप्त-युग तक ही रह जाते हैं। उनकी दृष्टि सांस्कृतिक है। वह अतीत में भी वर्तमान की समस्याओं का प्रतिरूप खोज लेते हैं और उनका समाधान उपस्थित करते हैं। केवल-मात्र नाटकीय कला उनका ध्येय नहीं है। 'राज्य-श्री' 'विशाख' और 'अजातशत्रु' में एक तरह मैत्री और करुणा-भाव की व्याख्या है। तीनों में साधु-पात्रों के द्वारा हृदय-परिवर्तन की योजना है। राज्य-श्री का 'दिवाकरमित्र', विशाख का 'प्रेमानन्द' और 'अजातशत्रु' के मल्लिका और गौतम एक ही योजना के विभिन्न रूप हैं। 'अजातशत्रु' में ऐतिहासिक तत्त्व अपेक्षाकृत अधिक हैं, परन्तु वस्तु-योजना पिछले दो नाटकों से भिन्न नहीं है और उसमें वह गुम्फन नहीं दिखाई देता जो 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' में मिलता है। इन नाटकों में भी कथावस्तु के केन्द्रीकरण और नाटकीयता की ओर 'प्रसाद' का विशेष आग्रह नहीं है। वह ऐतिहासिक इतिवृत्त की शृंखला अथवा क्रमबद्धता अक्षुण्ण रखते हैं और उसके भीतर ही नाटकीय परिस्थितियों की योजना करते हैं। यह कला का स्वच्छंदतावादी रूप है। राय के नाटकों में हमें वस्तु बहुत संगठित रूप में प्राप्त होती है। 'प्रसाद' की प्रतिभा काव्यात्मक अधिक है और वह इतिहास के ढाँचे के भीतर ही कल्पना-द्वारा सब कुछ ढूँढ़ लेना चाहती है। एक तरह से उसकी ऐतिहासिक

सचाई कभी-कभी नाटकीय रस में बाधक भी हुई है। कलात्मक दृष्टि से संगठित कथानक हमें केवल 'ध्रुवस्वामिनी' (१६३६) में मिलता है। 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में नायकों का सम्पूर्ण जीवन ही नाटक बन गया है। फल-स्वरूप देश-काल में उसकी विस्तृति इतनी अधिक होगई है कि वह नायक के व्यक्तित्व में ही सिमट सकती है। अन्य किसी भी प्रकार इस विस्तृत नाट्य-सामग्री को एक केन्द्र पर लाना कठिन है।

फिर भी यह क्या कम है कि 'प्रसाद' के इन ऐतिहासिक नाटकों में ऐसे तत्त्व हैं जो उस समय तक हिन्दी नाटक में अप्राप्य थे और जो कालान्तर तक हिंदी भाषा-भाषी जनता को आनन्दित करते रहेंगे। इन नाटकों की मधुमयी, संस्कृत-गर्भित भाषा-शैली, उनका काव्य-तत्त्व, उनका वैभव-स्वप्न—सब कुछ अपूर्व है। अतीत को जगाने की पूरी सामर्थ्य उनमें है। इन नाटकों में अनेक प्रणय-सूत्र गुंफित हैं और बलिदान, ईर्ष्या, द्वेष, छलना और घृणा की अनेक कहानियाँ उभर आई हैं। 'राज्यश्री', 'विशाख', और 'अजातशत्रु' में 'प्रसाद' भौतिक मद से आकुल मानवता को करुणा और मैत्री का संदेश देते हैं और भगवान् बुद्ध और हर्ष की महामती मैत्री-भावना की ओर संकेत करते हैं। 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में देश को एक सूत्र में बाँधने का महान प्रयत्न है। राष्ट्रीय महायज्ञ में ये नाटक 'प्रसाद' की आहुतियाँ हैं। इनमें दो ऐतिहासिक प्रतिमाओं के विकास के सूत्र इकट्ठे किये गये है। इनकी चित्रपटी देशव्यापी है और एक तरह से आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना इनमें पूर्णतया परिव्याप्त है। 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रणय और मोक्ष की समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि दी गई है और इतिहास के एक खोये हुए पृष्ठ का पुनर्निर्माण किया गया है। 'प्रसाद' अपने नाटक की कथा और उसके पात्रों के व्यक्तित्व में पूर्ण से खो जाते हैं और उनके नाटक इतिहास-रस और नाटकीय-रस का ऐसा संतुलन उपस्थित करते हैं कि हमें आश्चर्य होता है। उनके नाटकों में प्राचीनता और नवीनता का सामंजस्य प्रथम बार हमें मिलता है।

पहले हम इन नाटकों की कथावस्तु पर विचार करेंगे :—

'विशाख' की कथावस्तु कल्हण की 'राजतरंगिणी' से ली गई है। 'प्रसाद' के प्रारम्भिक रचना-काल में 'राजतरंगिणी' ऐतिहासिकों की नई खोज थी और कदाचित् 'प्रसाद' इसीलिये उसकी ओर आकर्षित हुए। यह आश्चर्य का विषय है कि उन्होने 'राजतरंगिणी' से एक अत्यन्त शिथिल कथावस्तु चुनी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण भी नहीं है। ऐतिहासिक तथ्य कम होने के कारण कथावस्तु में कल्पना के विस्तार का अवकाश था। फलतः हमें यहाँ 'प्रसाद' की नवीन योजना बहुत अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ती है। कथा का सम्बन्ध द्वितीय विभीषण के पुत्र

नरदेव से है। उसके सम्बन्ध में दो ऐतिहासिक तत्व मिलते हैं :

(१) किन्नर ग्राम का बौद्ध श्रमण उसकी रानी को कुपथ पर ले गया जिससे राजा की हिंसक-वृत्ति जाग उठी और उसने बौद्ध-विहारों को जलवाकर उनकी भूमि ब्राह्मणों में बाँट दी।

(२) सुश्रुवा नाग की कन्या चन्द्रलेखा ने एक ब्राह्मण-कुमार पर मोहित होकर उसे पति-रूप में वरण किया था। उसके रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर राजा नरदेव भी उस पर आसक्त हो गया। वह आखेट के बहाने उधर आ निकला और दूतों के द्वारा उसने चन्द्रलेखा को प्रेम-निवेदन पहुँचाया। चन्द्रलेखा के अस्वीकार करने पर उसने सैनिकों को उसे बलपूर्वक पकड़ लाने की आज्ञा दी। भय से भाग कर दम्पति ने नागपुर में शरण ली। अन्त में नागों ने ऐसा भीषण युद्ध किया कि नरदेव युद्ध में मारा गया।

यह स्पष्ट है कि इस कथा में न इतिहास की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण है, न इसमें प्रेम-रोमांच के विकास के अवसर हैं। फलतः इसमें प्रबन्ध-योजना के लिये कथा-सूत्रों का विस्तार किया गया है और कुछ आवश्यक सामग्री अपनी ओर से जोड़ी गई है। पात्रों की संख्या कम होने से चरित्र-चित्रण का भी पर्याप्त अवकाश मिला है और एक तरह वह 'राज्यश्री' के पात्रों के चित्रण से कहीं अधिक है।

'विशाख' नाटक का नायक ब्राह्मण कुमार है। वह तक्षशिला का स्नातक है। नगर के बाहर एक खेत में उसका चन्द्रलेखा और उसकी बहिन से परिचय होता है। यह खेत उन्हीं के पिता का है परन्तु क्षत्रिय राजा ने नाग-द्वेष के कारण उसे बौद्ध महन्त को दे दिया है। उसी समय वृद्ध सुश्रुवा नाग वहाँ आ जाता है और भिक्षु उसे दंड के प्रहार से मूर्च्छित कर देता है। उसके अनुचर चन्द्रलेखा को पकड़ ले जाते हैं। विशाख राजा के पास जाना चाहता है परन्तु इसके लिए महापिंगल नाम के राजपुरोहित की सहायता चाहिये। अन्त में राजा न्याय का आश्वासन देता है और स्वयं न्यायालय में उपस्थित होता है। चन्द्रलेखा मुक्त कर दी जाती है और विहार में आग लगा दी जाती है। परन्तु नरदेव चन्द्रलेखा को देखकर प्रथम दृष्टि में ही मुग्ध हो जाता है। चन्द्रलेखा और विशाख दोनों परस्पर प्रेम के परिणय-सूत्र में बँध जाते हैं। इधर महापिंगल की सहायता से राजा चित्रलेखा को अपने अधिकार में कर लेना चाहता है। एक दिन महापिंगल एक चैत्य के पीछे छिपकर पूजार्थी चन्द्रलेखा को नरदेव से प्रेम करने की आज्ञा देता है परन्तु उसका छल खुल जाता है और वह विशाख द्वारा मृत्यु को प्राप्त होता है। विशाख बंदी हो जाता है। वह राजसभा में उपस्थित किया जाता है और अन्त में राज्य से निर्वासित भी कर दिया जाता है। यह घोषणा कर दी जाती है कि बंदिनी-चन्द्रलेखा का न्याय स्थगित रहेगा। परन्तु जनता

कुदृष्टि जानती है और नाग राजमहल को घेर कर उसमें आग लगा देते हैं। और विशाख को लेकर नाग लोग जाते हैं और राजा नरदेव विशाख मानन्द के द्वारा इस अग्निकांड से उद्धार पाता है। अन्तिम दृश्य में उसे र्यों के लिए पश्चात्ताप करते हुए दिखलाकर पटाक्षेप होता है।

नाटक पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार में वस्तु-संयोजन की तिभा है और उसके बल से उसने साधारण से कथानक को इतना सुन्दर ा है। उसने कथा में नये सौष्टव की प्रतिष्ठा की है। प्रेमानन्द के रूप में ाज्यश्री' के दिवाकर मित्र की पुनरावृत्ति की है और कथा के सारे सूत्र उसके ग्रौर मैत्री के संदेश में अंतर्भुक्त हैं। 'राज्यश्री', 'विशाख' और 'अजातशत्रु' -परिवर्तन को नाटकीय परिणति बना दिया गया है और इसके लिए एक अति- की कल्पना की गई है जो विरोधी परिस्थितियों के बीच मे शांति के बीज है। इस प्रकार 'राज्यश्री' में योजना की सफलता है। 'प्रसाद' ने बाद को इसे ाटकीय कला का एक अंग ही बना लिया। इसमें संदेह नहीं कि यह योजना ीय और अमनोवैज्ञानिक है और इसमें पात्रों के आत्म-संघर्ष की हानि होती है स्पष्ट है कि इस नाटक में जनशांति के उस जागरण के चिन्ह मिलते हैं जो ी के द्वारा भारतीय जीवन में उस समय प्रवेश पा गये थे और प्रेमानन्द तो ा एक संक्षिप्त संस्करण जान पड़ता है। जान पड़ता है कथा-संगठन के समय ने भारतेन्दु की कला और पारसी रंगमंच को ध्यान में रखा है। प्रेम-प्रसंग ण में वह उन्हीं का अनुकरण करते हैं और महापिंगल और तरला वार्ता में रंगमंच की अनुकृति है। फिर भी, कथा में जनरंजन के तत्व काफी हैं और पर वह अवश्य ही लोकप्रिय हो सकती है। चरित्र-चित्रण से यह रचना अभी मक ही है। केवल मनोरंजक कथा-सूत्रों के द्वारा ही लेखक इस रचना को बना सका है विशुद्ध ऐतिहासिक तत्वों का रचना में अभाव है और उस प्रतिभा चित्-मात्र भी दर्शन नहीं होते जो उनके बड़े ऐतिहासिक नाटकों का गौरव है।

'राज्यश्री' को हम विशुद्ध रूप से ऐतिहासिक उपन्यास कह सकते हैं। स्वयं ' ने उसे अपना 'प्रथम ऐतिहासिक रूपक' कहा है। इस नाटक का प्रारंभिक वास्तव में विशुद्ध इतिहास ही था। दूसरे संस्करण में प्रसाद' ने शांतिदेव टघोष) और सूरमा के प्रेम और घृणा-द्वेष की कल्पित कहानी जोड़कर इसे रूप दे दिया। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी कथा की इस रूप-रेखा से परिचित नाटक में ऐतिहासिक कथा का कोई विकास नहीं है। वह तीव्र गति से चलती है कार इतिहास के उल्लेखों और प्रसंगों से परिचित है, किन्तु न तो वह कथा को ीयता दे सका है, न घटनाओं को विशेष विस्तार और न पात्रों को व्यक्तित्व

सहज कथा-रस भी कहीं-कहीं भंग हो जाता है और प्रेक्षक आश्चर्य में पड़ जाता है। नाटक के आरम्भ में 'प्रसाद' ने विस्तृत भूमिका जोड़ दी है जिससे इस दिशा में उनके परिश्रम की सूचना मिलती है, परन्तु सारे नाटक में केवल राज्यश्री की ही व्याप्ति है और इससे नाटक पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त नहीं होता।

उत्पाद्य सामग्री शांतिदेव, सूरमा और राज्यश्री से सम्बंधित है। सूरमा शांतिदेव से प्रेम करती है, परन्तु भिक्षु शांतिदेव धन चाहता है। वह धन की लालसा से राज्यश्री के पास जाता है परन्तु उसके रूप पर आसक्त होकर भिक्षा लेना भी अस्वीकार कर देता है। राज्यश्री उसे अप्राप्य है। इसलिये वह अपने जीवन को बड़े जोखम में डाल देता है। वह साहसिक बन जाता है। उसके पतन की कोई सीमा नहीं है। वह कुमार राज्यवर्द्धन की हत्या करता है। राज्यश्री को अप्राप्य समझकर वह उसे संसार से ही हटाना चाहता है। परन्तु राज्यश्री की क्षमा उसे बदल देती है। वह काषाय धारण कर लेता है। सूरमा और राज्यश्री को लेकर शांतिदेव के हृदय में थोड़ा संघर्ष भी चला है, परन्तु नाटककार ने उसे विकसित नहीं होने दिया। वस्तुतः राज्यश्री के प्रति शांतिदेव का प्रेम एकांगी है, राज्यश्री उसे जानती भी नहीं। फलतः नाटकीय दृष्टि से उसका विशेष मूल्य नहीं है।

दिवाकर मिश्र और राज्यश्री में 'प्रसाद' ने करुणा की वह प्रतिमूर्ति देखी है जो 'विशाख' में प्रेमानन्द और 'अजातशत्रु' मे गौतम और 'मल्लिका' में मिलती है। नाटक के अन्त में एक सकेत गायन इस प्रकार है:—

**करुणा-कादम्बिनि बरसे—**
**दुख से जली हुई यह धरणी प्रमुदित हो सरसे।**
**प्रेम प्रचार रहे जगतीतल, दया दान दरसे।**
**मिटे कलह शुभशांति प्रगट हो अचर और चर से।**

यही 'प्रसाद' के इन प्रारम्भिक नाटकों की केन्द्रीय भावना है और कथावस्तु केवल साधन-मात्र है। फिर भी 'राज्यश्री' के परिवर्द्धित संस्करण का पहला अंक नाटकीय कला का बहुत सुन्दर रूप उपस्थित करता है।

'अजातशत्रु' में ऐतिहासिक चित्रपटी और भी विस्तृत दिखलाई पड़ती है। उसकी कहानी का सम्बन्ध उस समय के मध्यभारत के चार राष्ट्रों में से है जो परस्पर सम्बन्ध-सूत्र में बंधे है—कोशल, मगध, वत्स या कौशाम्बी और अवंती। अजातशत्रु का सम्बन्ध मगध से था। कोशलराज प्रसेनजित् की बहन वासवी मगधराज बिंबसार से विवाही थी। मगध की राजकुमारी पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के महाराज उदयन से हुआ था। अवन्ती की राजकुमारी वासवदत्ता इसी उदयन की बड़ी रानी थी। अवन्ती का कोई प्रसंग कथा-सूत्रों में नहीं आया है। कथावस्तु प्रमुख रूप से केवल

मगध, कौशल और कौशाम्बी से सम्बन्धित है। कौशाम्बी की कथा भी बहुत थोड़ी है उसे हम प्रासंगिक कथा-वस्तु भी नहीं कह सकते। उसे सफलता से हटाया जा सकता था। कदाचित् 'प्रसाद' सारी उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री को उपयोग में लाने का मोह नहीं छोड़ सके हैं और इस प्रकार से कथा की एकसूत्रता पर आघात हुआ है।

नाटक में पाँच कथासूत्रों को एक कथानक में गूँथने का प्रयत्न किया गया है। ये चारों कथासूत्र स्वतंत्र हैं और इनमें से किसी को पताका या प्रकरी इत्यादि नहीं कहा जा सकता। उदयन-पद्मावती की कथा को छोड़ दें तो शेष सूत्र इस प्रकार है:—

१—अजात का कौटुम्बिक कथा-सूत्र जिसका नायक स्वयं अजातशत्रु है।

२—कोशल का कौटुम्बिक कथा-सूत्र, जिसका नायक विरुद्धक है, जो पिता से तिरस्कृत होकर शैलेन्द्र नाम धारण कर लेता है और काशी का प्रसिद्ध साहसिक डाकू शैलेन्द्र बन जाता है।

३—प्रसेनजित् और बंधुल को लेकर भी एक प्रासंगिक कथा-सूत्र उठ खड़ा होता है। मल्लिका इस कथासूत्र की नायिका है और वह लगभग सभी उपकथाओं से संबंधित है।

४—गौतम और मागंधी की कथा। मागंधी गौतम से तिरस्कृत होकर उदयन की रानी श्यामा और बाद को अंबपाली बन जाती है। मागंधी की दिव्यगति और गौतम को सर्वस्वदान के रूप में इस कथासूत्र की समाप्ति होती है।

५—गौतम और देवदत्त-सम्बन्धी कथा-सूत्र की सारे नाटक में व्यापक रूप से यद्यपि अपरोक्ष में, इस सूत्र की उपस्थिति मिलती है। अजात और छलना देवदत्त के गौतम-विरोधी चक्र के ही सब अंग बन जाते हैं। दुर्घटना द्वारा देवदत्त की मृत्यु से यह कुचक्र समाप्त हो जाता है और इस प्रकार अजातशत्रु नाटक के कथा-वस्तु की समाप्ति होती है।

अधिकाधिक कथावस्तु अजातशत्रु की कहानी है। इस कहानी में एक ओर हैं बिंबसार, वासवी और पद्मावती तथा दूसरी ओर अजात और छलना। पहले दो दृश्यों से ही हम इनके चरित्रों से परिचित हो जाते हैं। छलना में राजलिप्सा है, वह अपने पुत्र को महत्वाकाँक्षी कठोर शासक के रूप में देखना चाहती है। परन्तु बिंबसार इसमें बाधक है। वह युवराज राज्यभिषेक के लिए तैयार नहीं। अंत में वासवी और गौतम के कहने से वह तैयार हो जाता है। हमें सूचना मिलती है कि अजातशत्रु युवराज-पद पर प्रतिष्ठित हो गया और बिंबसार तथा छलना वानप्रस्थी बन कर कुटिया में रहने लगे हैं। परंतु इससे परिस्थिति विशेष सुलझती नहीं। छलना और अजात को वासवी और बिंबसार की ओर से शंका है कारण भी कुछ ऐसे उपस्थित हो

जाते हैं कि यह शंका दृढ़ हो जाती है। पहले दृश्य से ही हमें पता लगता है कि अजात क्रूर कर्मी है। वह भिक्षुओं को लौटा देता है, बिंबसार का दाय बंद कर देता है। इसमें बिंबसार को क्षोभ होता। वासवी शुद्ध हृदय से एक हल सुझाती है। मगध के अंतर्गत काशी का प्रांत उसका दायज है। उसके राजस्व की व्यवस्था ऐसी रहे कि वह उसे मिले। तब बिंबसार दानादि के लिए परतंत्र नहीं रहेंगे। कोषाध्यक्ष सुदत्त कौशल आया है। उसके द्वारा वह भाई को समाचार देगी।

सुदत्त से समाचार सुनकर कोशलराज प्रसेनजित् काशी के दण्डनायक और प्रजा के पास यह आदेश भेजते हैं। अजातशत्रु उसे पिता का विद्रोह समझता है और सेना लेकर कोशल पर आक्रमण करता है। काशी पर मगध का अधिकार हो जाता है।

परन्तु कोशल इस अपमान को यों ही नहीं पी लेता। उदयन के साथ मिलकर वह फिर आक्रमण करता है। इस बार अजात बन्दी होकर कोशल के बन्दीगृह में आ जाते हैं। यहाँ कोशलकुमारी वाजिरा से परिचय होता है। प्रेम का जन्म होता है। इस प्रेम से अजात की वृत्तियों का संस्कार हो जाता है।

मगध में बिम्बसार और वासवी लगभग बंदी हैं। जब अजात के बंदी होने के समाचार मिलते हैं तो छलना का वात्सल्य उमड़ता है। वह वासवी के प्रति क्रुद्ध है, परन्तु वासवी क्षमा की देवी है। वह कोशल जाकर अजात को छुड़ा देती है। अजात वहीं रह जाता है। बाजिरा से उसका विवाह सम्पन्न होता है। कुछ दिनों के बाद जब अजात के पुत्र का जन्म होता है तब उसे पितृ-प्रेम का पता चलता है और वह पिता से क्षमा माँगने जाता है, परन्तु इस समय बिंबसार रोग-शय्या पर पड़े-पड़े मृत्यु के निकट पहुँच चुका है। उभय पक्षों का मिलन होता है और गौतम के अभय-दान के साथ पटाक्षेप। अन्तिम दृश्य के पटाक्षेप के साथ हम बिंबसार को लड़खड़ाते पाते हैं, परन्तु नाटक दुखांत नहीं कहा जा सकता। बिंबसार को अलौकिक शांति का लाभ हुआ है। पारिवारिक समस्या सुलझ गई है। गौतम के अभयदान की छाया उसे मिली है, फिर दुःखांत कैसा?

परन्तु इस पिता-पुत्र के संघर्ष में मनोवैज्ञानिक तीव्रता 'प्रसाद' नहीं ला सके हैं। पिता-पुत्र का अंतर्द्वन्द्व भी पूर्ण रूप से सामने नहीं आता। इसका कारण यह है कि उन्होंने इस कथा से संबंधित सारी ऐतिहासिक वस्तु अपनायी है और उसके आधार पर कोशल और कौशाम्बी तथा बुद्ध-देवदत्त से संबंधित तीन स्वतन्त्र कथाएं चलाई हैं। कौशाम्बी की कथावस्तु केवल प्रसंगमात्र है। वह महत्वपूर्ण नहीं है। बुद्ध-देवदत्त के संघर्ष को लेकर एक स्वतंत्र नाटक की रचना हो सकती थी। कोशल की कथावस्तु के अतिरिक्त एक नई स्वतन्त्र कथा भी खड़ी है।

कोशलराज प्रसनेजित् का पुत्र विरुद्धक है। उसकी माँ का नाम शक्तिमती महामाया है। वह दासी-पुत्री नीच वंश की कन्या है। छल से उसे प्रसेनजित् को विवाहा गया है। विरुद्धक इसी का पुत्र है। इसके नीच वंश से होने की सूचना प्रसेनजित् को बहुत बाद में लगी। इससे वह बहुत कुंठित है। अजातशत्रु की बात को लेकर वह विरुद्धक से क्रुद्ध हो जाता है और उसे एवं उसकी माता को अपदस्थ कर देता है। विरुद्धक और शक्तिमती अजात और छलना के प्रतिबिंब हैं। विरुद्धक काशी चला जाता है। वहाँ वह क्रूर-कर्मी शैलेन्द्र डाकू (साहसिक) के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। वह अजात् से मिलकर प्रसेनजित् ( पिता ) के विरुद्ध एक मोर्चा खड़ा करना चाहता है। उधर प्रसेनजित् एक नया कांड खड़ा कर देते हैं। शाक्यों और लिच्छिवियों पर विजय पाकर सेनापति बंधुलमल्ल लौटा है। उसकी लोकप्रियता से कोशलराज को भय होता है। वह उसे विद्रोह दबाने के बहाने काशी भेजता है और शैलेन्द्र से मिलकर छल से उसकी हत्या करा डालता है। परंतु जब यह सूचना बन्धुल की पत्नी मल्लिका को मिलती है तब वह सारिपुत्र को भोजन करा रही होती है। उसकी शांति और धैर्य की बड़ी प्रशंसा होती है और स्वयं प्रसेनजित् उससे क्षमाप्रार्थी होता है। उसे क्षमा करके मल्लिका कोशल छोड़ देती है। वह कोशल की सीमा पर कुटी बनाकर रहने लगती है। युद्ध में आहत प्रसेनजित् की वह सेवा-सुश्रुषा करती है। अजातशत्रु प्रसेनजित् को खोजता उसकी कुटी में आता है और वहाँ उसके मुख से ही उसकी सेवा-सुश्रुषा की बात सुनकर अपने प्रति क्षोभ का अनुभव करता है। पहली बार उसके हृदय में सात्विक ज्योति जागती है।

इसी बीच में विरुद्धक श्यामा ( मागधी, बाद में अंबपाली ) के प्रेम में फँस जाता है। बन्धुल की हत्या के बाद वही उसकी रक्षा करती है, फांसी से छुड़ाती है। विरुद्धक अजात को सहायता का वचन दे देता है, परन्तु जब उभय पक्षों में युद्ध चल रहा है, तब वह भीरु बना श्यामा के यहाँ पडा है। परन्तु वह तेजस्वी है। अतः वहाँ अधिक पड़ा नहीं रहता। वह एक दिन श्यामा का गला ही घोंट डालता है और उसे खेतों में छोड़कर उसकी धन-संपत्ति लेकर भाग निकलता है। वह फिर अजात के पास पहुँचकर उसे वचन देता है, प्रोत्साहन देता है। परन्तु दूसरे युद्ध में वह स्वयं आहत होता है। मल्लिका उसे कुटी में ले आती है और महीनों में वह अच्छा होता है। वह उससे भी प्रेम प्रगट करने लगता है। बन्धुल से विवाह से पहले उसने उससे प्रेम किया था, परन्तु उसके पिता ने यह विवाह नहीं होने दिया था। अब समय था, परन्तु मल्लिका उसकी दुष्ट-वृत्तियों को शांत कर देती है। वह लज्जित होता है। मल्लिका उसे प्रसेनजित् के पास ले जाती है और उसे क्षमा भी करा देती है। वह कहती है कि वास्तव में शुद्ध-वृत्ति से देखने पर ऊँच-नीच कुछ नहीं है। तभी बुद्ध

आकर ( कष्टहारिक ) जातक का उपदेश देते हैं। विरुद्धक और उसकी माता प्रसेन-जित् को स्वीकृत होते हैं और यह संघर्ष समाप्त होता है।

यह स्पष्ट है कि कोशल की यह कथा स्वतन्त्र रूप से ही खड़ी रह सकती है। दोनों कथाओं में कोई अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। इससे मूल कथावस्तु उलझ गई है। दोनों कथाओं का यदि केन्द्र है तो. वह मल्लिका है। परन्तु यह केन्द्र अधिक शक्तिशाली नहीं है। केवल मल्लिका का व्यक्तित्व ही अजात को बदल देगा, ऐसा कहना कठिन है।

इन दोनों कथाओं के साथ बुद्ध को लेकर दो और कथाएँ भी खड़ी की गई हैं। एक मागंधी की कथा और दूसरी देवदत्त की कथा। मागंधी मगध के दरिद्र ब्राह्मण की कन्या है। वह उदयन से विवाह करने में समर्थ होती है, परंतु वहाँ पद्मावती को लेकर ईर्ष्या चलती है। पद्मावती बुद्ध की पूजा करती है, बुद्ध उसकी पूजा स्वीकार करते हैं। इससे उसमें पद्मावती के प्रति तीव्र विरोध की भावना जागृत हो जाती है। वह इस बात को लेकर एक कांड खड़ा कर देती है। वह एक दासी को मिलाकर उदयन के पास पद्मावती की ओर से वीणा भिजवाती है। वीणा में से साँप का बच्चा निकलता है। इस पर वह उसे मारना चाहता है, परन्तु वासवदत्ता बचा लेती है। रहस्य खुलने पर मागंधी अपने महल में आग लगा लेती है और प्रसिद्ध हो जाता है कि वह जल मरी।

इसके पश्चात् हम उसे काशी में 'श्यामा' ( गणिका ) के रूप में पाते हैं। यहाँ यह केवल अतृप्त वासना से प्रताड़ित कामुक नारी मात्र है। वह शैलेन्द्र डाकू की प्रसिद्धि सुनकर उस पर मुग्ध हो जाती है। वह उसे अपना बना लेती है, उसके प्राण बचाती है, परंतु शैलेन्द्र उसका सदैव नहीं रह पाता। एक दिन वह उसका गला घोंट कर उसे खेतों मे फेंक देता है। बुद्ध उस पथ से निकलते हैं और उसमें जीवन के चिन्ह देखकर 'विहार' में ले जाते हैं। इसपर उन्हें बड़ी लांक्षा सहनी पड़ती है स्वयं देवदत्त वहाँ पहुँचकर इस बात को लेकर एक बड़ा बवंडर उत्पन्न करना चाहता है, परन्तु युवती जीवित हो जाती है और सब उसे बुद्ध का चमत्कार समझते हैं।

जान पड़ता है, इस घटना का प्रभाव मागंधी पर पड़ा। इसके बाद हम उसे 'आम्रकानन' वाली आम्रपाली (अंबपाली) के रूप में पाते हैं। वहाँ यह सरल जीवन बिताती है। एक दिन बुद्ध उसे स्वीकार कर लेते हैं। वह उनकी शरण में चली जाती है।

अम्रपाली के शरण में जाने की बात ऐतिहासिक है परन्तु बुद्ध से उसके प्रेम और द्वेप की बात कवि-कल्पना है। इससे बुद्ध का चरित्र कुछ भी ऊँचा नहीं

उठता। जातकों में 'सामावती' ( काशी की गणिका ) के ऐश्वर्य का उल्लेख है और बुद्ध के देवदत्त-द्वारा लांछित होने की भी कथा है। जान पड़ता है इसी को लेकर 'प्रसाद' ने एकीकरण कर दिया है। मगध और काशी की कथाओं से इसका कोई संबंध नहीं।

बुद्ध-देवदत्त के विरोध के अनेक प्रमाण बौद्ध-इतिहास में मिलते हैं। बुद्ध का वह चचेरा भाई था। जब बुद्ध ने भिक्षुसंघ चलाया तब वह उसमें सम्मिलित हो गया, परन्तु उसने भेद का आश्रय लिया और स्वयं एक स्वतन्त्र संघ चलाने की चेष्टा की। अंत में वह असफल ही रहा। उसने स्त्री के शव को लेकर बुद्ध को लांछित किया और कोशल (श्रावस्ती) में उन पर मस्त हाथी दौड़वाया। जब अजातशत्रु बंदी हो गया और छलना को इन बातों का पता चला तो उसने देवदत्त को बहुत बुरा-भला कहा, परन्तु देवदत्त अपने दुष्कर्म में लगा रहा। जेतवन के पास एक दुर्घटना के कारण उसकी मृत्यु हो गई। कहा जाता है, उसने बुद्ध की हत्या का संकल्प किया था। जेतवन में बुद्ध ठहरे थे। लोगों ने उनसे कहा। उन्होंने कहा, देवदत्त तथागत का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। उसका द्वेष उसे मार डालेगा। वह जेतवन के एक ताल में पानी पीने उतरा। तभी या तो किसी ग्राह ने पकड़ लिया, या डूब गया, या उसने आत्महत्या कर ली। जो हो, इस द्वन्द्व की समाप्ति एक दुर्घटना के कारण हुई।

इस तरह अन्त में सद्वृत्तियों की जय हुई, दुष्प्रवृत्तियों की पराजय हुई। वासवी, मल्लिका और गौतम सद्वृत्तियों के प्रतीक हैं। अजात-छलना, प्रसेनजित्-विरुद्धक और देवदत्त-मागधी दुष्प्रवृतियों के प्रतीक हैं। नाटक की प्रधान वस्तु अजातशत्रु का हृदय-परिवर्तन है। नाटक के प्रारम्भ में वह क्रूर-कर्मी है। नाटक के अन्त में वह पश्चात्तापी, क्षमाप्रार्थी और विनयी है। परन्तु अजातशत्रु का हृदय-परिवर्तन अंतर्द्वन्द्व का परिणाम नहीं है। यही नाटक की सबसे बड़ी दुर्बलता है। या तो वाह्य परिस्थितियाँ ( अजात की हार ) या वाह्य वैयक्तिक प्रभाव ( मल्लिका ) इस परिवर्तन के लिये उत्तरदायी हैं। नाटकीय दृष्टि से इस प्रकार के हृदय-परिवर्तन का कोई मूल्य नहीं। इससे कथावस्तु की नाटकीयता में शिथिलता आती है। मल्लिका के वैयक्तिक प्रभाव से प्रसेनजित्, विरुद्धक, अजातशत्रु सब सुधर जाते हैं, जैसे वह कोई जादू की छड़ हो। आज के मनोविज्ञान के युग में हम इसे नाटककार की चरित्र-चित्रण संबंधी असमर्थता ही कहेंगे।

**'स्कंदगुप्त'** (१९२८) 'प्रसाद' के बड़े ऐतिहासिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। 'अजातशत्रु' और 'चन्द्रगुप्त' में कथावस्तु शिथिल है और नायक में किसी प्रकार की उदात्त भावना नहीं है। वह प्रपंची है, दूसरे के हाथ की कठपुतली बन गया है। 'अजात-

शत्रु' में नायक के व्यक्तित्व का विकास ही नहीं हो पाया। 'चन्द्रगुप्त' में अपेक्षाकृत कर्तृत्व अधिक है परन्तु सूत्रधार चाणक्य है। स्कंदगुप्त की अन्तःस्फूर्ति ही उसमें नायकत्व की स्थापना करती है। एक तरह से 'स्कंदगुप्त' में प्रासंगिक वस्तु है ही नहीं। कथा की एक ही अविच्छिन्न धारा सारे नाटक में प्रवाहित है और आर्य-साम्राज्य को दृढ़ करने और विदेशियों से लौहा लेने की भावना सारे नाटक में व्याप्त है। उद्देश्य और कथा की यह एक शृंखला 'प्रसाद' के दूसरे बड़े ऐतिहासिक नाटकों में भी नहीं मिलती। इसी से वे स्कंदगुप्त की भाँति प्रभावोत्पादक नहीं है। 'स्कंदगुप्त' में पाँच अंक हैं। पहले अंकों में स्कंदगुप्त में शकों के प्रति मालव-अभियान की कथा है। दूसरे अंक के अंत में शकों पर स्कंदगुप्त की विजय हुई है और बन्धुवर्मा की इच्छानुसार वह मालवेश घोषित होता है। मगध पर उसके छोटे भाई पुरगुप्त का शासन है। द्वतीय अंक में उन कुचक्रों का वर्णन है जिनके फलस्वरूप राष्ट्र-बल निर्बल हो जाता है और उत्तर ( गांधार ) के हूण-युद्ध में स्कंदगुप्त और उसके वीर साथी सैनिकों को परास्त कर देते हैं। कुम्भा के जल में सारी मगध-वाहिनी बह जाती है। चौथे अंक में युद्ध से बचे हुए वीर पर्णदत्त को केन्द्र बनाकर एक बार फिर भारत-गौरव को पुनः जीवित करने के लिये प्रयत्न करते हुए दिखलाई देते हैं। अंक के अंत तक दूसरे हूण-युद्ध का सारा आयोजन सम्पन्न हो जाता है। यह प्रयत्न पाँचवें अंक में चलता रहता है। अंत में स्कंदगुप्त की वीरता से हूणों का आतंक समाप्त हो जाता है और हूण-सेनापति बंदी होता है। स्कंदगुप्त को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु हो जाती है। अनंतदेवी और पुरगुप्त स्कंदगुप्त से क्षमाप्रार्थी होते हैं। पुरगुप्त को शासन सौंप कर स्कंदगुप्त स्वातंत्र्य युद्ध में पूर्णाञ्जलि दे देता है। जैसा ऊपर की भूमिका से स्पष्ट है, यह कथा काफी लम्बी है और नाटक की सीमित भूमि में उसे उपस्थित करना कठिन है। फिर भी कलात्मक संतुलन के द्वारा इस कथा को उपस्थित किया जा सकता था। इस दिशा में 'प्रसाद' पूर्णतः सफल नहीं हो सके है, परन्तु फिर भी अनेक उत्कृष्ट नाटकीय दृश्य नाटक को श्रेष्ठता प्रदान करने में समर्थ हैं। सच तो यह है कि नाटक में कथा-विन्यास, चरित्र-चित्रण और नाटकीय परिस्थितियों एवं भावुक कथोपकथन की ऐसी सुन्दर योजना हुई है कि हृदय मुग्ध हो जाता है। केवल पहले अंक की सामग्री 'प्रसाद' को नाटक के क्षेत्र में शीर्षस्थान दे सकती है। कूटचक्र का जैसा सुन्दर सांगोपांग उद्घाटन इस नाटक में है वह शेक्सपिअर के ऐतिहासिक मैकबेथ एवं हेमलेट नाटकों की याद दिलाता है। पहले अंक का पाँचवाँ दृश्य और नाटक का अन्तिम दृश्य तो सचमुच अपूर्व है। पहले में रहस्य और कुचक्र की पृष्ठभूमि में वीरत्व पूर्ण बलिदान का चित्रांकन है। सम्राट् की हत्या हो जाती है। कहा जाता है कि उनका निधन होगया। पुरगुप्त की आज्ञा से शर्वनाग किसी को भी अंतःपुर

के भीतर नहीं जाने देता। कुमारादित्य पृथ्वीसेन, महादंडनायक और महाप्रतिहार परमभट्टारक का दर्शन करना चाहते हैं, परन्तु उन्हें अन्दर नहीं आने दिया जाता। इसी समय अन्तःपुर से क्षीण क्रन्दन सुनाई पड़ता है। तीनों तलवार खींच लेते हैं। नायक भी सामने आता है। इसी समय द्वार खुलता है, पुरगुप्त और भट्टार्क आते हैं।

पृथ्वीसेन—भटार्क ! यह सब क्या है ?

भट्टार्क—( तलवार खींच कर सिर से लगाता हुआ) परमभट्टारक राजाधिराज पुरगुप्त की जय हो ! माननीय कुमारामात्य, महादंडनायक और महाप्रतिहार ! साम्राज्य के नियमानुसार, शस्त्र-समर्पण करके परम भट्टारकै का अभिवादन कीजिये। [तीनों एक-दूसरे का मुँह देखते हैं।]

महाप्रतिहार—तब क्या सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य अब संसार में नहीं हैं ?

भट्टार्क—नहीं ।

पृथ्वीसेन—परन्तु उत्तराधिकारी युवराज स्कन्दगुप्त ?

पुरगुप्त—चुप रहो। तुम लोगों को बैठकर व्यवस्था नहीं देनी होगी। उत्तराधिकार का निर्णय स्वयं स्वर्गीय सम्राट् कर गये है।

पृथ्वीसेन—परन्तु प्रमाण !

पुरगुप्त—क्या तुम्हें प्रमाण देना होगा ?

पृथ्वीसेन—अवश्य ?

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! इन विद्रोहियों को बन्दी करो ।

( भट्टार्क आगे बढ़ता है )

पृथ्वीसेन—ठहरो भटार्क ! तुम्हारी विजय हुई, परन्तु एक बात।

पुरगुप्त—आधी बात भी नहीं, बन्दी करो।

[illegible]—[illegible] ! तुम्हारे दुर्बल और अत्याचारी हाथों में गुप्त साम्राज्य का राजदंड टिकेगा नहीं। संभवतः तुम साम्राज्य पर विपत्ति का आवाहन करोगे। इससे विरत हो जाओ।

पुरगुप्त—महाबलाधिकृत ! क्यों बिलंब करते हो ?

भट्टार्क—आप लोग शस्त्र रख कर आज्ञा मानिये।

महाप्रतिहार—आततायी ! यह स्वर्गीय आर्य चन्द्रगुप्त का दिया हुआ खड्ग तेरी आज्ञा से नहीं रखा जा सकता। उठा अपना शस्त्र और अपनी रक्षा कर !

पृथ्वीसेन—महाप्रतिहार ! सावधान ! क्या करते हो ? यह अन्तर्विद्रोह का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर से काली घटनाएं उमड़ रही

हैं। यह समय बल नाश करने का नहीं है। आओ, हम लोग गुप्त साम्राज्य के विधान के अनुसार चरम प्रतिकार करें। बलिदान देना होगा। परन्तु भट्टार्क! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस कालभुजंगिनी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कंदगुप्त उस पर न्यौछावर हैं। आर्य साम्राज्य की जय हो! ( छुरा मार कर गिरता है। ) महाप्रतिहार और दंडनायक भी वैसा ही करते हैं।

पुरगुप्त—पाखंडी स्वयं विदा हो गये—अच्छा ही हुआ।

भट्टार्क—परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक!

पुरगुप्त—कुछ नहीं। ( भीतर जाता है। )

भट्टार्क—तो जायँ, सब जायँ। गुप्त-साम्राज्य के हीरों के से उज्ज्वल हृदय वीर युवकों का शुद्ध रक्त—सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हो।

चौथे अंक के पाँचवें दृश्य में एक ऐसा और संघर्ष उपस्थित होता है। कनिष्क स्तूप के पास महादेवी की समाधि पर स्कंद फूल चढ़ाने आता है। तभी देवसेना से भेंट होती है। देवसेना उसे आत्मसमर्पण करना चाहती है।

स्कन्द—देवसेना!···चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हों, हम-तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, मैं अपना महत्व तुम्हें अर्पित करके अलग हो जाऊँगा और एकांतवास करूँगा।

देवसेना—सो न होगा, सम्राट्! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिये उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी।···

स्कंद—देवसेना! बंधुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना—परंतु क्षमा हो, सम्राट् उस समय आप विजया के स्वप्न देखते थे। अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परंतु आपके राज्य में भाग न लूँगी।

स्कन्द—देवसेना, मैं—स्कंद किसी कानन कोने में तुम्हें देखते हुए जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं—एक बार कह दो।

देवसेना—तब तो और भी नहीं। मालव का महत्व तो रहेगा ही, परन्तु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिये देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट् क्षमा हो। इस हृदय में,

आह ! कहना ही पड़ता है, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसा कर कलुषित न कीजिये। नाथ ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।

**( पैरों पर गिरती है )**

स्कंद—( आसू पोंछता हुआ ) उठो देवसेना ! तुम्हारी विजय हुई। आज से मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं कुमार-जीवन ही व्यतीत करूँगा। मेरी जननी की समाधि इसमें साक्षी है।

देवसेना—हैं, हैं, यह क्या किया ?

स्कन्द—कल्याण का श्रीगणेश ! यदि साम्राज्य का उद्धार कर सका तो उसे पुरगुप्त के लिए निष्कंटक छोड़ जा सकूँगा।

देवसेना—(निःश्वास लेकर) देवव्रत, तुम्हारी जय हो। जाऊँ, आर्य पर्णदत्त को लिवा लाऊँ। [ प्रस्थान ]

इस नाटकीय संघर्ष को और भी तीव्रता मिलती है जब इस घटना के बाद तुरंत ही विजया आती है और स्कंद के प्रति आत्मसमर्पण करती है। कितना स्पष्ट द्वन्द है :—

विजया—इतना रक्तपात और इतनी ममता, इतना मोह—जैसे सरस्वती के शोणित जल में इंदीवर का विकास। इसी कारण अब भी मैं मरती हूँ। मेरे स्कंद ! मेरे प्राणाधार !

स्कंद—(घूम कर)—यह कौन इंद्रजाल—मंत्र ? अरे विजया !

विजया—हाँ, मैं ही हूँ।

स्कंद—तुम कैसे ?

विजया—तुम्हारे लिए मेरे अंतस्तल की आशा जीवित है।

स्कंद—नहीं विजया ! उस खेल को खेलने की इच्छा नहीं, यदि दूसरी बात हो तो कहो। उन बातों को रहने दो।

विजया—नहीं, मुझे कहने दो। ( सिसकती हुई ) मैं अब भी···

स्कंद—चुप रहो, विजया ! यह मेरी आराधना की तपस्या की भूमि है, इसे प्रवंचना से कलुषित न करो। तुमसे यदि स्वर्ग भी मिले तो मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूँ।

विजया—मेरे पास अभी दो रत्नागृह छिपे हैं, जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो।

स्कंद—परन्तु, साम्राज्य के लिए मैं अपने को बेच नहीं सकता विजया ! चली जाओ, इस निर्लज्ज प्रलोभन की आवश्यकता नहीं ।

यह प्रसंग यहीं तक ।

हिंदी नाटक में इस तरह की भावविदग्ध भाषाशैली, नाटकीय परिस्थिति की ऐसी सुन्दर परिणति अप्रत्याशित थी । इसमें संदेह नहीं कि स्कंदगुप्त में 'प्रसाद' की नाटकीय कला अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई है । संपूर्ण नाटक में अनेक ऐसे पात्र आते हैं जिनके इतिहास में नामोल्लेख-मात्र हैं, परन्तु जिन्हें 'प्रसाद' की कवि-कल्पना और भावुकता ने ऐसी मांसलता दी है कि हम जिन्हें आज विशिष्ट चरित्र के रूप में मानते हैं, उनका अस्तित्व आज हमारे साहित्य का सबसे स्थूल सत्य बन गया है।

अन्य नाटकों की भाँति 'स्कंदगुप्त' में भी अवांतर प्रसंग हैं और कथा का विस्तार दूर तक गया है, परन्तु इन सब विशृंखलताओं का समाहार स्कंदगुप्त के व्यक्तित्व में हो जाता है । 'स्कंदगुप्त' की कहानी उसके नायक स्कंद की दुर्बलताओं, विजयों और प्रेम तथा त्याग-सम्बन्धी अंतर्द्वन्द्वों के विकास की ही कहानी है । स्कंद के चरित्र में ग्रहण और त्याग, प्रेम और विराग का संघर्ष बड़ी सतर्कता से अंकित किया गया है । नाटक में कुछ विशृंखलता भी आ गई है । उसका कारण अतिरिक्त चरित्रों का समावेश है । मातृगुप्त, प्रपंचबुद्धि, कुमारदास (धातुसेन), मुद्गल, प्रख्यात-कीर्ति और मालिनी जैसे कुछ पात्र स्कंदगुप्त के वाह्य और अंतःसंघर्ष के लिए किसी भी प्रकार महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । परन्तु कदाचित् सामयिक जीवन की प्रतिकृति को पूर्णता देने के लिए 'प्रसाद' की उर्वर प्रतिभा ने एक नया संसार ही खड़ा कर दिया है । इतनी बड़ी चित्रपटी लेकर चलना सचमुच साहस का काम था । इस साहस की तुलना केवल प्रेमचन्द की 'रंगभूमि' से ही की जा सकती है । केवल यहाँ चित्रपटी सामयिक जीवन से हट कर पुरातन साहित्य तक पहुँच जाती है । परन्तु विजय का सोफिया के प्रति अनुराग, उसका साहस और उसका त्याग स्कंदगुप्त और देवसेना के संघर्ष, प्रेम और त्याग से कम नहीं है । जिन पारिवारिक प्रपंचों से नाटककार किशोर जीवन में ही परिचित हो चला था, उनका साम्राज्यव्यापी प्रसार हमें इन परवर्ती नाटकों में मिलेगा । द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की न इतनी विशाल चित्रपटी है, न ऐसी भावाकुलता है उनमें । इनमें से अनेक उत्कृष्ट चित्र केवल शेक्सपियर के इसी प्रकार के चित्रों के सम्मुख रखे जा सकते हैं ।

**'चन्द्रगुप्त मौर्य'** (१६३१) में 'प्रसाद' ने कदाचित् 'चन्द्रगुप्त' की पुनरावृत्ति करनी चाही है और कम-से-कम चाणक्य के चरित्र-निर्माण में उन्होंने जिस प्रतिभा का परिचय दिया है, वह अपूर्व है । परन्तु यहाँ इतिहास अधिक है, उत्साह अधिक

नहीं है। फलतः 'स्कंदगुप्त' जैसी प्रौढ़ता उसे नहीं मिल सकी है। इस कथावस्तु की ओर 'प्रसाद' का आकर्षण 'कल्याणी परिणय' (१९१२) से ही सूचित हो जाता है। भारतेन्दु के 'मुद्राराक्षस' नाटक और राय बाबू के 'चंद्रगुप्त' ने भी उनका दिशा-निर्देशन किया है।

'चन्द्रगुप्त' की कथा ४ अंकों में विभाजित है। पहले और दूसरे अंकों की कथा का सम्बन्ध मुख्यतः उत्तर-पश्चिम से है। सिकन्दर के अभिमान और उसकी विफलता की कथा से चंद्रगुप्त और चाणक्य का संबंध जोड़ा गया है। मगध-संबंधी कथावस्तु थोड़ी है और इसका सम्बन्ध चाणक्य के अपमान से है। अपमानित चाणक्य नंद-वंश का नाश करने की प्रतिज्ञा करके पर्वतेश्वर को उत्तेजित करने के लिए तक्षशिला चला जाता है। वहाँ चंद्रगुप्त के साथ मिलकर वह यवनों के भारत-अभियान को असफल करने का प्रयत्न करता है। तृतीय अंक का संबंध पूर्णतया मगध से है। नंदवंश का उन्मूलन होता है और चंद्रगुप्त मगध-समाट् घोषित होता है और सम्राट् चन्द्रगुप्त की जयघोष के साथ पटाक्षेप। चौथे अंक की कथावस्तु बिलकुल भिन्न है। पहले तीन अंकों और चौथे अंक को केवल कार्नेलिया और चंद्रगुप्त का प्रेम और चाणक्य की भारत-साम्राज्य को दृढ़ करने की इच्छा ही एक सूत्र में योजित करती है। इस अंक में 'प्रसाद' ने 'मुद्राराक्षस' की सामग्री का भी उपयोग किया है। 'कल्याणी-परिणय' (१९१२) की सामग्री का उपयोग इसी चौथे अंक में हुआ है।

परन्तु इस संक्षिप्त इंगित से नाटक के महत्व पर जरा भी प्रकाश नहीं पड़ता। 'स्कंदगुप्त' की कथावस्तु की तरह 'चन्द्रगुप्त' की कथावस्तु भी बहुत विस्तृत और विशृंखल है। परन्तु जिस प्रकार स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व और उसका देश की मुक्ति के लिये अपार पराक्रम नाटक की बिखरी हुई वस्तु को एक केन्द्र पर संयोजित करता है, उसी प्रकार 'चंद्रगुप्त' नाटक में चंद्रगुप्त का व्यवितत्व सारी कथावस्तु के विभिन्न भागों को सूत्र-बद्ध करता है। यदि चंद्रगुप्त को केन्द्र बनाकर सारी कथावस्तु को देखा जाय, तो कथावस्तु का सारा विस्तार इस केन्द्र में समा जाता है। नहीं तो चौथे अंक की सामग्री के लिए नाटक में कोई स्थान नहीं हो सकता। पहले तीन अंकों की कथावस्तु चंद्रगुप्त को साधारण स्नातक से उठाकर भारत-सम्राट् बना देती है। प्रथम अंक में दाण्डायन द्वारा चंद्रगुप्त के उज्ज्वल भविष्य की सूचना मिलती है। दूसरे अंक में चंद्रगुप्त सिकंदर के महान् भारत-अभियान की धार कुंठित कर देता है। भारत छोड़ते समय सिकन्दर उसे भारत-सम्राट् कहकर उसकी उज्ज्वल भावों की रूपरेखा और भी उज्ज्वल बना देता है। तीसरे अंक में मगध-राज्य की प्राप्ति के बाद एक तरह से कथानक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार पहले तीन अंकों की कथावस्तु कलात्मक रूप में संगठित हुई है, यद्यपि तीनों अंकों की कथाओं के विस्तार में बड़ा मतभेद हो

सकता है। पहले दो अंकों में सिकंदर और सेल्यूकस इत्यादि को जितना महत्त्व दे दिया गया है, वह बहुत कुछ अनैतिहासिक और अनावश्यक है। यद्यपि चंद्रगुप्त के चरित्र के उज्ज्वल पक्षों के विकास के लिए ही ऐसा किया गया है, परन्तु इनसे कथावस्तु में अनावश्यक विस्तार और विश्रृंखलता का सूत्रपात हो जाता है। इन प्रारंभिक विस्तार के कारण मगध-विजय की कथा बड़े संक्षेप में चलती है। जैसे मगध-विजय में कोई समय ही नहीं लगा हो। इस अंक में पहले दो-तीन दृश्यों का संबंध पूर्व कथा से है। यह स्पष्ट है कि कथानक की इस प्रकार की योजना वैज्ञानिक नहीं है। चौथा अंक तो रस के विचार और कार्य-संकलन की दृष्टि से महत्वहीन ही रहता है। 'प्रसाद' केवल 'कल्याणी-परिणय' की सामग्री का उपयोग करना चाहते थे, अतः उन्होंने इस चौथे अंक को भी नाटक में जोड़ दिया। यह कहा जा सकता है कि इस नाटक का विषय चन्द्रगुप्त है और चन्द्रगुप्त का राज मगध-विजय के पश्चात् भी अकंटक नहीं हो सकता। यवनों ने भारत का मार्ग देख लिया है और इतिहास भी सेल्यूकस के आक्रमण का साक्षी है। इस अंक के अन्त में हम चन्द्रगुप्त को भारत के पहले शक्तिशाली साम्राज्य के नायक के रूप में देखते हैं। गांधार से गंगासागर तक और हिमालय से अन्तरीप तक इस साम्राज्य का प्रसार है। परन्तु इस प्रकार चाहे हम चौथे अंक को तर्कसंगत भले ही मान लें, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह शून्य में झूलती हुई एक कड़ी के समान, बाद में जोड़े हुए परिच्छेद-जैसा लगता है। नाट्य और रस दोनों की दृष्टि से चौथे अंक की अवतारणा तर्क-वितर्क का विषय रहेगी। नाटक के आरंभ में हम उन्हें २५ वर्ष के तरुण के रूप में देखते हैं। नाटक के अन्त में इतिहास की गणना के अनुसार वह चालीस वर्ष के प्रौढ़ बन जाते हैं। चतुर्थ शताब्दी की कथा को इस प्रकार रंगमंच पर उपस्थित कर देना नाट्य-कला और प्रेक्षकों दोनों को चुनौती देना है।

फिर इस मुख्य कथानक के साथ उपकथानक और अनावश्यक प्रसंग भी चलते हैं। सिंहरण और अलका की कथा अप्रासंगिक ही है परन्तु इन दोनों पात्रों के चरित्र-निर्माण के लिए अनेक दृश्यों की योजना है और नाटककार को बड़ा प्रयास करना पड़ा है। पर्वतेश्वर और कल्याणी के द्वेष और हत्या की भी यही दशा है। कल्याणी गुप्त रूप से चंद्रगुप्त को प्रेम करती है और इसी प्रकार मालविका चन्द्रगुप्त को बिना जाने ही अपने भीतर उसकी मूर्ति छिपाये है। यह एकांगी प्रेम नाटक को खिलवाड़ बना देता है। आदर्शवादी सूत्रों से परिचालित नाटक के पात्र अपना निजी व्यक्तित्व विकसित नहीं कर पाते। आंभीक के वृद्ध पिता, ऐनीसाक्रीज, वररुचि और अन्य अनेक पात्र कथा के अनावश्यक विस्तार के लिए दोषी हैं। नाटककार चरित्रों का कोष इकट्ठा नहीं करता। उसे प्रतिक्षण अपनी सीमाओं का स्मरण रखना

चाहिए। इस बात को कदाचित् 'प्रसाद' भूल गये हैं। इतिहास और कल्पना के हाथों में नाटक के सूत्र देकर उन्होंने नाटक-कला के साथ थोड़ा विश्वासघात किया है। फिर भी उनके साहित्य की उत्कृष्टता के संबंध में सन्देह नहीं हो सकता। सम्पूर्ण इतिहास-सामग्री के नाटकीय उपयोग के मोह ने उनकी कथावस्तु को जटिल बना दिया है, परन्तु पात्रों की विशिष्टता और नाटक की साहित्यकला उसे पूर्ण रूप से गौरव प्रदान करने में समर्थ है।

इस नाटक की प्रमुख विशेषता उसके पात्र हैं। पात्रों के चरित्र से सूक्ष्म आलोचक में कदाचित् यह नाटक 'स्कंदगुप्त' से भी आगे बढ़ गया है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य, पर्वतेश्वर, राक्षस, आंभीक, नन्द, सिकन्दर, सेल्यूकस, दाण्डायन ऐसे ऐतिहासिल पात्र हैं जिनके सम्बन्ध में इतिहास ने बहुत कुछ स्थिर कर दिया है। उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को मानवीय रूप देना ही कला की सीमा है। साथ ही यह कुछ कठिन भी है। कारण, कि व्यक्तित्व में नये गुणों का समावेश कुछ साहस का काम होगा। प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुषों के सम्बन्ध में जनता की भावनाएँ जड़ीभूत हो जाती हैं और वह उन्हें नये रूप में नये गुणों से विभूषित देखना नहीं चाहता। 'स्कन्दगुप्त' के कर्तृत्व और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतिहास मौन है, अतः वहाँ कल्पना का प्रसार सम्भव है: परंतु 'चन्द्रगुप्त' के कई विशिष्ट पात्र इतिहास द्वारा निश्चित व्यक्तित्व प्राप्त कर चुके हैं। 'प्रसाद' ने बड़ी सतर्कता से अपना मार्ग बनाया है। उन्होंने ऐतिहासिक व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए भी इन पात्रों को मांसलता प्रदान की है। स्त्रीपात्रों के सम्बन्ध में यह कठिनाई अधिक नहीं—लगभग सभी कल्पित हैं। कम-से-कम, उनके सम्बन्ध में ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलते और उनके सम्बन्ध में नाटकीय वस्तु का भी अभाव रहा है। 'मुद्राराक्षस' में एक भी स्त्रीपात्र नहीं है। अतः स्त्रीपात्रों के सम्बन्ध में कवि अपनी सृजन-शक्ति से प्रचालित है। कार्नेलिया, ध्रुवस्वामिनी, कल्याणी, मालविका और अलका में 'प्रसाद' ने अपनी कुछ सर्वश्रेष्ठ मौलिक नारी-पात्रियाँ हमें दी हैं। आज उन्हें हमारे साहित्य में अमरता प्राप्त हो गई है।

'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) 'प्रसाद' का अन्तिम नाटक है। इसके बाद वह तीन वर्ष के लगभग जीवित रहे, परन्तु यह समय 'कामायनी' (१९३६) को पूर्ण रूप देने में बीता। अन्तिम समय में उन्होंने 'इरावती' नाम से एक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखना आरम्भ किया था। उनकी प्रतिभा ऐतिहासिक नाटकों के प्रणयन के लिये विशेष रूप से उपयुक्त थी और उनके नाटकों के समालोचकों ने इस ओर इंगित भी किया था। 'इरावती' समाप्त करके वह और भी कई छोटे-छोटे ऐतिहासिक उपन्यास लिखना चाहते थे। 'इंद्र' नाम से एक ऐतिहासिक पौराणिक नाटक भी वह लिखने वाले थे और इस सम्बन्ध में सामग्री इकट्ठी कर रहे थे। द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ में भारत का प्रथम सम्राट्' शीर्षक लेख उन्होंने अपनी क्षयशय्या से छपाया था। कदाचित्

यह लेख 'इंदु' नाटक की भूमिका बनता। परन्तु नाटक वह लिख नहीं सके। यह स्पष्ट है कि वह कार्य के बीच में ही अपनी सारी प्रौढ़ शक्तियां लेकर हमारे बीच से उठ गए। अभी उन्हें हिन्दी को बहुत कुछ देना था।

'एक घूँट' (१९२९) में विवाह, स्वच्छन्द प्रेम और मोक्ष की समस्या कुछ दबे स्वर मे उन्होंने उठाई थी। कदाचित् इस समस्या ने 'ध्रुवस्वामिनी' की ओर संकेत किया। 'सूचना' में उन्होंने 'ध्रुवस्वामिनी' के इस पक्ष पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। स्मृति-ग्रंथों से मोक्ष के अनेक अवतरण उन्होंने दिये हैं और इन अवतरणों की ऐतिहासिक और सामाजिक विवेचना की है। परन्तु इस अन्तिम नाटक का ऐतिहासिक पक्ष भी है। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१९३१) लिखते समय उन्होंने विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' से सहारा लिया था। विशाखदत्त के एक दूसरे नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' की ओर उनका ध्यान जाना आवश्यक था। विशाखदत्त का यह दूसरा नाटक विशेष जनप्रिय नहीं था। सन् १९२३ की ऐतिहासिक पत्रिकाओं में 'शृंगार-प्रकाश' और 'नाट्य दर्पण' से 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक के कुछ अंश उद्धृत हुए। इससे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के जीवन के सम्बन्ध में अनेक नई बातें प्रकाश में आईं। उनसे इतिहास के विद्वानों में अच्छी हलचल मच गई। शास्त्रीय मनोवृत्ति वालों को चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवस्वामिनी का पुनर्लग्न, असंभव, विलक्षण और कुरुचिपूर्ण जान पड़ा।

यह स्पष्ट है कि लगभग १० वर्ष से यह सामग्री 'प्रसाद' के सामने थी। यह सामग्री बहुत अधिक नहीं थी और इसमें कल्पना के लिये बड़ा स्थान रह जाता था। 'प्रसाद' केवल समस्या-नाटक ही नहीं चाहते थे। वह नाटक को इतिहास-रस से पुष्ट करना चाहते थे। अतः ऐतिहासिक चरित्रों और नए चरित्रों को सजाकर उन्होंने इस नाटक की कथावस्तु को एक नाटक के रूप में ढाल दिया।

'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) में कथा का विस्तार अधिक नहीं है परन्तु सीमित कथा के भीतर से चरित्रों की रूप-रेखा उभारने और नाटकीयता का समावेश करने में 'प्रसाद' नितांत सफल हुए हैं। पिछले नाटकों के विरुद्ध इसमें नाटकीयता अथवा रंगमंचीय संकेत भी हैं जिससे कि नई कला की सूचना मिलती है। नाटक में तीन अंक हैं और प्रत्येक अंक में एक दृश्य है। परन्तु इन तीन दृश्यों में सारी कथा को बड़े कौशल से सजाया गया है। इस प्रकार नाटकीय कला की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न है। कथावस्तु की सीमा ने 'प्रसाद' की उच्छृंखल कल्पना को संयम-सूत्र में बाँध रखा है। नाटकीय दृष्टि से यह 'प्रसाद' की सबसे सफल रचना कही जा सकती है, यद्यपि उनकी कल्पना और नाटकीय प्रतिभा का संपूर्ण वैभव 'स्कंदगुप्त' में ही मिलता है।

ऐतिहासिक कथावस्तु अधिक नहीं है। पहले दो अंकों में इसी ऐतिहासिक कथावस्तु को काल्पनिक कथावस्तु के साथ मिलाकर नाटकीय रूप दे दिया गया है। तृतीय अंक में कथा विशेष नही है, परंतु मोक्ष के नैतिक प्रश्न को उठाया गया है। वैसे कथा तो शकराज की मृत्यु और 'ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त' के 'जयघोष' के साथ समाप्त हो जाती है। पहले दोनों अंकों की राजनैतिक कथा केवल इतनी है कि रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी शकराज को समर्पित कर अपने प्राण बचाना चाहिता है—कदाचित् इस तरह वह चंद्रगुप्त को भी मार्ग से हटाना चाहता है। वह जानता है कि ध्रुवस्वामिनी भी उसे चाहती है। इसीलिये वह सोचता है कि ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त से भी छुट्टी मिल जायेगी। उसकी मनोस्थिति ही ऐसी नहीं रहेगी कि वह राजकीय षड्यंत्रों में भाग ले। परन्तु परिस्थिति का विकास कुछ इस प्रकार होता है कि चन्द्रगुप्त स्वयं ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण कर स्वतः शत्रु-शिविर में जाने को तैयार हो जाता है। ध्रुवस्वामिनी भी साथ जाने का आग्रह करती है। इससे रामगुप्त प्रसन्न ही होता है। परन्तु चन्द्रगुप्त अत्यन्त कौशल से शकराज का बध कर देता है और गुप्तवंश एक महान् अपकीर्ति से बच जाता है।

एक थोड़ी-सी कथा को एकांकी का विषय बनाया जा सकता था। परन्तु 'प्रसाद' ने इस कथा में रामगुप्त की क्रूरता, शंकाकुलता, निर्दयता और चन्द्रगुप्त-ध्रुवस्वामिनी के सहज स्नेह भाव की अवतारणा के साथ इसमें रसात्मकता का भी समावेश किया है। इस प्रकार यह नाटकीय होने के साथ रससिक्त भी हो गया है। मंदाकिनी और मिहिरदेव इस नाटकीय कथानक के विस्तार में विशेष रूप से सहायक होते हैं। मंदाकिनी खड्गधारिणी है और रामगुप्त की चर होने पर भी उसमें ध्रुवस्वामिनी के प्रति करुणा है। ध्रुवस्वामिनी के चारित्रिक द्वन्द्व के लिये इस प्रकार की किसी पात्री का होना आवश्यक था। कोमा और शकराज का प्रेम-सम्बन्ध कल्पित है और मिहिरदेव का व्यक्तित्व 'प्रसाद' की अपनी सूझ है। अवांतर कथा से शकराज केवल कामुक नृशंस शक-मात्र नहीं रह जाता। उसके हृदय के कोमल पक्ष का प्रतीक है कोमा। यह अवांतर कथा 'ध्रुवस्वामिनी' के संघर्ष को और भी सुन्दर बना देती है। नहीं तो सारी कथा राजनीतिक प्रपंच और कूटनीति ही बनी रहती। तीसरे अंक में रामगुप्त का चन्द्रगुप्त की हत्या करने का प्रयत्न और सामंत के हाथ से उसका बध 'प्रसाद' की कल्पना की उपज है। इससे चन्द्रगुप्त के चरित्र की उच्चता बनी रहती है और भाई के रक्त से उसके हाथ नहीं सनते। एक विषम परिस्थिति भी सुलझ जाती है। नाटकीय परिस्थितियों की योजना और आकर्षण चरित्रों की अवतारणा की दृष्टि से 'प्रसाद' यहाँ भी पूर्ण रूप से सफल हैं—सीमिति घटना-क्षेत्र में उनकी यह सफलता और भी अधिक प्रभावोत्पादक बन जाती है।

संक्षेप में यह 'प्रसाद' के नाटक हैं। 'विशाख' उन्हें भारतेन्दु से जोड़ता है तो 'कामना' रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रतीक रूपकों की याद दिलाती है और बड़े ऐतिहासिक नाटक राय और शेक्सपिअर की महान् रचनाओं के समक्ष रखे जा सकते हैं। इन नाटकों की काव्यात्मकता, गीतिकला, इनमें भावना-पूर्ण उच्छ्वास और प्रेम-प्रसंग कालिदास की नाटकीय कला का विकास जान पड़ते हैं और पात्रों के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व और राष्ट्रीय भावनाओं के आलोड़न-विलोड़न उनमें पश्चिमी संघर्ष-भावना का प्राधान्य बतलाते हैं। एक तरह से उनमें पूर्व-पश्चिम के नाटकीय आदर्श इस प्रकार समन्वित हो गए कि ये नाटक-कला की विशिष्ट वस्तु बन गये हैं और उन्हें पूर्वी-पश्चिमी किसी एक कोटि में नहीं रखा जा सकता। नाटककार का दृष्टिकोण आदर्शात्मक है; उसकी प्रेरणा राष्ट्रीय है और वह अपने युग के जन-जागरण से प्रभावित है। उनकी अपनी प्रवृत्ति स्वच्छंदतावादी प्रेम और रहस्य की ओर परिचालित है। इस प्रकार इन नाटकों के कई पक्ष हैं।

यदि हम नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' की प्रमुख प्रवृत्तियों को लें तो उनकी पौराणिक प्रवृत्ति का सबसे सुन्दर प्रकाशन 'जनमेजय के नागयज्ञ' में मिलता है। उनकी प्रतीक-प्रवृत्ति 'कामना' में पल्लवित हुई है और उनकी ऐतिहासिक-प्रवृत्ति प्रमुख रूप से 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रकाशित है। नाटकीय उन्मेष की दृष्टि से 'स्कंदगुप्त' सर्वश्रेष्ठ है और रंगमंचीय कला की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी'। इस प्रकार तीन प्रमुख नाटकीय प्रवृत्तियाँ 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं का विषय बन सकी हैं। उनके युग में उनसे बड़ा नाटककार कोई नहीं था, यद्यपि पत्रों में बराबर उनके नाटकों की अनभिनेयता की शिकायत हुई है। 'प्रसाद' का कहना था कि जब हिन्दी के पास अपना विकसित रंगमंच है ही नहीं, तो नाटकों की परीक्षा किस प्रकार हो सकती है और वह अभिनेय है या नहीं, यह विवाद ही व्यर्थ है। उन्हें अपने नाटकों के श्रेष्ठ साहित्यिक गुणों पर पूरा विश्वास था और वह चाहते थे कि हिन्दी के उपयुक्त साहित्यिक रंगमंच का निर्माण हो और नाटक हमारे युग के राष्ट्रीय उत्थान में पूर्ण रूप से सहयोग दे सकें। उनका कहना था कि रंगमंच के विकास के साथ नाटकों की अभिनेयता की परीक्षा हो सकेगी। इसमें सन्देह नहीं कि श्रेष्ठ कलाकारों की रचनाओं के लिए उपयुक्त रंगमंच का निर्माण किया जाता है। जहाँ रंगमंच पूर्ण रूप से विकसित नहीं है, वहाँ हम कलाकार से यह आशा नहीं कर सकते कि वह रंगमंच के विकास की प्रतीक्षा करता रहेगा। 'प्रसाद' के नाटकों में साहित्य-कला का ऐसा उन्मेष है कि वह सदैव पठन-पाठन के विषय रहेंगे और थोड़ी काट-छाँट के बाद उन्हें रंगमंच के अनुकूल बना लिया जायेगा।

आवश्यकता इस बात की है कि हम 'प्रसाद' नाट्यकला की विशेषताओं को

भली-भाँति समझ लें और उनके प्रकाश में उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करें। 'प्रसाद' के सभी नाटक देश-प्रेम के आंतरिक स्रोत को लेकर चलते हैं। 'स्कन्दगुप्त' (१९२८) और 'चन्द्रगुप्त' (१९३७) में तो देश-प्रेम की धारा अबाध गति से बह रही है। गांधार की पर्वत-माला से लेकर पूर्व में अंग और दक्षिण में मालवा और लंका तक का सारा प्रदेश इन नाटकों का रंगमंच है। इस विशाल चित्रपटी पर देश की बलिदान-भावना से भरे हुए बीसियों उत्सर्ग-प्राण नर-नारी सामने आते हैं और हमारा हृदय गर्व से भर जाता है। सिल्यूकस, सिकन्दर और कार्नेलिया जैसे विदेशी पात्र भी भारत की प्राकृतिक सुषमा, उसके भव्य चरित्र और उसके ज्ञान-गौरव पर मुग्ध हैं। 'प्रसाद' ने इन नाटकों में एक भी ऐसा ऐतिहासिक प्रकरण नहीं छोड़ा है जिससे भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्रतिष्ठित हो सकती। कार्नेलिया के मुख से उन्होंने भारत के प्रति जो वन्दना-गीत गवाया है वह वास्तव में सांस्कृतिक भारत का जयघोष है। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' में अलका के मुख से उन्होंने स्वातंत्र्य संग्राम में बढ़ते हुए करोड़ों नर-नारियों को आह्वान दिया है। राष्ट्रीयता की यह भावना ही 'प्रसाद' के नाटकों का प्रण है।

इन नाटकों की एक दूसरी विशेषता पुराण और इतिहास की कलात्मक प्रतिष्ठा है। यह सत्य है कि ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक तथ्यों का विस्तार आवश्यकता से कुछ अधिक हो गया है और घटनाओं एवं पात्रों की भीड़ में पाठक खो जाता है। परन्तु इतिहास की शुष्क पत्रावली को रूपरंग से पुष्ट करने का क्षेत्र नाटककार को मिलेगा ही। 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों की चरित्र-रेखाओं और उनके कथानकों में उपलब्ध इतिहास की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' ने जहाँ ऐतिहासिक सत्य की पूर्णतः रक्षा की है—कहीं-कहीं इतनी अधिक है कि इससे नाटकीय-कला को क्षति पहुँची—वहाँ उन्होंने कवि-प्रतिभा और कथानक-संगठन एवं चरित्र-विकास संबंधी कल्पना को कुंठित नहीं किया है। 'स्कंदगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में इतिहास के सूत्र अधिक नहीं हैं। इसलिए उनमें 'प्रसाद' की उर्वर कल्पना-शक्ति की नाटकीय क्षमता का विशेष विस्तार मिलेगा। 'प्रसाद' के सबसे सुन्दर और कलात्मक नाटक ही नहीं हैं। उन्हें यह श्रेय मिलना चाहिये कि कम-से-कम अपने दो-तीन नाटकों में वे ऐतिहासिक तत्वों की रक्षा करते हुए भी साहित्यिक सत्य और साहित्यिक सौन्दर्य का निर्माण कर सके हैं। सच तो यह है 'प्रसाद' के नाटकों में चाहे ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जहाँ-तहाँ थोड़ा संदेह भी हो, ऐतिहासिक रस की उपलब्धि के सम्बन्ध में जरा भी संदेह नहीं है। उनके नाटकों इतिहास के विशाल रंग-मंच की पृष्ठभूमि देकर वैयक्तिक सुख-दुःख को विराट बना दिया है। उनके स्कंदगुप्त और चाणक्य हमें अपनी मानवता द्वारा प्रभावित करते हैं। उनके ऐतिहासिक नाटकों

की सफलता का यही रहस्य है। उनके कथानक और उनके पात्रों के जीवन का सत्य मनोविज्ञान पर आश्रित है और इतिहास से अलग भी हमें पूर्व रूप से अनुप्राणित करने में पूर्णरूप से समर्थ है।

चरित्र-चित्रण मनोविज्ञान का ही नाटकीय रूप है। यह तो ठीक है कि मनोविज्ञान पर आधुनिकों जैसा आग्रह 'प्रसाद' को नहीं है, परन्तु विशिष्ट चरित्रों के निर्माण में वह पूर्ण रूप से सफल हैं और अन्तर्द्वन्द्व के साथ रस-दृष्टि की भी उन्होंने भली-भाँति रक्षा की है। देवसेना, जयमाला, मल्लिका, मालविका, छलना, विजया, ध्रुवस्वामिनी तथा अलका जैसी पात्रियाँ किसी भी साहित्य को गौरवान्वित कर सकती है। पुरुष पात्रों में स्कंदगुप्त, सिंहरण, मातृगुप्त, बन्धुवर्मा, भट्टार्क, चाणक्य, धातुसेन आदि कम प्रभावशाली नहीं हैं। अपने नाटकों में 'प्रसाद' ने मानव-जीवन की संपूर्ण चित्रपटी ग्रहण की है और उनके चरित्र-निर्माण की प्रतिभा पर हमें आश्चर्य होता है। कहाँ दाण्डायन और चाणक्य जैसे उच्चव्रती ब्राह्मण, कहाँ भट्टार्क जैसा कृतघ्नी, कहाँ देवसेना और मालविका जैसी प्रेम की वेदी पर बलि हो जाने वाली देवियाँ, कहां, स्कंदगुप्त जैसे विरागी वीर जो कर्तव्यनिष्ठा के आगे एक महान् साम्राज्य पर भी ठोकर मार सकते हैं। उसे विभिन्न पात्रों के साथ अपना कलाकार का कर्तव्य निभाना कुछ कठिन बात है, परन्तु 'प्रसाद' के लिए कोई कठिनाई नहीं जान पड़ती।

और भी अनेक तत्व हैं जो 'प्रसाद' के नाटकों को विशिष्ट रंगरूप देते हैं। नाटकों की बौद्धिक पृष्ठभूमि और उनकी दार्शनिकता ऐसे ही तत्व हैं। प्रारम्भिक नाटकों में 'प्रसाद' करुणा और मैत्री के संदेश को लेकर उपस्थित होते हैं। वे नियतिवादी हैं और मानव के मैत्री-भाव में ही वे उसका कल्याण खोज निकालते हैं। 'जनमेजय' में इस भाग्यवाद के साथ कृष्ण के निष्काम कर्म की भी योजना है। 'चन्द्रगुप्त' में हम उन्हें ब्रह्मणत्व और क्षत्रियत्व की व्याख्या करते हुए पाते हैं और 'एक घूँट' में यह आनन्दवाद का नया दर्शन लेकर सामने उपस्थित होते है। कहीं-कहीं दार्शनिकता का आरोप इतना अधिक हो गया है कि कुछ पात्र अपना व्यक्तित्व भूल कर दार्शनिक बन गये है, परंतु इसमे संदेह नही कि प्रत्येक नाटककार के लिए जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण लेकर चलना आवश्यक होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि 'प्रसाद' की जीवन-जिज्ञासा अत्यन्त तीव्र रही है। हिंदू संस्कृति की सम्पूर्ण चिंता एक तरह व्याख्यात्मक और क्रियात्मक रूप में उनके पात्रों में आ गई है।

कथोपकथन, भाषा-शैली और गीत अन्य आकर्षण-तत्व है जिन्होंने 'प्रसाद' के नाटकों को साहित्यिक ही नही, उन्हें एक विशेष वर्ग में प्रिय बनाया है। अपनी विशिष्ट अलंकृत और मधुमयी भाषा-शैली के द्वारा 'प्रसाद' प्राचीन भारत की भव्यता

ज्ञानगरिमा, सांस्कृतिक गौरव और आत्मनिष्ठा का प्रकाशन कर चुके हैं। साधारण बोलचाल की भाषा अपने समय तक ही सीमित रह जाती है। अतीत का स्वर्णिम उच्छ्वास उसमें भर नहीं पाता। अतीत को सोने के चमकीले रंगों द्वारा ही चित्रित किया जा सकता है। 'प्रसाद' की भाषा का ऐश्वर्य, उनकी कल्पना का चमत्कार, उनका इतिहास-ज्ञान और उनकी कवि-प्रतिभा अतीत के स्वर्ण-युगों की कुंजियाँ हैं। आज प्रसाद' के नाटकों के पृष्ठों में भारत का मौर्यकाल और गुप्तकाल अपने सारे वैभव, सारे आदर्शवाद और सारे रोमांस के साथ जीवित-स्पंदित है, इसका बहुत कुछ श्रेय उनकी भाषा को ही देना होगा। 'प्रसाद' मूलतः स्वच्छन्दतावादी कवि हैं और उनकी सारी कल्पना और कला इसी प्रवृत्ति को सबसे अधिक प्रकाशित करती है। कथानक चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली, वातावरण और प्रगति सब पर कवि की भावुकता की छाप है; इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उनके नाटक मुख्यतः कवि के नाटक हैं। कहीं-कहीं भाषा-शैली की अतिगम्भीरता और मधुमयता उन्हें रहस्यमय और रंगमंच के लिए अनुपयोगी भी बना देती है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि काव्य-तत्व से 'प्रसाद' के नाटकों को सर्वत्र हानि ही हुई है। काव्य के छोटे-बड़े उपकरणों के सहारे नाटककार मनोविज्ञान को बड़ी मार्मिकता से स्पष्ट कर सका है और विभिन्न परिस्थितियों को रसग्राही बना सका है। वास्तव में 'प्रसाद' का ऐतिहासिक ज्ञान केवल कुछ इतिहास-विज्ञों और विद्वानों के लिए है, परन्तु उनका इतिहास-रस उनकी काव्यात्मक और रसात्मक चित्रशैली के कारण सबके लिए सुलभ है। इसी काव्यात्मकता और भावुकता के द्वारा इतिहास पर पड़ा अनेक शताब्दियों का आवरण उठ जाता है और हम पूर्व युगों और उन युगों के कृती पुरुषों के सम्मुख खड़े हो जाते हैं। इस काव्यत्व का सबसे सुन्दर प्रकाशन गीतों से हुआ जो स्वतन्त्र रूप से साहित्य की संपत्ति बन गये हैं।

# प्रसाद के उपन्यास

उपन्यास के क्षेत्र में 'प्रसाद' बहुत बाद को आये। तब तक वह काव्य के क्षेत्र में 'आँसू' (१९२६), नाटक के क्षेत्र में 'अजातशत्रु' (१९२२) और 'स्कंदगुप्त' (१९२८) और कहानियों के क्षेत्र में 'आकाशदीप' (१९२९) की कहानियों की रचना कर चुके थे। १९२९ में उनका पहला उपन्यास 'कंकाल' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में उनके आदर्शात्मक ऐतिहासिक रोमांसों से विपरीत समाज के यथार्थवादी चित्रण की चेष्टा थी। बहुतों को प्रसाद की सामान्य साहित्यिक धारा से यह उपन्यास अलग-सा दिखलाई पड़ा और उनके विरोध के कुछ तीव्र स्वर भी सुन पड़े। परन्तु प्रेमचन्द जैसे विरोधी आलोचक और कृती उपन्यासकार ने इस रचना का स्वागत ही किया। १९३४ में 'तितली' के प्रकाशन के साथ 'प्रसाद' की कीर्ति ने औपन्यासिक क्षेत्र में स्थायित्व प्राप्त कर लिया। इसमें कौटुम्बिक विग्रह की सफल रूपरेखा उतारी गई थी। अभिजात्य गृहों और परिवारों की इस स्थिति से 'प्रसाद' का निजी परिचय था। वह भुक्त-भोगी थे। फलतः यह चित्र खूब बन पड़ा। 'तितली' में भारतीय गाँव का काव्यात्मक, आदर्शप्राण रूप भी है और उदार-हृदय जमींदार के द्वारा गाँव के सुधार की योजना भी। फिर इस गाँव की कहानी को नील की खेती के इतिहास से जोड़कर ऐतिहासिकता भी प्रदान कर दी गई है। 'तितली' की चित्रण-कला 'कंकाल' से नितांत भिन्न है। उपन्यासकार कथा को छोड़कर चित्रण को लेकर चला है और चित्रण के क्षेत्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखाएँ वह उभार सका है। इस रचना में 'प्रसाद' का व्यक्तित्व 'कंकाल' की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर ढंग से और विस्तारपूर्वक प्रस्फुटित हुआ है। उपन्यास के क्षेत्र में 'प्रसाद' की तीसरी रचना 'इरावती' थी। यह रचना अपूर्ण रही। विनोदशंकर

व्यास ने लिखा है कि 'प्रसाद' 'इरावती' के ढंग के छोटे-छोटे ८-१० उपन्यास देने वाले थे, कदाचित् ऐतिहासिक, परन्तु स्वयं 'इरावती' भी अपूर्ण रही और ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में एक अभिनव सौन्दर्य-सृष्टि आते-आते रह गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रसाद' की औपन्यासिक प्रतिभा का निरूपण 'कंकाल' और 'तितली' के ही माध्यम से हो सकता है। दोनों उपन्यास सामाजिक और सुधारात्मक दृष्टिकोण को लेकर आगे बढ़े हैं। 'कंकाल' में विध्वंस और विद्रोह अधिक है, 'तितली' में निर्माण और सहयोग दोनों के अपने अलग-अलग पक्ष हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि में दोनों समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। एक तरह से 'कंकाल' यथार्थवादी है और 'तितली' आदर्शवादी। 'कंकाल हिन्दी की किसी उपन्यास-परम्परा में नहीं आता। उसकी रचना स्वतः नई कोटि की है। 'तितली' प्रेमचन्द के आदर्शात्मक सुधारवादी दृष्टिकोण की श्रेणी में आता है। दोनों उपन्यासों मे केवल कथा ही कहने का आग्रह नहीं है। मानव-हृदय के घात-प्रतिघात की कथा 'प्रसाद' के उपन्यासों का विषय नहीं है, वहाँ कथा-सूत्र मात्र है। उस अर्गला पर 'प्रसाद' ने अपने विचारों को खूब सजाकर लटका दिया है, इससे कला की हानि अवश्य हुई है, परन्तु 'प्रसाद' जाति-धर्म-भेद युक्त सामाजिकता और रक्तशुद्धि के विरुद्ध जबर-दस्त प्रोपेगेन्डा खड़ा कर सके हैं। फलतः 'प्रसाद' के उपन्यास कला, संविधान और आदर्श के क्षेत्र में नई दागबेल लेकर उपस्थित होते हैं। उनकी परीक्षा के लिये हमें नये मापदंडों की सृष्टि करनी होगी।

'कंकाल' में हमें दो कथाएँ प्रमुख रूप से गुंफित दिखलाई देती हैं। एक है किशोरी-देवनिरंजन की कथा और दूसरी मंगल-विजय की कथा। इन दो कथाओं में सिमट कर 'कंकाल' का कथानक समसामयिक भारतवर्ष की सारी दुर्बलताएं हमारे सामने प्रकट करता है। उसकी भूमि बड़ी विशाल है। अमृतसर, हरिद्वार, प्रयाग, काशी, मथुरा, वृन्दावन और कलकत्ता उत्तर भारत का लगभग सारा प्रसार कहानी में सिमट आया है। फिर कथा के सूत्र हर्षवर्धन और मुग़ल सम्राटों के साथ जुड़े हुए और एक बालक अपने प्रणय के पौधों को अनेक क्रीड़ा-कौतुकों के जल से सींच रहे हैं। एक तरह 'प्रसाद' की स्वच्छंदतावादी प्रतिभा ने यथार्थवाद की भूमि पर कई हजार वर्षों के भारतीय मानव के सामाजिक इतिहास का चित्र उपस्थित किया है।

उपन्यास का मुख्य कथानक देवनिरंजन, श्रीचन्द और किशोरी को लेकर चलता है। देवनिरंजन और किशोरी में बाल-प्रेम है। झेलम के किनारे एक बालिका है। बालिका के हृदय में असीम अभिलाषा और बालक के हृदय में अदम्य उत्साह। बालक रंजन आठ वर्ष का, किशोरी सात वर्ष की। एक दिन अकस्मात् रंजन को लेकर उसके माता-पिता हरिद्वार चल पड़े। उस समय किशोरी ने उससे पूछा—

रंजन, कब आओगे ?

उसने कहा—बहुत ही जल्द। तुम्हारे लिए अच्छी-अच्छी गुड़िया ले आऊँगा।

रंजन के पिता ने सन्तान के लिए ज्येष्ठ पुत्र को बलि देने की मनौती की थी। महात्मा की कृपा से रंजन का जन्म हुआ। कुछ ही समय बाद वह गुरुद्वारे के महात्मा को सौंप दिया गया। उसका नाम पड़ा देवनिरंजन। उन्नीस वर्ष की अवस्था में वह गद्दी का योग्य अधिकारी बन गया। उसकी ख्याति का क्या कहना !

उधर किशोरी किशोरी नहीं रही। अमृतसर के व्यापारी श्रीचन्द से उनका विवाह हो गया। कई वर्ष हो गये, परन्तु दम्पति को पुत्र-लाभ नहीं हुआ। उस वर्ष प्रयाग में कुम्भ पड़ा था। श्रीचन्द ने किशोरी के आग्रह को स्वीकार किया। साधु-महात्मा क्या नहीं कर सकते ? कुंभ में देवनिरंजन की ख्याति ही सबसे अधिक थी। उस तरुण ब्रह्मचारी की भव्य मूर्ति से प्रभावित नहीं हो, श्रीचन्द के लिये यह असम्भव था। दम्पति ने देवनिरंजन से भेंट की। परिचय दिया। 'किशोरी'—इस नाम से देवनिरंजन की कितनी बाल-स्मृतियाँ बँधी हुई थीं। महात्मा की दृष्टि में जैसे एक आलोक घूम गया।

किशोरी चली गई। परन्तु देवनिरंजन उसे पहचान गया था। उसके हृदय में राग-विराग को लेकर देवासुर-संग्राम उठ खड़ा हुआ। उसने हरिद्वार आते हुए कहा था—तब वह निरा बालक था—'किशोरी' तेरे लिए गुडिया लाऊँगा।' और वही किशोरी आज मनबहलाव के लिये एक गुड्डा-गुड़िया चाहती है। क्या वह नहीं दे सकेगा ? परन्तु उसे क्या ? तपस्वी को क्या ? परन्तु कामना के वटवृक्ष एक क्षण में समूल उखाड़े नहीं जा सकते। निरंजन को लगा, यदि वह यहाँ रहेगा तो परास्त हो जायगा। वह भागा। सब कुछ अखाड़े में छोड़कर उस रात वह चुपके से सहारनपुर खिसक गया।

परन्तु अब श्रीचन्द और किशोरी को महात्मा के बिना चैन कहाँ ? ज्योंही देवनिरंजन हरिद्वार के अखाड़े से एकान्त में गया, त्योंही उससे भी पहिले किशोरी तथा श्रीचन्द दोनों उसी ओर चल पड़े थे। तपस्वी एकांत में तपस्या द्वारा मन को शांत करना चाहता था। परन्तु यहीं भी वह रमणीय मूर्ति तपश्चर्या मे बाधा के समान उपस्थित हुई।

रमणी चुपचाप समीप चली आई, साष्टांग प्रणाम किया। तपस्वी को क्रोध आया, परन्तु कहा केवल, उठो, तुम यहाँ क्यों आईं ?'

किशोरी ने कहा—महाराज, अपना स्वार्थ ले आया है। मैने आज तक संतान का मुँह नहीं देखा।

निरंजन ने गम्भीर स्वर में पूछा—अभी तो तुम्हारी अवस्था अठारह-उन्नीस से अधिक नहीं, फिर इतनी दुश्चिंता क्यों ?

किशोरी लजा गई। तपस्वी भी लड़खड़ा रहा था।। भीतर-भीतर एक महान् द्वन्द्व चल रहा था। उसने सँभल कर कहा—अच्छा तुमने यहाँ आकर ठीक नहीं किया, जाओ मेरे मठ में आना, अभी दो-तीन दिन ठहर कर। यह एकांत योगियों का स्थान है, यहाँ से चली जाओ।

व्यवसाय-वाणिज्य को संभालना ही था। अमृतसर से तार पाकर श्रीचंद चला गया। चलते समय 'हर की पैड़ी' के पास किशोरी के लिये मकान और दासी की व्यवस्था करता गया।

उधर निरंजन ने दो दिन तक मन पर अधिकार जमाने की चेष्टा की परन्तु वह असफल रहा। वह अपने विशाल मठ में लौट आया और महंती नये ढंग से देखी जाने लगी। भक्तों की पूजा और चढ़ाव का प्रबन्ध होने लगा। गद्दी और तकिये की देखभाल चली। दो ही दिन में मठ का रूप बदल गया।

एक दिन किशोरी ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज मेरे ऊपर दया न होगी ?

निरंजन से न रहा गया। उसने कहा—किशोरी, क्या तुम मुझे पहचानती हो ?

पहचान हुई। किशोरी की तो दुनिया ही बदल गई। उसकी समस्त कहानियों में हलचल मच गई। वह प्रसन्नता से बोल उठी—और क्या तुम वही रंजन हो ?

लड़खड़ाते हुए निरंजन ने उसका हाथ पकड़कर कहा—हाँ किशोरी, मैं वही रंजन हूँ। तुमको पाने के लिए ही जैसे आज तक तपस्या करता रहा, यह संचित तप तुम्हारे चरणों में निछावर है। संतान, ऐश्वर्य और उन्नति देने की मुझमें जो शक्ति है, वह सब तुम्हारी है।

किशोरी भूल गई—सब कुछ भूल गई। उसने ब्रह्मचारी के चौड़े वक्ष पर अपना सिर टेक दिया।

सेवक बलदाऊ से किशोरी के अटपटे समाचार पाकर श्रीचंद आये। देव-निरंजन को समझा-बुझाकर किशोरी फिर आने की प्रतिज्ञा करके अपने पति के साथ चली गई। किशोरी का मनोरथ पूर्ण हुआ। वह पुत्रवती हुई। छः महीने के बाद जब श्रीचंद के एक पुत्र हुआ, तो किशोरी के प्रति उनकी घृणा बढ़ गई। बहुत सोचने पर उन्होंने यह स्थिर किया कि किशोरी काशी जाकर अपनी जारज सन्तान के साथ रहे और उसके खर्च के लिए वह कुछ भेजा करें। इस प्रकार पुत्र पाकर किशोरी पति से वंचित हुई। वह काशी के एक सुविस्तृत गृह में रहने लगी। अमृतसर में वह

प्रसिद्ध किया गया कि यहाँ मां–बेटों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। श्रीचन्द अपने कारोबार में लगे रहे। देवनिरंजन भी कभी-कभी काशी आ जाते। काशी में उनकी बड़ी धूम थी। प्रायः किशोरी के ही घर भण्डारे होते। किशोरी के ठाकुर जी जिस कमरे में रहते थे उसके आगे दालान था। संगमरमर की चौकी पर देवनिरंजन बैठते। चिकें लगा दी जातीं। भद्र महिलाओं का समारोह रहता। धीरे-धीरे किशोरी सुख में दब गई। निरंजन भी विजयचंद को पुत्र मानता और किशोरी पर स्त्री का-सा अधिकार रखता। किशोरी श्रीचन्द को भूल गई। प्रत्येक महीने अमृतसर से बीमा आ जाता, एक क्षण श्रीचन्द की याद ताजा हो जाती, फिर सब भूल जाती। विजयचंद स्कूल में पढ़ने लगा। धनी पिता के लाड़ले पुत्र की तरह उसका लालन-पालन होता।

परन्तु निरंजन के प्रति धीरे-धीरे एक विरोध का उदय भी विजय में हो गया। धर्म के प्रति उसने तीव्र तर्कवाद का आश्रय लिया। वह धीरे-धीरे स्वतन्त्र-चेत्ता बन गया। समाज का कोई भी बन्धन, कोई भी परम्परा उसे स्वीकार नहीं रही। वह समाज के सारे कर्तव्य को ढोंग कहता। धीरे-धीरे उसने अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी विकसित कर लिया। 'कंकाल' का नायक वही है। 'कंकाल' की कहानी मुख्यतः समाज-विरोधी विजय की असफलता और रूढ़ि की विजय की कहानी है। परन्तु यही सफलता विजय को नायक बना देती है। विजय का चरित्र उसकी असफलता और उसकी मृत्यु समाज के आगे चुनौती की नयी ललकार है।

✓देवनिरंजन किशोरी को लेकर ब्रजमंडल में घूमने लगे। विजय भी साथ चला। यहां वह एक उच्छृंखल गोपबाला घंटी के संपर्क में आया। उच्छृंखल आनंदवाद उसके जीवन का मंत्र बन गया। उसके इस अतिवाद का पता किशोरी को भी लगा। यमुना ने कुछ न कह कर खिड़की खोल दी। किशोरी ने देखा—निखरी चाँदनी में एक स्त्री और एक पुरुष कदम्ब के नीचे बैठे हैं। वह गरम हो उठी। उसने वहीं से पुकारा—घंटी।

घंटी भीतर आई। विजय को साहस न हुआ, वह वहीं बैठा रहा। किशोरी ने पूछा—घंटी, क्या तुम इतनी निर्लज्ज हो? और वह किसी आशंका से भयातुर हो उठी।

परन्तु वहाँ के स्वतंत्र वायुमंडल में पली वह गोपबाला स्वच्छंद प्रेम के पाप को क्यों मानने लगीं?

विजय लड़खड़ाता हुआ भीतर आया और विवश बैठ गया। किशोरी से मदिरा की गंध छिप न सकी। उसने सिर पकड़ लिया। यमुना ने विजय को धीरे से लिटा दिया। वह सो गया। ✓

एक दिन विजय और किशोरी में मुठभेड़ हो गई। फल-स्वरूप देवनिरंजन को लेकर वह उसी दिन काशी लौट गई। विजय वहीं रह गया। उसने देखा कि वह स्वयं निर्वासित है।

किशोरी और निरंजन काशी लौट आये, परन्तु उन दोनों के हृदय में शांति नहीं थी। किशोरी ने विजय का तिरस्कार किया था, परन्तु अब मातृ-स्नेह उसे उकसाने लगा। प्रतिदिन निरंजन से कुछ चख-चख हो जाती। निरंजन ने भी एक दिन दृढ़ होकर अपना निपटारा करने का विचार कर लिया। वह अपना सामान लेकर चला गया, जिसके लिए उसने पुत्र को छोड़ दिया—वही निरंजन जा रहा था। किशोरी अभिमान और क्रोध से भरी चुपचाप बैठी रही। वह अपनी ही दृष्टि से जैसे गिर गई हो।

उसी दिन श्रीचंद आये। अमृतसर में उनका व्यवसाय नष्ट हो गया था। श्रीचंद किसी का आश्रय खोजने लगा। चंदा नाम की एक धनी विधवा से उसका संबंध हो गया। लाली इस चन्दा की पुत्री थी। चन्दा चाहती थी, आर्यसमाज के अनुसार उसका श्रीचन्द से विवाह हो जाय और लड़की की सामाजिकता अक्षुण्ण रह जाय। जीवन भर वह कैसे कुँवारी बैठेगी ? श्रीचंद ने एक दिन चन्दा को बताया—अमृतसर की सारी स्थावर संपत्ति बंधक है। एक लाख रुपया चाहिए। चन्दा की शर्त सीधी थी। परन्तु श्रीचन्द विवाहित थे। अन्त में दोनों ने एक तरकीब सोची—विजय के साथ यदि लाली की शादी हो जाय तो चन्दा का सारा धन उसका है और चन्दा तो हर दशा में उसकी है ही। दूसरे दिन दोनों लाली को लेकर काशी चल पड़े।

पति-पत्नी मिले। पहले तो किशोरी बड़ी खटकी। परन्तु अब श्रीचंद से लेना-देना क्या ? कोठी में हलचल मची, मालिक आये। परंतु विजय तो था नहीं। पता लगा, मथुरा में कोई खून कर लिया है और फरार है। मन-बहलाने के लिए श्रीचंद किशोरी को लेकर अयोध्या गये। चंदा और लाली असंतुष्ट होकर लौट गई थीं और श्रीचंद को किशोरी को लेकर गृहस्थी चलानी थी। अयोध्या में श्रीचंद ने एक पगली के पुत्र मोहन को दत्तक बना लिया। मोहन श्रीचंद को बाबू जी कहने लगा और सुख से पलने लगा। यह पगली और कोई नहीं, विजय की प्रेयसी घंटी ही थी। किशोरी को यह पता लगा तो उसे सहन न हो सका। उसने घंटी को निकलवा दिया। परन्तु मोहन तो श्रीचंद का लड़का बन गया था। विजय का स्थान यह दत्तक मोहन कैसे ले सकता था ? फिर नियति की यह विडम्बना ! जिस घंटी के कारण विजय अपने सुखमय संसार को खो बैठा और किशोरी ने अपने पुत्र विजय को खो दिया, उसी घंटी का भाई आज उसके सर्वस्व का मालिक है, उत्तराधिकारी है। दैव का कैसा परिहास, वहछटपटाने लगी, हृदय मसोसने लगी। परन्तु अब कर ही क्या सकती थी। धर्म के

विधान से दत्तक उसका अधिकारी था और विजय नियम के विधान से निर्वासित मृतक तुल्य ! विजय की एक-एक स्मृति किशोरी के हृदय-पट पर अंकित होने लगी। घर के कोने-कोने ने किशोरी की हँसी उड़ाना आरम्भ की। नित्य मनोवेदना से पीड़ित होकर उसने रोग का आश्रय लिया। ज्वर ने उसके शरीर में डेरा डाल दिया। चाहा विजय को भूल जाऊँ, परन्तु वह धोखा अधिक दिन तक नहीं चल सका। इन्हीं दिनों उसे निरंजन का पत्र मिला। अब वह पश्चात्ताप की आग में जल कर शुद्ध हो गया था। उसने सेवा को अपना धर्म बना लिया था। पत्र पढ़कर किशोरी ने रख दिया। उसके दुर्बल श्वांस उत्तेजित हो उठे। वह फूट-फूटकर रोने लगी।

—और एक दिन वह मरण-सेज पर थी। भाग्य का मारा विजय भिखमंगा बन गया था। काशी के दशाश्वमेध घाट के पीपल के नीचे अपने सहचर भालू के साथ वह मृत्यु की बाट देख रहा था। यमुना आई और उसे किशोरी को देखने लिवा ले गई। विजय किशोरी के पैरों के पास बैठ गया। यमुना ने उनके कानों में कहा—भैया आये हैं।

किशोरी ने आँखें खोल दीं। विजय ने पैरों पर सिर रख दिया। किशोरी के अंग अब हिलते न थे। वह कुछ बोलना चाहती थी ; पर आँखों से आँसू बहने लगे। विजय ने अपने मलिन हाथों से उन्हें पोंछा। एक बार किशोरी ने उसे देखा, आँखों से अधिक बल देकर देखा, परन्तु वे आँखें खुली ही रह गईं।

देवनिरंजन और किशोरी के अवैध प्रेम के साथ-साथ मंगल और विजय को केन्द्र बनाकर एक दूसरी कहानी भी चलती है। मंगल और विजय दो विरोधी पात्रों के रूप में हमारे सामने आते हैं। पहली पुरानी पीढ़ी थी, यह नई पीढ़ी है।

मंगल अपने साथी खिलाड़ियों के साथ मैच खेलने लखनऊ आया था। उसका स्कूल आज विजयी हुआ है। कल वे लोग बनारस लौटेंगे। आज सब लड़के चौक में, खरीद-फरोख्त कर रहे हैं। उसके एक मित्र वीरेन्द्र ने एक बाल-वेश्या के पास जाकर उसके नयनाभिराम रूप को देखने की हठ की। मंगल को यह कौतूहल बुरा लगा, परन्तु आग्रह करने पर वह राज़ी हो गया। मित्र के अनुरोध की रक्षा उसे करनी पड़ी। वहाँ पहुंचकर मंगल ने देखा, यह तो वेश्या-का-सा रूप नहीं है। युवती का नाम था गुलेनार। मंगल को लगा, उसने कहीं उसे देखा है। परन्तु उस दिन उस रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सका। 'अम्मा' आ गई। गुलेनार की वाक्शक्ति जैसे बन्दी होकर तड़फड़ा रही थी। मंगलदेव ने कुछ-कुछ समझा। उसे कुछ संदेह हुआ।

लौटकर मंगल ने 'गुलेनार' को बचाने का प्रण किया। उसे निश्चय हो गया था कि यह वही बालिका है जिसके सम्बन्ध में वह वीरेन्द्र से पहले ही कह चुका था—उसके देखते ही वह बालिका कुटनी के चुंगल में फँस गई और वह कुछ न कर सका

दो दिन बाद अमीनाबाद पार्क में अम्मा से उनकी भेंट हो गई। मंगल उनके साथ हो लिया। अम्मा कुछ देर के लिए हट गई तो मंगल ने गुलेनार से सारी पिछली कहानी सुनी और उसके उद्धार का मार्ग बताया। मंगल के उद्योग से गुलेनार का उद्धार हो गया। उसका हिन्दू नाम तारा निकला। रेल में उसके पिता भी उसे मिले, परन्तु वह उसे समाज के अंचल में लेने के लिए तैयार नहीं थे। मंगल ने तारा की ओर से अपील की—तब यह किसके शरण जाएगी? अभागिनी की कौन रक्षा करेगा? मैं आपको प्रमाण दूँगा कि तारा निरपराधिनी है। तारा के पिता ने उसे रोक कर कहा—मूर्ख युवक! ऐसी सर्पिणी को कौन गृहस्थ अपनी कन्या कहकर सिर नीचा करेगा? तुम्हारे-ऐसे इसके बहुत-से संरक्षक मिलेंगे।

मंगल के सुधारक भाव ने जोर किया। वह पहले से ही आर्यसमाजी विचारों का समर्थक था। तारा को लेकर वह हरिद्वार चला गया। वहीं आर्यसमाज की पाठशाला में व्यायाम-शिक्षक के रूप में वह काम करने लगा। मंगल की नौकरी लग जाने के बाद तारा गृहस्थी जमाने लगी। धीरे-धीरे मंगल के बहुत से आर्य मित्र बन गये। प्रकाशदेवी, सुभद्रा, अम्बालिका, पौलामी, अभिमन्यु, वेदस्वरूप, ज्ञानदेव, वरुणप्रिय, भीष्मव्रत। इन मित्रों के साथ दिन हँसी-खुशी और वाद-विवाद में कटने लगे। मंगलदेव इन लोगों के लिए आदर का पात्र था कि उसने एक आर्य-बालिका का यवनों से उद्धार करके बड़ा पुण्य-कर्म किया। परन्तु अब एक समस्या यह खड़ी हुई कि तारादेवी का पाणिग्रहण हो। समाजियों को आशा थी कि वह दिन शीघ्र आयेगा जब तारा और मंगल प्रणय-सूत्र में बँध जायेंगे। परन्तु मंगल और तारा के लिए अभी विवाह का प्रश्न कोई बड़ा प्रश्न नहीं था। बसंत के एक अल्हड़ प्रभात में अंगड़ाई लेकर तारा ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए मंगल से कहा—आज मन नहीं लगता।

मंगल बोला—मेरा भी मन उचाट हो रहा है। इच्छा होती है कि कहीं घूम आऊँ। परन्तु तुम्हारा विवाह हुए बिना मैं नहीं जा सकता।

वह बोली—तो मैं ब्याह न करूँगी।

मंगल ने उसे अपने जीवन का कोई लक्ष्य स्थिर कर लेने के लिए कहा, परन्तु तारा क्या लक्ष्य निकाले? वह कैसे मंगल से यह कह दे, कि वह उसकी परिणीता बनकर रहेगी। परन्तु ऐसे अलग-अलग रहकर मंगल की सहानुभूति का भार ढोना भी क्या उसके लिए सम्भव है? वह सोचने लगी—मंगल मेरा कौन है जो मैं इतनी आशा करती हूँ। क्या वह मेरा कोई है? मन में सहसा बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ उदित हुई और गम्भीर आकाश के शून्य में ताराओं के समान डूब गई। वह चुप बैठी रही। उस दिन दोनों ने साथ भोजन किया और अपने-अपने पलंग पर चले गये। मंगल सो गया, परन्तु तारा की आँखों में नींद नहीं थी। मंगल का बर्राना सुनकर तारा

उसके वक्ष में चली गई। उसने सुना, नींद में भी मंगल उसी की चिंता कर रहा था। वह पलंग पर झुक गई। वसन्त की लहरीली समीर उसे पीठ से ढकेल रही थी। रोमांच हो रहा था जैसे कामना-तरंगिनी में छोटी-छोटी लहरियाँ उठ रही थीं। कभी वक्षस्थल में, कभी कपोलों पर स्वेद हो जाते थे। प्रकृति प्रलोभन से सजी थी, विश्व मनःभ्रम बनकर तारा के यौवन की उमंग में डूबना चाहता था।

सहसा मंगल ने उसी प्रकार सपने में बर्राते हुए कहा—मेरी तारा, प्यारी तारा, आओ। उसके दोनों हाथ उठ रहे थे कि आँख बन्द कर तारा ने अपने को मंगल के अंक में रख दिया।

इस आत्मसमर्पण के बाद तारा और मंगल की दिन की चर्चा भी बदल गई। उत्साह से दिन बीतने लगे। दोनों के व्यक्तित्व में परिवर्तन हो चला। अब तारा का वह निःसंकोच भाव न रहा। पति-पत्नी का सा व्यवहार होने लगा।

तारा की एक चाची भी हरिद्वार में रहती थी। एक दिन उससे भी भेंट हो गई। पास ही गाँव में माता-पिता का घर था, परन्तु तारा के लिए उसमें ज़रा भी स्थान नहीं था। चाची तारा के घर आई। संकेत में उसने सावधान भी किया। कहा—क्या यह प्रेम ठहरेगा? तारा, मैं इसीलिए चिंतित हूँ। ऐसे बहुत से प्रेमी संसार में मिलते हैं, पर निबाहने वाले कम होते हैं। मैंने तेरी मां को ही देखा है। तारा की माता की लांक्षा की कहानी लम्बी थी। तारा को यह बात बुरी लगी। परन्तु चाची से कुछ अपनापा था। वह उससे बिगाड़ना नही चाहती। अतः चुप हो रही।

चाची अब प्रायः नित्य आती। तारा से विवाह की बातें होती। तारा और मंगल उत्साह में भरे थे। परन्तु एक दिन तारा की उपस्थिति न रहने पर चाची ने मंगल के मन में विष का वृक्ष बो दिया।—तारा की मां कुलटा थी, वह जारज संतान है। उसे यह भी पता हो गया कि तारा को उससे दो महीने का गर्भ है। परन्तु यह अपनी भूल मंगल को उतनी नहीं खली जितना तारा की माँ की लांछना। तारा की माता दुराचारिणी थी—यह बात उसे बार-बार खटकने लगी।

तीसरे दिन जब विवाह के लिए सब आर्यसमाजी मित्र जुट गये तो मंगल का कहीं पता नहीं था। सत्साहस ने उसका साथ छोड़ दिया था।—'समाज क्या कहेगा? तारा दुराचारिणी की संतान है। वह वेश्या के यहाँ रही, फिर मेरे साथ भाग आई। मुझसे अनुचित सम्बन्ध हुआ और अब गह गर्भवती है। मैं आज ब्याह करके कई कुकर्मों से कलुषित संतान का पिता कहलाऊंगा। वह स्वयं समाज की कल्पित लांछना और अत्याचार से विचलित हो उठा। वह भागा। अपराधी की तरह हरिद्वार से भागा। चाची ने अवसर पाकर उसके तीन महीने के गर्भ की बात भी सबको बतला

दी। तारा अकेली रह गई—एकदम निराश्रिता। वह चाची के घर जाकर रहने लगी। परन्तु अन्त तक न रह सकी। आये दिन चाची से चखचख रहती। एक दिन पूरे गर्भ को लिए आधी रात में उसने चाची का आश्रय छोड़ दिया। गंगा में डूब कर उसने आत्महत्या करने की चेष्टा की परन्तु एक संन्यासी ने उसे बचा लिया। संन्यासी ने उससे कहा—तुमको अकेले मरने का अधिकार चाहे हो भी, पर एक जीव-हत्या तुम और करने जा रही हो। यह नहीं होगा। चलो तुम, यहीं धर्मशाला है। उसमें रात भर विश्राम करो। प्रातः-काल मेरा शिष्य आयेगा और तुम्हें अस्पताल ले जायेगा। वहाँ तुम अन्य चिंताओं से भी निश्चिंत रहोगी। बालक उत्पन्न होने पर तुम स्वतंत्र हो, जहाँ चाहना, चली जाना। तारा के मन में भी बालक का मुख देखने की अभिलाषा जाग उठी। उसने जीने की बात सोची।—और उस दिन तो उस नव-जात शिशु को देखकर एक बार उसके मुख पर मुस्कराहट आ ही गई।

परन्तु यह मनस्थिति अधिक दिन तक नहीं रह सकी। एक दिन शिशु को सोया छोड़ तारा अस्पताल के बाहर तक चली गई और पगली की तरह गंगा की ओर चली। निस्तब्ध रजनी थी। पवन शांत था। गंगा जैसे सो रही थी। तारा ने उसके अंग में गिर कर उसे चौंका दिया। स्नेहमयी जननी के समान गंगा ने तारा को अपने वक्ष में ले लिया परन्तु इस बार भी निष्ठुर करुणा ने उसे मरने नहीं दिया। एक महात्मा ने उसके प्राण बचा ही लिए। बहुत दिनों के बाद जब वह स्वस्थ हुई तो उसने निश्चय किया कि अब गंगा का किनारा न छोड़ेगी—जहाँ यह भी जाकर विलीन हो जाती है उस समुद्र में जिसका कहीं किनारा नहीं, वहाँ चल कर डूबूंगी; देखूँ कौन बचाता है। वह गंगा के किनारे-किनारे चली।

मंगल हरिद्वार से भागकर काशी आ गया और वहाँ उसने किसी कालिज में नाम लिखा लिया। यहीं विजय से उसकी मित्रता हो गई। वह विजय के ही घर रहने लगा। किशोरी का अपार स्नेह उसके हृदय को जैसे भर देता था। देवनिरंजन जब आते तो कथा-वार्ता, पूजा-पाठ खूब चला करते। विजय नास्तिक था। वह इन्हें ढकोसले कहता, परन्तु मंगल उसकी नये ढंग से व्याख्या करता। उसका आर्यसमाजी उत्साह तो लगभग समाप्त हो गया था। वह हिंदू धर्म के भीतर से ही एक सार्वभौमिक सुधार की आवश्यकता का अनुभव करने लगा। परन्तु स्वयं किसी बड़े आन्दोलन का नेतृत्व करना उसके लिए असंभव था।

परन्तु विजय और मंगल की इस मित्रता के बीच में आ गई घूमती-फिरता तारा। किशोरी ने भण्डारा किया था। दो बजते-बजते साधु-ब्राह्मण खा-पीकर उठे। विजय और मंगल साथ-साथ खाने बैठे। दासियाँ जूठी पत्तलें बाहर फेंक रही थीं।

ऊपर की छत से पूरी और मिठाइयों के छकड़ों से लदी हुई पत्तलें उछाल दी जाती थीं। नीचे कुछ अछूत, डोम और डोमनियाँ थे, जिनके सिर पर टोकरियाँ थीं, हाथ में डंडे थे—जिनसे वे कुत्तों को हटाते थे और आपस में मारपीट, गाली-गलौज करते हुए उस भोजन की लूट मचा रहे थे—वे पुश्त-दर-पुश्त के भूखे। मंगल को कुछ सरदी लग रही थी। वह खाकर बिछावन पर पड़ रहा, परन्तु विजय खड़ा-खड़ा यह दृश्य देखता रहा। सहसा देखा—एक युवती इस छीना-झपटी में गिर पड़ी है। उसने नौकरों को आवाज दी। किशोरी को उस स्त्री पर दया आई। यह स्त्री वहीं रह गई। किशोरी को दासी की आवश्यकता थी ही। यह स्त्री तारा थी। यहाँ उसने अपना नाम यमुना बताया और इस प्रकार अपने वास्तविक नाम को छिपा लिया।

बहुत दिनों तक तारा ( यमुना ) मंगल से अपने को छिपाती रही, परन्तु अन्त तक छिपा नहीं सकी। परन्तु इस बीच में विजय उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो चला था। उसके विद्रोही मन को दोनों उपेक्षितों से विशेष सहानुभूति थी। एक दिन देवसिंहासन धोने के लिए यमुना देवगृह में चली गई। देवनिरंजन ने उसे झिड़क दिया—न जाने कौन है, देवगृह में जाने योग्य है या नहीं। अछूत, अन्त्यज और अपवित्र हो सकती है। यमुना देवगृह से बाहर निकलकर रोने लगी। विजय ने देखा, तो उसके हृदय पर चोट पड़ी—यमुना का क्या अपराध था? और देवनिरंजन ही कौन पवित्रात्मा है? उसी दिन अन्नकूट के संभार की बात को लेकर पिता-पुत्र में ठन गई। निरंजन ने उसे नास्तिक कहकर धिक्कारा और विजय ने उसकी सारी पूजा को सारहीन ढोंग कहा। मंगल ने आकर बीच-बचावा कर दिया, परन्तु विद्रोही विजय वहाँ से हटते-हटते भी यह कहे बिना नहीं रहा—धर्म के सेनापति विभीषिका उत्पन्न करके साधारण जनता से अपनी वृत्ति कमाते हैं और उन्हीं को गालियाँ भी सुनाते हैं। यह गुरुडम कितने दिनों चलेगा, मंगल? किशोरी ने निरंजन को संतुष्ट करना चाहा—बोल उठी—लड़का है।

निरंजन ने वहाँ से जाते-जाते कहा—लड़का है तो तुम्हारा है, साधुओं को इसकी चिंता क्या? इस बात ने किशोरी के हृदय पर कितनी बड़ी चोट की, वह यह जानता हुआ भी न जानता-सा बन रहा। मंगल के प्रयत्न से विजय कुछ नीचे उतरा और उस दिन का उत्सव-समारोह धूमधाम से मनाया गया। इसके बाद किशोरी की गृहस्थी नये उत्साह से चलने लगी। यमुना सर्वेसर्वा बन गई। यमुना के बिना किशोरी को पल भर चैन नहीं पड़ता। सब कामों में वह आगे थी। घर का सारा प्रबंध उसी के हाथ में था। वह विजय के मन को हाथ में लिए रहती। उसके कमरे की झाड़-पोंछ रखती। उसे पान खिलाती। कोई दिन ऐसा न बीतता कि

विजय को उसकी नई सुरुचि का परिचय नहीं मिलता ; पर मंगल यमुना से अलग-अलग रहता, यमुना उससे आँख चुराती ।

एक दिन सब रामनगर घूमने गये । उस दिन एकांत में मंगल की यमुना से भेंट हो गई । यमुना स्नान के बाद सूखी धोती पहन कर गीले बालों को समेट रही थी कि मंगल कहीं से उसके सामने आकर खड़ा हो गया । एक क्षण के लिए दोनों स्तब्ध !

तारा ! तुम्हीं हो !!—बड़े साहस से मंगल ने कहा ।

यमुना तीखी दृष्टि से उसे देखते हुए बोली—क्या मुझे अपनी विपत्ति के दिन भी किसी तरह न काटने दोगे ? तारा मर गई, मैं उसकी प्रेतात्मा हूँ ।

मंगल ने हाथ जोड़कर उससे क्षमा माँगी । तारा ने दृढ़ स्वर में कहा—हम दोनों का कल्याण इसी में है कि एक-दूसरे को न पहचानें और एक-दूसरे की राह में न अड़े । तुम विद्यालय के छात्र हो और मैं दासी यमुना । पापी प्राण की रक्षा के लिए मैं प्रार्थना करती हूँ, क्योंकि इसे देकर भी मैं न दे सकी ।

इसी समय टेकवी की आड़ से विजय ने मंगल को पुकारा । उसके प्रेम के सपने पर प्रहार पड़ा । हृदय में एक संदेह ने जन्म लिया । घर लौट कर कई दिनों तक दोनों मित्रों की भेंट नहीं हुई । कई दिन बाद मंगल को यमुना द्वारा ही समाचार मिला—आज तीसरा दिन है, विजय बाबू ने तकिये से सिर नहीं उठाया, ज्वर बड़ा भयानक होता जा रहा है । किसी अच्छे डाक्टर को क्यों नहीं लिवा लाते ? मंगल डाक्टकर को लिवा लाया और दोनों की दिन-रात की सुश्रुषा के बाद विजय शय्या छोड़ने में समर्थ हुआ, परन्तु फिर भी पूर्ण स्वस्थ्य होने में उसे समय लगा ।

परन्तु इसके बाद मंगल वहाँ नहीं रह सका । उसके शांत मन में बार-बार यमुना की सेवा और विजय की बीमारी—ये दोनों बातें लड़कर हलचल मचा देतीं । वह न जाने कैसी कल्पना से उन्मत्त हो उठता । हिंसक मनोवृत्ति जाग उठती । उसे दमन करने में वह असमर्थ था । एक दिन वह बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल पड़ा । विजय को खेद हुआ, पर दु.ख नहीं । वह बड़ी दुविधा में पड़ा था । मंगल जैसे उसकी प्रगति में बाधा-स्वरूप हो गया था । स्कूल के लड़कों को जैसे लंबी छुट्टी में प्रसन्नता मिलती है, ठीक उसी तरह विजय के हृदय में प्रफुल्लिता भरने लगी । बड़े उत्साह से वह भी अपनी तैयारी में लगा । किशोरी नवरात्र मना रही थी । वह भी तैयारी में थी । उन दिनों वह यमुना के और भी निकट आ गया । यमुना जैसे इस युवक को लेकर खेल करने चली हो—परन्तु वह जानती थी कि मंगल की वह है, विजय इतना कुछ होते हुए भी उसका कोई नहीं है ।

काशी से भाग कर मंगल वृंदावन चला गया। वहाँ उसने ऋषिकुल खोल लिया। समाज-सेवा, सुधार और अध्यापन को उसने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। आठ वर्ष से सोलह वर्ष तक के आठ लड़के उसके गुरुकुल में थे। एक धोती, एक अंगोछा, एक चादर—इतने से ही उसका काम चल जाता। कोई असुविधा नहीं होती। एक लंबे से टाट पर सब सो रहते। दो-तीन बर्तन और पाठ्य-पुस्तकें—ऋषिकुल की इतनी ही सम्पत्ति थी।

परन्तु भाग्य ने विजय और यमुना (तारा) को वहां भी ला पटका। देवनिरंजन के आग्रह से श्रावणी बिताने के लिए किशोरी अपने दल-सहित वृंदावन आ गई थी। मथुरा से वृंदावन जाने वाली सड़क पर एक घर लेकर यह परिवार रहने लगा था। यहाँ एक नई पात्री ने विजय के जीवन में प्रवेश किया। यह घंटी थी। गोविंदी चौबाइन की पुत्री। अल्हड़ गोप-बालिका। यमुना में अपार संयम था, तो घंटी में अपार उच्छृंखलता। घन्टी विजय को खिजाती, छेड़ती, टटोलती,—कहती यह ब्रज है बाबू जी! यहाँ के पत्ते-पत्ते में प्रेम भरा है। बन्सी वाले की बन्सी अब भी सेवाकुंज में आधी रात को बजती है, चिंता किस बात की? हंसती हुई वह विजय के पास सरक आती। यमुना को घन्टी की चाल-ढाल, उसका व्यंग, उसकी अँगड़ाइयाँ, उसकी उँगली चबाना, ये सब जैसे काट जाते, परन्तु किशोरी को यह छेड़छाड़ अच्छी लगती। यमुना से विजय को जो न मिल सका, वह घन्टी से मिलने लगा। वह उसे कैसे अस्वीकार कर देता? उसकी नास्तिकता बढ़ी, उच्छृंखलता बढ़ी, वह बदलने लगा। मंगल के ऋषिकुल की वह खिल्ली उड़ाता और उसे जलाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ता। एक दिन घन्टी को लेकर सायंकाल वह ऋषिकुल की ओर चल पड़ा। अँधेरा था। मंगल अपने आश्रम में बैठा हुआ संध्योपासन कर रहा था। सघन पीपल के वृक्ष के नीचे एक शिला पर पद्मासन लगाये वह महात्मा बुद्ध की प्रतिमूर्ति-सा दिखाई पड़ता था। विजय क्षण भर देखता रहा, फिर मन-ही-मन कह उठा—पाखण्ड! आँख खोल कर सहसा आचमन लेकर मंगल ने धुँधले प्रकाश में देखा—विजय, और दूर कौन है, एक स्त्री? यमुना तो नहीं है? वह पल भर के लिए अस्त-व्यस्त हो उठा। उसने पुकारा—विजय बाबू! विजय ने कहा—दूर से घूम कर आ रहा हूँ, फिर आऊँगा।

विजय और घन्टी वहीं से लौट पड़े। परन्तु उस दिन मंगल का संध्या का पाठ न हो सका। दीपक जल जाने पर जब वह पाठशाला में बैठा तो 'प्राकृत-प्रकाश' के सूत्र उसे बीहड़ लगे। व्याख्या अस्पष्ट हो गई। ब्रह्मचारियों ने देखा—'गुरु को आज क्या हो गया है?'

एक दिन यमुना ने उसकी उच्छृंखलता के पंख कतरने चाहे, परन्तु विजय इसके लिए तैयार नहीं था। वह तो ईसाई बनने की बात मन में सोच रहा था। हिंदू है तो न उसे यमुना मिल सकी है, न घन्टी। 'विजय उससे विवाह करना चाहता है' जान कर यमुना को जैसे ठोकर लगी। उसने मर्माहत स्वर से पूछा—क्या विजय बाबू! क्या दासी होकर रहना किसी भी भद्र महिला के लिए अपमान का पर्याप्त कारण हो सकता है?

यमुना! तुम दासी हो? कोई मेरा हृदय खोलकर देखे, तुम मेरी आराध्य देवी हो—सर्वस्व हो—विजय उत्तेजित था।

परन्तु यमुना ने आँसू टपकाकर केवल कहा—मैं सब झेल चुकी हूँ! उसमें सफल नहीं हुई, उसकी साध भी नहीं रही, विजय बाबू! मै दया की पात्री एक बहन होना चाहती हूँ—है किसी के पास इतनी निःस्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति जो मुझे दे सके?

विजय की जैसे दुनिया ही लुट गई। उसकी उच्छृंखलता ने नया रूप पकड़ा और फगुवे के उत्साह से मूर्च्छित गोपबाला घन्टी के सजीव और उष्ण आलिंगन ने उसके उच्छृंखल व्यक्तित्व को दोनों हाथों में सिमेट लिया। खुली खिड़की से यमुना यह दृश्य न देख सकी। इसी समय किशोरी कहीं बाहर से लौट कर घर में आई।

किशोरी ने पूछा—विजय कहाँ है? तो यमुना ने केवल खिड़की खोल दी। किशोरी ने पूछा—निखरी चाँदनी में एक स्त्री और एक पुरुष कदम्ब के नीचे बैठे हैं। उसने घन्टी को बुलाकर धिक्कारा परन्तु घन्टी भला कब माननेवाली थी? विजय से माँ ने कहा—विजय, तुम कितने निर्लज्ज हो? अपने अपराधों को समझकर लज्जित क्यों नहीं होते? नशे की खुमारी से भरी आँखों को उठाकर विजय ने किशोरी की ओर देखा और कहा—मैं अपने कामों पर हँसता हूँ। लज्जित नहीं होता। जिन्हें लज्जा बड़ी प्रिय हो वे उसे अपने कामों में खोजें।

यह कहकर वह मुस्करा दिया।

तब यह छोकरा सँभलेगा नहीं। उसके व्यंग की गहराई को किशोरी अच्छी तरह समझती थी। वह निरंजन को साथ लेकर काशी लौट गई। जब यमुना भी जाने लगी तब विजय से न रहा गया। विजय ने [illegible] [illegible]! तुम भी मुझे छोड़ कर चली जा रही हो?—परन्तु यमुना वहाँ से स्टेशन के इक्के की ओर चली गई। विजय चुपचाप बैठा रहा। वह आज चारों ओर से धिक्कार पा रहा था। वह आज निर्वासित था। इच्छा हुई कि वह मां को रोके, यमुना को मनाये। परन्तु उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व ने नीचे उतरना स्वीकार नहीं किया। फिर कुछ विचार कर वह भी अपना

सामान बाँधने लगा। एक ताँगा बुलाया और समान उस पर रखकर मथुरा की ओर चल दिया।

अकस्मात् उसे कोई गाता सुनाई पड़ा—"मैं कौन जतन से खोलूँ ?"

विजय ने स्वर पहचानकर पुकारा—घंटी ! घंटी ताँगे के पास चली आई। उसने पूछा—कहाँ विजय बाबू ?

घंटी भी मथुरा जाना चाहती थी। विजय ने उसे अपने ही पास बिठा लिया।

इस घटनाचक्र ने विजय और घंटी को ईसाई समाज में डाल ही दिया। वह ईसाई समाज मथुरा के चर्च के पादरी का कुटुम्ब था। पादरी जान, बाथम मारगरेट लतिका, सरला। मारगरेट लतिका बाथम की हिन्दुस्तानी पत्नी थी। सरला पचास वर्ष की दासी थी। पादरी जान उसे ईसा की करुणा की प्रतिमूर्ति कहता। एक अज्ञात करुणा की छाया उसके मुँह पर सदा खेलती रहती। विजय और घंटी का ताँगा चर्च के सामने आया था कि दो गुंडों ने लाठी से उस पर आक्रमण किया। विजय के सिर में चोट आई और वह क्षण भर के लिए मूर्छित होकर गिर पड़ा। घंटी भाग कर चर्च की ओर दौड़ी। उसकी कातर पुकार सुनकर बाथम बाहर निकल आया गुंडे भाग गये। तब तक विजय को होश आ गया था। वह धीरे-धीरे बंगले में आया और एक आरामकुर्सी पर बैठ गया। इतने में चर्च का घंटा बजा। पादरी ने चलने की उत्सुकता प्रगट की। लतिका ने कहा—बाथम प्रार्थना करने जायेंगे। मुझे आज्ञा हो तो इन विपन्न मनुष्यों की सहायता करूँ। यह तो प्रार्थना से कम नहीं है। जान और बाथम चले गये तो लतिका और सरला विजय और घन्टी की सेवा करने लगे। विजय जाना चाहता था, परन्तु लतिका ने रात के समय बँगले से बाहर उसे भेजना उचित नहीं समझा। दूसरे दिन विजय ने अपना परिचय दिया। वह काशी का एक धनी युवक है और घन्टी उसकी मित्र है। बाथम चित्रकार था। प्राचीन युगों की कलाकृतियों का बड़ा सुन्दर संग्रह उसके पास था। इधर विजय स्वयं चित्रकार था। काशी के अपने घर की भित्तियों को उसने न जाने कितने कलापूर्ण चित्रों से सजा रखा था। बाथम को यह आशा भी थी कि काशी का यह संभ्रांत तरुण कदाचित् उसके कुछ चित्र खरीद लेगा। दोनों मित्र बन गये। बाथम ने कहा आप कृपा करके कुछ दिन और मेरे अतिथि रहें। आप जितने दिन मथुरा में रहें मेरे यहाँ रहें—यह मेरी हार्दिक प्रार्थना है। आपके मित्र को भी कोई असुविधा नहीं होगी। सरला हिन्दुस्तानी रीति से आपके लिए प्रबन्ध करेगी।

बाथम के यहाँ विजय और घन्टी कितने ही महीने रहे। वह दिन भर चित्र बनाया करता था। उसकी तूलिका बराबर चला करती। एक दिन विजय सरला के पास बैठा हुआ उसके दुःख की कहानी सुन रहा था कि एक बड़ा रहस्य खुला।

सरला गंगासागर के मकर संक्रांति के मेले में गई थी। वहीं एक साधु की धूर्तता से उसका इकलौता पुत्र गायब हो गया। उसकी जगह उसे एक लड़की मिली। इस लड़की को वह नहीं पाल सकी, परन्तु गोविंदी चौबाइन ने उसे पाल लिया। गोविंदी तो घंटी की माता का ही नाम था। परन्तु उसकी असली माता कौन थी ? उसे सरला का पुत्र मिल गया था, परन्तु उसे संदेह हो गया था कि यह उसकी लड़की से लड़का नहीं बना, वस्तुतः कोई दूसरा लड़का था। हरिद्वार में एक पंडे से उस 'विधवा का गुप्त प्रेम हो गया और वह लड़के को एक अनाथालय में छोड़कर पंडे के साथ भाग गई। उसका नाम था नन्दो। वह साधु बाद में अन्धा हो गया। भिक्षा ही उसकी वृत्ति रह गई। वह भीतर-भीतर अपने पश्चात्ताप से जला करता। उसने सरला का पता लगा लिया। सरला ने बताया, लड़का स्वर्ण-त्रिकोण के रूप में एक कवच पहने हुए था। यह उसकी पहचान थी। विजय जानता था, मंगल के गले में ऐसा ही कवच है। निश्चय ही वह सरला का पुत्र होगा। परन्तु उसने कुछ कहा नहीं। पहले उसने सोचा कि सरला को उसके पुत्र से मिला दे, फिर उसे शंका हुई, सम्भव है मंगल उसका पुत्र न हो। उसने सावधानी से उस प्रश्न को टाल दिया। नहीं कहा जा सकता कि इस विचार में मंगल के प्रति विद्वेष ने भी कुछ सहायता की थी, या नहीं। इस विषय में यहाँ पर हमें लेखक का कोई संकेत नहीं मिलता।

वृन्दावन से दूर एक हरा-भरा टीला था। यमुना उससे टकरा कर आती थी। दूर से देखने पर टीला एक छायादार निकुंज जैसा लगता था। एक ओर पत्थर की सीढ़ियाँ थीं, जिनसे चढ़कर ऊपर जाने पर एक छोटा-सा श्रीकृष्ण का मन्दिर था। उसके चारों ओर कोठरी और दालानें थीं। उस मन्दिर के अध्यक्ष थे गोस्वामी कृष्ण-शरण। आठ वर्ष के तपस्वी पुरुष। अनेक ब्रह्मचारिणियों और ब्रह्मचारियों को लेकर वह प्रकृतिमूलक नये कृष्ण-भक्ति संप्रदाय की नींव डाल रहे थे जिनका मूलमन्त्र होता है सेवा। उनके प्रवचनों की मथुरा में धूम थी। मंगल भी उनके साथ रहकर सेवामार्ग में लग गया था। यमुना भी वहीं आ गई थी। झाड़ू लगाना, अतिथियों की सुविधाओं की देख-रेख रखना और सबकी सेवा करना उसका धर्म था। गोस्वामीजी कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला के उपासक नहीं थे। उन्होंने धर्म-रक्षक महान् योद्धा और आदर्शपूर्ण पुरुष के रूप में कृष्ण को जाना-पहचाना था। उनके मन्दिर की कृष्ण-मूर्ति भी भिन्न प्रकार की थी। एक श्याम, ऊर्जस्वित, वयस्क और प्रसन्न-गंभीर मूर्ति खड़ी थी। बाएं हाथ से कटि से आबद्ध नंद के खडग की मूठ पर बल दिये, दाहिने हाथ की अभय मुद्रा से आश्वासन की घोषणा करते हुए कृष्णचन्द्र की यह मूर्ति हृदय की हलचलों को शांत कर देती थी। शिल्पी की कला सफल थी।

विजय और घन्टी भी गोस्वामी के प्रवचन में सम्मिलित होने लगे। कभी-कभी बाथम और पादरी भी साथ होता।

एक दिन जब प्रवचन समाप्त हुआ तब विजय ने हाथ जोड़कर कहा—महाराज ! मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। मैं इस समाज से उपेक्षिता अज्ञातकुल-शीला घन्टी से विवाह करना चाहता हूँ। इसमें आपकी क्या अनुमति है ?

गोस्वामी कृष्णशरण को आपत्ति नहीं थी। विजय ने बड़े उत्साह से घंटी का हाथ पकड़ा और देवग्रह के सामने आ गया। वह कुछ बोलना ही चाहता था कि यमुना सामने आकर खड़ी हो गई। वह कहने लगी—विजय बाबू, यह व्याह आप केवल अहंकार से करने जा रहे हैं। आपका घंटी पर प्रेम नहीं।

विजय ने हतबुद्धि के समान एक बार यमुना को देखा। घंटी गड़ी जा रही थी। विजय का गला पकड़कर जैसे किसी ने धक्का दे दिया। वह सरला के पास लौट गया। इसके पश्चात् सब तांगों पर बैठ कर वहां से प्रस्थान कर गये।

परन्तु कुछ दिनों बाद एक अनहोनी घटना घट गई। कुछ गुण्डे घंटी के पीछे थे। एक दिन घंटी और विजय रात के पिछले पहर में कृष्णशरण के मंदिर की ओर घूमने चले। अकस्मात् गुण्डों ने आक्रमण किया। विजय ने बड़े साहस से सामना किया। एक गुण्डे की उसके द्वारा हत्या हो गई। दूसरा भाग निकला। निरंजन विजय को ढूँढता हुआ वहां आ पहुँचा था। यमुना भी थी। दोनों ने आग्रहपूर्वक विजय को वहां से भगा दिया। परन्तु विजय के जाने के बाद उसके खून को यमुना ने ओट लिया। वह गुण्डा उस पर अत्याचार करना चाहता था इसलिए मारा गया। किसने मारा, इस विषय में वह मौन थी। पुलिस ने उसे हिरासत में ले लिया। कुछ समय बाद मुकदमा शुरू हुआ। निरंजन ने थैली खोल दी। वह वहीं कृष्णशरण के आश्रम में रहने लगा। इस मुकदमे को लेकर मथुरा और वृन्दावन में धूम मच गई। अन्त में यमुना मुक्त कर दी गई। उसका अपराध सिद्ध नहीं हो सका।

परन्तु घंटी ! बाथम पहले से ही उसके पीछे था। वह उसे अपने साथ मथुरा ले गया और वहाँ उससे विवाह कर लिया। इससे पहले उसने लतिका से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था—परन्तु घंटी बहुत दिनों तक बाथम के साथ न रह सकी। पुरानी स्मृतियों ने उसे पागल बना दिया था। एक दिन घन्टी अपना रेशमी साया पहने नाचती हुई दौड़ पड़ी। अंधकार में चल पड़ी। बाथम उस समय क्लब में था। मैजिस्ट्रेट की सिफारिशी चिट्ठी की उसे अत्यन्त आवश्यकता थी। पादरी जान सोच रहा था—अपनी समाधि का पत्थर कहाँ से मँगाऊँ, उस पर काम कैसा हो ? उधर घन्टी—पागल घन्टी—अन्धेरे में भाग रही थी।

और विजय ? उसने एक नया जीवन आरम्भ किया। वह 'नये' बन गया। फतहपुर सीकरी में अछनेरा जाने वाली सड़क पर एक छोटा-सा जंगल था। ऊँची टेकरियों, पहाड़ी नालों और ऊसर टुकड़ों के कारण यह जंगल और भी भयानक हो गया था। यहीं डकैतों का सरदार गूजर अपने भयानक मनुष्यों के साथ रहता था। गाला उसकी लड़की थी। कोई बीस वर्ष की होगी। परन्तु वह किशोरी ही अधिक लगती थी। एक नया आदमी इस दल में मिला था। बदन ने 'नये' उसका नाम रख दिया था। जब बदन का दल कुछ दिनों के लिए कहीं दूर चला जाता तो गाला अकेली रह जाती। इसी से बदन ने इस युवक को रख लिया था। वह कुलीन युवक जान पड़ता था। कदाचित् बूढ़े गूजर ने सोचा था—और तो कोई है ही नहीं। यह वन-विहंगिनी यदि इस युवक के साथ अपना नीड़ बसा ले और वह युवक यहीं रहने लगे तो बुरा कुछ नहीं होगा। युवक 'नये' कभी-कभी बड़ी सुन्दर बंसी बजाता। गाला सुनती तो विभोर हो जाती। एक दिन गाला ने कहा—सीकरी में एक साधु आया है। हिन्दू धर्म का तत्त्व समझाने के लिए। जंगली बालकों की एक पाठशाला उसने खोल दी है। वह कभी-कभी इधर भी आता है। यह साधु मंगलदेव ही था। सीकरी की बस्ती से हटकर एक ऊँचे टीले पर फूस का बड़ा-सा छप्पर था, और नीचे कई चटाइयाँ पड़ी थीं। यही मंगलदेव की पाठशाला है। उस दिन गाला अपने पिता के साथ बाजार गई। बाजार में मंगलदेव से भेंट हो गई। वह भी अकस्मात्। वह अपने मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करता हुआ शून्य पथ पर निरुद्देश्य चला जा रहा था। सहसा किसी ने उसका हाथ पकड़कर खींच लिया। उसने क्रोध से उस खींचने वाले को देखा—लहँगा, कुरता और ओढ़नी में वह गूजरी स्त्री नहीं, युवती। दूसरी ओर एक बैल खड़ी निर्भीकता से सींग हिलाता, दौड़ता निकल गया। मंगल ने पहचाना, गाला थी। मंगल के हृदय में नई स्फूर्ति हुई—अरे, यह तुम हो गाला!

उस दिन मंगल उसे अपनी कुटी में लिवा लाया। मंगल की व्यावहारिकता और उसके परोपकार-सम्बन्धी उत्साह को देखकर बदन और गाला दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुए। मंगल ने कहा—ठाकुर, मैं तो चाहता हूँ कि एक लड़कियों की पाठशाला हो जाती, पर उसके लिए स्त्री-अध्यापिका की आवश्यकता होगी और वह दुर्लभ है।

गाला का उत्साह बढ़ा। उसने कहा—बाबा, तुम कहते तो मैं ही लड़कियों को पढ़ाती।

परन्तु बूढ़ा गूजर गाला को छोड़ कब सकता था? वह नागरिक कैसे बन पाता। उसे तो अपनी जंगली की टेकरी ही सबसे अधिक पसंद थी।

इधर 'नये' के मन में गाला का एक अकर्षण जाग उठा था। वह कभी-कभी अपनी बाँसुरी लेकर नदी के तट पर चला जाता और बहुत धीरे-धीरे उसे फूँकता।

उसने एक भंयकर कुत्ता पाल रखा था । उसका नाम उसने 'भालू' रख छोड़ा था। वही एकांत में उसका साथी बनता । एक दिन बदन ने उससे काम की बात चलाई। वह गाला को किसी को सौंप देना चाहता हैं। उसने कहा—मेरे पास अपार संपत्ति है और गाला और उसका पति जीवन भर सुख से रह सकते हैं—यदि उनकी संसार में सरल जीवन बिता लेने को इच्छा हो। नये ! मैं तुमको उपयुक्त समझता हूँ। गाला के जीवन की धारा सरल पथ से बहा ले चलने की क्षमता तुम में है। तुम्हें स्वीकार है ?

नये के हृदय में क्षण भर भीषण संघर्ष रहा । उसने अपने हृदय को टटोला। सचमुच, उसके हृदय में दाम्पत्य जीवन की सुख-साधना की कोई सामग्री बची नहीं थी। फिर वह एक संदिग्ध हत्यारा मनुष्य है। वह गाला के जीवन को संकट में क्यों डाले ?

बदन निरुपाय और हताश हो गया । गाला को लगा, जैसे उसका अपमान सीमा नहीं जानता । उसने रोकर बदन से कहा—आप मुझे अपमानित कर रहे है, मैं अपने यहाँ पले हुए मनुष्य से कभी विवाह न करूँगी। यह क्या, मैंने अभी विवाह करने का विचार भी नहीं किया है। मेरा उद्देश्य है—पढ़ना और पढ़ाना। मैं निश्चय कर चुकी हूँ कि मैं किसी बालिका-विद्यालय में पढ़ाऊँगी।

एक क्षण के लिए बदन के मुँह पर भीषण भाव नाच उठा। वह दुर्दान्त मनुष्य हथकड़ियों से जकड़े हुए बंदी के समान किटकिटाकर बोला--तो आज से मेरा-तेरा कोई संबंध नहीं और एक ओर चल पड़ा। इसके बाद गाला मंगलदेव की पाठशाला में काम करने लगी । अब इस पाठशाला के दो विभाग हो गये—एक लड़कों का, दूसरा लड़कियों का। गाला लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध करती। अब वह एक प्रभावशालिनी गंभीर युवती बन गई थी। बहुत से लोग जो पाठशाला में आते, वे इस जोड़ी को आश्चर्य से देखते। पाठशाला के बड़े छप्पर के पास ही गाला की भी झोंपड़ी थी, जिसमें एक चटाई, तीन-चार कपड़े, एक पानी का बर्तन और कुछ पुस्तकें थीं। इसी झोंपड़ी में गाला पुस्तकें पढ़ती, मंगल से वाद-विवाद करती और नये जीवन के सपने देखती। परन्तु एक दिन जब पूर्व में प्रकाश नहीं फैला था, गाला की आँख खुल गई। उसने देखा, कोई बड़ी दाढ़ी-मूँछों वाला लम्बा-चौड़ा मनुष्य खड़ा है। गाला समझ गई कि वह 'नये' था। 'भला इस समय तुम क्यों आये ?' कुछ स्वस्थ होकर गाला ने कहा—'नये' ने समाचार सुनाया, बदन कुछ घंटों के लिए संसार में जीवित है। यदि वह चाहे तो देख सकती है। बदन के घुटने में गोली लगी थी। रात को पुलिस ने डाके के माल के संबंध में उस जंगल की तलाशी ली थी, परन्तु

कोई वस्तु वहाँ नहीं मिली। अकेले बदन ने वीरता से उस पुलिस-दल का विरोध किया और न मालूम कितनी गोलियाँ झेलीं। घायल बदन को मरने के लिए छोड़कर पुलिस लौट गई। बदन को भी ज्वर हो गया था। तीन दिन तक विजय ( नये ) ने उसकी सुश्रुषा की। बदन ने एक दिन भी गाला से मिलने की इच्छा नहीं प्रगट की—उससे तो वह रुष्ट था। 'नये' जब गाला को लेकर पहुँचा, तब बदन की अवस्था अत्यन्त भयानक हो चुकी थी। गाला उसके पैर पकड़ कर रोने लगी। बदन ने कष्ट से दोनों हाथ उठाये, गाला ने अपने शरीर को अत्यन्त हल्का करके बदन के हाथ में दे दिया। मारणोन्मुख वृद्ध पिता ने अपनी कन्या का सिर चूम लिया। यह पिता-पुत्री का अन्तिम मिलन था। इसके बाद तो गाला को वह शैशव से परिचित जंगली भूखंड छोड़ना ही पड़ा। गाला ने बदन की सारी सम्पत्ति को मंगल की पाठशाला में लगाने का निश्चय किया।

मंगल यमुना के हत्यावाले मुकदमे में दौड़धूप करता हुआ बीमार पड़ गया। उसे ज्वर आ गया। कृष्णशरण की टेकरी में ही वह पड़ा रहता। सरला और लतिका भी आश्रम में पहुँच गईं। वेही मंगल का उपचार करतीं। मंगल ज्वर से अचेत रहता। कभी-कभी गाला का नाम लेकर वह पाठशाला की पढ़ाई के संबंध में कुछ प्रश्न करता। धीरे-धीरे उसका प्रलाप बढ़ने लगा। तब गोस्वामी जी ने गाला को चिट्ठी लिखी। चिट्ठी मिलते ही गाला चल दी। यहाँ सरला के हृदय में मातृत्व जाग रहा था। वह सोचती, चाहे जो कुछ हो, मंगल बच जाये। आज मंगल के ज्वर का वेग अत्यन्त भयानक था। गाला पास बैठी मंगल के मुख पर पसीने की बूँदों को कपड़े से पोंछ रही थी। बार-बार ध्यान से मंगल का मुख सूखता था। वैद्यजी ने कहा था—आज की रात बीत जाने पर यह निश्चय ही अच्छा हो जायेगा। गाला की आँख में बेबसी और निराशा नाच रही थी। सरला ने दूर से यह सब कुछ देखा। वह धीरे-धीरे एक बार कृष्ण की प्रतिमा के सम्मुख गई। उसने प्रार्थना की। अंचल फैला कर मंगल की प्राण-रक्षा माँगी। मानव-हृदय कितना स्नेह-दुर्बल है। फिर वह बड़-बड़ाती हुई यमुना के तट की ओर बढ़ने लगी। अंधकार में पथ दिखाई नहीं देता था, पर वह चली जा रही थी। उसने देखा—एक व्यक्ति कंबल ओढ़े, यमुना की ओर मुँह किये बैठा है जैसे कोई योगी की अचल समाधि लगी हो।

सरला कहने लगी—हे यमुना माता! मंगल का कल्याण करो और उसे जीवित करके गाला को भी प्राण-दान दो। माता! आज की रात बड़ी भयानक है—दुहाई भगवान् की।

वह बैठा हुआ कंबल वाला व्यक्ति विचलित हो उठा। उसने बड़े गंभीर स्वर से पूछा—क्या मंगलदेव रुग्ण हैं?

प्रार्थिनी और व्याकुल सरला ने कहा—हाँ, महाराज ! यह किसी का बच्चा हैं, उसके स्नेह का धन है, उसी की कल्याण-कामना कर रही हूँ।

उस व्यक्ति ने टटोल कर कोई वस्तु निकाली और उसे सरला की ओर फेंक दिया। सरला ने देखा, वह एक यंत्र है। उसने कहा—बड़ी दया हुई महाराज ! तो इसे ले जाकर बाँध दूँगी न ?

वह फिर न बोला, जैसे समाधि लग गई हो।

लौट कर उसने देखा, गाला और यमुना मंगल की सेवा में लगी हैं। दोनों रात भर रोगी को पकड़ कर बैठा रही हैं। सरला ने वह यंत्र मंगल के गले में बाँध दिया। मंगल को तब नींद आ गई थी।

दूसरे दिन मंगल का ज्वर उतरा। वह यंत्र उसके गले के नीचे गड़ रहा था। उसने उसे खींच कर बाहर निकाल लिया। मंगल ने देखा—वह उसी का पुराना यंत्र है। यहाँ कैसे आ गया ? वह आश्चर्य से पसीने-पसीने हो रहा था। उसने सरला से पूछा—यह मेरा यंत्र इतने दिनों बाद कौन ला कर पहना गया, आश्चर्य है।

सरला ने उत्कंठा से पूछा—तुम्हारा यंत्र कैसे, बेटा ! यह तो मैं एक साधु से लाई हूँ।

मंगल को कठिनता से विश्वास हुआ।—पर वह यंत्र तो उसी का था। उधर सरला ने यंत्र को ध्यान से देखा तो चिल्ला उठी—'त्रिकोण यंत्र' वह चिल्ला उठी—'मेरी खोई हुई निधि ! मेरे लाल ! यह दिन देखना किस पुण्य का फल है ? मेरे भगवान !

उस दिन मंगल को माँ मिली और सरला को पुत्र मिला। लतिका भी उस हर्ष से बंचित नहीं रही। बहुत दिनों के बाद आज उसके मुँह पर हास्य की रेखा दिखाई दी।

भण्डार में बैठी हुई नंदो ने भी संवाद सुना। वह चुपचाप रही। घंटी भी स्तब्ध होकर अपनी माता के साथ उसके काम में हाथ बँटाने लगी। 'संघ' भर में यह समाचार फैल गया। उस दिन की प्रभात-वेला में न जाने कितने बिछुड़े हुए हृदय मिले। घंटी ने लतिका से क्षमा माँगी। नंदो ने यमुना ( तारा ) को बेटी कह कर हृदय से लगाया। नन्दो को दुःख था कि मंगल यमुना को छोड़कर एक दूसरी स्त्री से विवाह करने की चिंता में निमग्न है, परन्तु यमुना तो करुणा-मूर्ति बनी हुई थी। उसने कहा—नहीं चाची ! वह दिन चाहे लौट आये, पर वह हृदय कहाँ से आवेगा। मंगल को दुःख पहुँचाकर आघात दे सकूंगी, पर अपने लिए सुख कहाँ से लाऊंगी। चाची ! तुम मेरे दुःखों की साक्षी हो, मैंने केवल एक अपराध किया

है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी नहीं इकट्ठा किया था और कुछ मंत्रों से कुछ लोगों की जीभ से उसका उल्लेख नहीं करा लिया था ; पर किया था प्रेम। चाची ! यदि उसका यही पुरस्कार है तो मैं उसे स्वीकार करती हूँ।

परन्तु अपने परित्यक्त पुत्र की याद करके वह हृदय कचोट कर रह गई। चाची ने उसकी अश्रुधारा पोंछते हुए कहा—बेटी ! तुम्हारा लाल जीवित है और सुखी है।

तारा ( यमुना ) चिल्ला पड़ी। उसने कहा—सच कहती हो, चाची।

—सच, तारा ! वह काशी के एक धनी श्रीचंद और किशोरी बहू का दत्तक पुत्र है। मैंने उसे वहाँ दिया है। क्या इसके लिए तुम मुझे क्षमा करोगी, बेटी ?

तारा की आँखों से आनन्द के आँसू बरसने लगे।

शुभ मुहूर्त्त में मंगलदेव और गाला विवाह-सूत्र में बँध गये। गोस्वामी कृष्णशरण इस परिणय के सूत्रधार थे। कृष्णशरण ने प्रतिमा ( देवविग्रह ) से दो मालाएँ लेकर दोनों को पहना दीं। उपस्थित सज्जनों ने हर्षध्वनि की।

विजय उस समय वहीं था। उसका डरावना कंठ-स्वर गूँज उठा—अच्छा तो है, चंगेज और वर्धनों की संतानों की क्या सुन्दर जोड़ी है। भीड़ के पीछे, कंबल ओढ़े, इस घनी दाढ़ी-मूँछों वाले युवक को तारा पहचान गई। उसने कंधा पकड़कर उसे झकझोरा– वह क्या प्राण देना चाहता है ? कहीं किसी ने पहचान लिया तो ? वह उसका हाथ पकड़कर अन्धकार की ओर ले चली।

इसके बाद यमुना और विजय बनारस चले गये। यमुना ने श्रीचंद के यहाँ नौकरी कर ली। उसके हृदय का अंश मोहन वहीं था। थोड़े दिनों में ही मोहन उससे खूब हिल-मिल गया। विजय 'भालू' के साथ दशाश्वमेध घाट पर पड़ा रहता। किशोरी उसके स्नेह में घुल रही थी और उधर उच्छृंखल, परन्तु अल्हड़ विजय दो-दो दानों के लिए भीख माँग कर अपने प्राण दिये देता था। वह चाहता तो अपार धन सम्पत्ति का स्वामी बन बैठता, परन्तु समाज से समझौता करना तो उसने सीखा ही नहीं था—आखिर एक दिन इस विद्रोह का मूल्य उसे प्राण देकर चुकाना पड़ा। अन्तिम समय विजय को एक रहस्य खुला—तारा ( यमुना ) उसकी बहन थी। तारा की माता राम से देवनिरंजन का अवैध सम्बध हो गया था। तब यमुना उसकी प्रेयसी नहीं हो सकती थी। जिस पत्र में देवनिरजन ने यह लिखा था उसे पढ़ते-पढ़ते विजय की आँखों में आँसू आ गये थे। उसने पत्र फाड़-फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया तब भी वह न मिटा, उज्ज्वल अक्षरों में सूर्य की किरणों में आकाश पर वह भयानक सत्य चमकने लगा।

उसकी धड़कन बढ़ गई। आज न जाने कितने दिन से वह बीमार था। वहीं पड़ा रहता। यमुना नित्य उसे रोटी दे आती और वह निर्विकार भाव से उसे ग्रहण कर लेता। अन्तिम साँस में कोई आँसू बहाने वाला न था, यह देख उसे एक प्रसन्नता हुई। उसने मन-ही-मन कहा—इस अंतिम घड़ी में हे भगवान्! मैं तुमको स्मरण करता हूँ, आज तक कभी नहीं किया था तब भी तुमने मुझे कितना बचाया, कितनी रक्षा की! मेरे देव, मेरा नमस्कार ग्रहण करो, इस नास्तिक का समर्पण स्वीकार करो। अनाथों के नाथ! तुम्हारी जय हो।

उसी क्षण उसके हृदय की गति बन्द हो गई। यमुना मोहन को लेकर उधर आ निकली थी। उसने भाई की यह दशा देखी। श्रीचंद से कुछ रुपये लेकर उसने उस दरिद्र भिक्षु का दाह-संस्कार कराया। परन्तु शव के अन्तिम संस्कार के लिए कुछ लोग भी तो चाहिएँ। वे कहाँ से आवें। तभी चार स्वयं-सेवकों को लिए घंटी आई। उन दिनों भारत-सेवा-संघ का अधिवेशन काशी में ही हो रहा था। मंगल और गाला भी आये हुए थे। घन्टी की तत्परता पर मंगल बड़ा प्रसन्न हुआ, परन्तु अभी उसे बहुत-सा काम करना था।

'मनुष्य के हिसाब-किताब में काम ही तो-बाकी पड़े मिलते हैं'—कह कर घण्टी सोचने लगी। फिर उस शव की दीन-दशा मंगल को संकेत से दिखाई। मंगल ने देखा—एक स्त्री पास ही मलिन वस्त्रों में बैठी है। उसका घूँघट आँसुओं से भीग गया है और निराश्रय पड़ा है एक कंकाल।

ये दो मुख्य कथाएँ अत्यंत सतर्कता से एक सूत्र में पिरो दी गई हैं। परन्तु छोटी-मोटी कुछ अन्य कहानियाँ भी उपन्यास में बिखरी पड़ी हैं। इसमें गाला की माता और बदन गूजर की प्रेम और वैवाहिक जीवन की कथा सबसे रोचक है। ये गौण कथाएँ कथा-सूत्र में पिरो नहीं दी जातीं। पात्र के मुँह से पूर्ण-कथा के रूप में या पत्र के द्वारा ही उनका परिचय होता है। इन अप्रासंगिक कथाओं के कारण ही 'कंकाल' का रूप कुछ विशृंखल हो गया है। यदि 'प्रसाद' केवल पात्रों के मनोवैज्ञानिक संघर्ष और मनोभावों के घात-प्रतिघात तक ही सीमित रहते तो कथा का सूत्र कहीं अधिक संगठित रहता। उन्होंने कथा को घटना-वैचित्र्य पर आधारित किया है और इस प्रकार 'कंकाल' की यथार्थवादिता उसके स्वच्छंदतावाद पर आश्रित हो गई है। घटना-वैचित्र्य पर अंकित उपन्यास अधिकांशतः गौण श्रेणी के रहते हैं। उनमें चरित्रों का रूप सुस्पष्ट नहीं रहता, उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। इसीसे 'कंकाल' की कथावस्तु पात्रों के भीतर से विकसित नहीं होती। श्रेष्ठ उपन्यास में पात्र ही कथावस्तु को परिचालित करते हैं। चारित्रिक द्वन्द ही घटनाओं का सृजन करते हैं और घटनाओं को लेकर ही उपन्यास की कथावस्तु आगे बढ़ती है

जिस प्रकार के घटना-संगठन की योजना बाद में हुई है वह 'चन्द्रकांता' के युग के उपन्यासों की याद दिलाती है। यह योजना इसलिए करनी पड़ी है कि 'प्रसाद' एक विशेष सिद्धांत से परिचालित हैं। वह अपने प्रत्येक पात्र को अवैध, हीन मानव और कुल-भ्रष्ट सिद्ध करना चाहते हैं। इसीलिए मंगल, विजय, तारा (यमुना), लतिका, गाला, मोहन सभी संस्कृतिच्युत रूप में सामने आते हैं। वर्णाश्रम की मान्यताओं पर गर्व करना हिंदू समाज का सबसे बड़ा ढकोसला है। वर्णाश्रम है कहाँ ? सारा हिन्दू-समाज कामना की एक वेगवती धारा में बहा जा रहा है और आज वर्णसंकर ही एक मात्र वर्ण रह गया है। रक्त-शुद्धता की बात करना छलना से खेलना है। उपन्यास की कथावस्तु इस उद्देश्य-स्थापना के कारण स्वाभाविक गति से नहीं रह पाती। इस उद्देश्य के कारण कथा का रूप ही बदल जाता है। उद्देश्य-साधना के भीतर से मनोविज्ञान की जितनी भी पुष्टि हो सकती थी, केवल उतनी ही पुष्टि 'कंकाल' में मिलेगी।

→ एक तरह से किशोरी और देवनिरंजन की कथा भी गौण हैं। मंगल-विजय की कथा ही मुख्य है। वास्तव में मंगल और विजय दो भिन्न दृष्टिकोण-मात्र हैं। मंगल समाज-भीरु है, परन्तु इस भीरुता को आदर्शवाद के परदे में छिपा कर चलता है। विजय के घर के संस्कार उसे समाज-विरोधी बना देते हैं। वह विद्रोह की खुली हुई तलवार है। वह तो हिन्दू-समाज क्या किसी भी समाज की कोई भी मान्यता पकड़ कर बैठा रहना नहीं चाहता। इस संघर्ष में वह टूट जाता है। बराबर असफल होकर अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है। समाज-भीरु मंगल उपन्यास के अन्त में संभ्रांत युवक-सुधारक और नेता के रूप में आता है और समाज की चुनौती स्वीकार करता है। विजय के 'कंकाल' को ढकने का भी प्रबन्ध कठिनाई से होता है। हिन्दू समाज में मंगल तो कितने ही मिल जायेंगे, परन्तु विजय कितने मिलेंगे ? ये विजय ही हिन्दू-समाज की सबसे बड़ी शक्ति हैं। ये ही उसे आगे बढ़ा सकेंगे। मंगल-विजय का द्वन्द हिन्दू समाज की परंपरा-प्रियता और प्रगतिशीलता का द्वन्द है। अभी तो परंपरा और रूढ़ि की ही विजय हो रही है। मंगल जैसा भीरु, दुर्बल, भ्रमजर्जर पात्र जीवन का सारा संबल बटोर कर सफलता के पथ पर बढ़ जाता है और प्रकृतिक, स्वास्थ, मानव-चेतना का प्रतीक विजय कहीं का भी नहीं रहता। यह हमारे समाज की परिस्थिति की बिडम्बना नहीं तो और क्या है ?

अगर 'कंकाल' की कथा मंगल-विजय की कथा ही होती, अगर 'प्रसाद' केवल मनोविज्ञान और चारित्रिक संघर्ष को लेकर चले होते, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह शरच्चन्द की भांति एक अत्यंत अद्भुत चित्र देते। चरित्र-हीन विजय यहाँ भी हमारी सहानुभूति और गर्व का पात्र है। परन्तु 'कंकाल' शरतबाबू के 'चरित्र-हीन' से

नितांत भिन्न है। दोनों की भूमियाँ ही अलग-अलग हैं। शरतबाबू कोई भी प्रोपेगेंडा नहीं करते। वह केवल चरित्र और कहानी का संबल लेकर ही चलते है। उनके चरित्रों के भीतर उनका संदेश स्वयं सुस्पष्ट है। इस दृष्टिकोण से 'कंकाल' का कला-पक्ष दुर्बल है। कदाचित् इस कोटि का पहला प्रयत्न होने के कारण 'कंकाल' का कला-पक्ष संगठित रूप से इकट्ठा नहीं हो सका हो। 'तितली' में कला की रक्षा कुछ अधिक सुचारु ढंग से हुई है। खेद है, बीच में ही 'प्रसाद' हमारे बीच से उठ गये। अतः यह कहना कठिन है कि उपन्यास के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा किन क्षितिजों को छू पाती।

'कंकाल' अत्यंत सार्थक नाम है। वैसे जान पड़ता है, 'प्रसाद' पहले कोई नाम देकर 'कंकाल' की कथावस्तु को लेकर नहीं बैठे। उपन्यास के अन्तिम शब्द से ही उन्होंने उपन्यास का नाम बना दिया, परन्तु इस नाम की सार्थकता वह जानते थे, इसमें सन्देह नहीं। हमारा सारा समाज गल-सड़ गया है। इससे अधिक कुछ भी नहीं। उसकी धर्म, त्याग, सत्य, प्रेम और सामाजिक उच्चता की बातें थोथी हैं। ईमानदारी का नाम नहीं। कृष्णशरण गोस्वामी को छोड़कर 'कंकाल' का कौन पात्र ऐसा है जो अपने हृदय पर हाथ रखकर अपने को ईमानदार कह सके? एक अनिर्दिष्ट कामना-प्रवाह में सब बहे जा रहे हैं। जिसे धर्म कह कर चिपटे हैं, वह वास्तव में बड़ा भारी भ्रम है। जिसे त्याग कह कर पुकारते हैं वह स्वार्थ-मात्र है। जीवन की इस लड़ाई में भगोड़ा ही सबसे अधिक वीर बन जाता है। मंगल के सम्बन्ध में स्वयं यमुना निश्चित नहीं कर पाती कि वह आदर्श की जलती हुई मशाल है या पथ-भ्रष्ट तरुण मात्र। वास्तव में यमुना को असहाय अवस्था में छोड़ जाने वाले, कर्तव्य का ढोल पीटने वाले, युवक में कौनसी बात ऐसी है, जिसके आधार पर हम उसे आदर्श कह सकें? जो भीतर की आँख खुली रखता है, वह समाज की इस विडम्बना पर रो देगा। 'कंकाल' का यह व्यंग पाठक को तिलमिला देता है। समाज में सभी तो वर्णसंकर हैं और सभी को अपने उच्चकुल और रक्तशुद्धता का गर्व है। कैसा व्यंग है! यह व्यंग्य ही 'कंकाल' का प्राण है। यह व्यंग्य समाज की शिष्टता और सभ्यता के मर्म पर प्रहार करता है और बलपूर्वक हमारी चेतना को झकझोर देता है। यह मीठी चुटकी नहीं है, समाज की दुर्बलता पर देश और काल की सारी व्यापकता में गूँजता हुआ अट्टहास है। यह व्यंग केवल वर्णन द्वारा, लेखक के स्वकथन द्वारा हमारे सामने नहीं आता। घटना-प्रसंगों, कथानक और कथोपकथन के भीतर भी व्यंग्य सन्निहित है। देवनिरंजन और बाथम अपने-अपने वर्गों के धार्मिक नेता हैं। पहला किशोरी की बलि चढ़ाता है। दूसरा घन्टी के पीछे पागल बन जाता है। व्यंग्य स्पष्ट है। धर्म हमारे जीवन के भीतर नहीं उतर पाया है। वह एकदम बाहरी चीज बना हुआ है। जब चाहा धर्म का चोगा पहन लिया, जब सुविधा समझी उतार दिया।

सीलिए हमारे धार्मिक नेताओं के जीवन में भी धार्मिकता की थोड़ी भी झलक नहीं मलती; ऐसे अनेक उदाहरण 'कंकाल' में मिलेंगे। वैवाहिक जीवन प्रत्येक समाज में वित्र माना जाता है। 'कंकाल' के पात्रों में वैवाहिक जीवन की वह पवित्रता कहाँ ? श्रीचन्द-किशोरी, लतिका-बाथम, मंगल-यमुना—सब विवाह-संस्था की एकोन्मुख पवित्रता की रक्षा करने में असमर्थ हैं। सेवा-समितियाँ, चर्च, साधु-संघ, सेवा-संस्थाएँ सब आदर्श-भ्रष्ट ढकोसले-मात्र जान पड़ते हैं। समाज की दृष्टि से जिनका पतन हो गया है, केवल एक बार ही जो समाज के जड़ आदर्श से गिर पड़े हैं, उनका रक्षक कोई भी नहीं है, समाज में उनका कोई भी स्थान नहीं है। इस व्यंग और विडंबना से ही 'कंकाल' के कथानक का जन्म होता है। वस्तुतः केवल भाव-प्रधान चीज 'कंकाल' नहीं है। उसका प्रयोजन स्पष्ट है, उसकी बौद्धिक-भित्ति दृढ़ है।

हिन्दू समाज का आदर्श संन्यासी रहा है। संन्यास-मूलक आदर्शवाद से पिछली पीढ़ियाँ आक्रांत हैं। 'कंकाल' में निवृत्ति-प्रधान अध्मात्म की खिल्ली उड़ाई गई है और प्रवृत्ति-मूलक लोक-सेवा धर्म को आगे बढ़ाया गया है। देवनिरंजन निवृत्ति-प्रधान साधना का प्रतीक है, कृष्णशरण गोस्वामी भगवान् कृष्ण के उपदेशों के आधार पर नये लोक-धर्म की नींव रखते हैं। देवनिरंजन उनके सेवासंघ में सम्मिलित हो जाता है। यह कर्तव्य की वैराग्य पर जीत रही। रामकृष्णमिशन और भारत-सेवासंघ इसी नये लोक-धर्म का विदेशों में युगों से प्रचार कर रहे हैं। 'प्रसाद' ने इस उपन्यास में उनके संदेश को कल्पना और कथा के माध्यम से एक सर्वग्राही रूप देकर उपस्थित किया है। इस उपन्यास में 'प्रसाद' की कला बौद्धिक और यथार्थोन्मुख होगई है। इसीलिए उनके ऊपर के साहित्य से यह उपन्यास कुछ अलग पड़ता है।

प्रकाशक के वक्तव्य में लिखा गया है—'अब तक के उपन्यासों का उद्देश्य रहा है या तो मनोरंजन या उन आदर्श-चरित्रों को चित्रित कर देना जो समाज-द्वारा मनोनीत हुए हैं। किंतु 'कंकाल' दिखलाता है कि समाज जिन्हें अपने दुर्बल पैरों से ठुकरा देने की चेष्टा करता है, उनमें कितनी महत्ता छिपी रहने की सँभावना है और आदर्श मानकर जिनका गुणगान करता है उनमें पतन भी हो सकता है। फिर भी चरित्रों के आदर्श और पतन के संबंध में लेखक ने अपना कोई मत स्थापित करना नहीं चाहा, वरन् वर्तमान् काल की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कारिक मनोवृत्तियों का जो सम्मिलित द्वन्द आजकल चल रहा है उसे तटस्थ दृष्टि से उसका क्रियात्मक रूप चित्रित कर देने के लिए लेखक द्वारा ही कल्पित पात्रों के चरित्रों मे तदनुकूल घटनाएं संगठित कर दी हैं एवं किसी लक्ष्य-विशेष के लिए 'प्रोपेगेण्डा' न करके, पतन और आदर्श की परिभाषा निश्चित करने का भार पाठकों पर ही पूरी तरह छोड़ दिया गया है।' परन्तु यह व्याख्या पूर्णतः सत्य नहीं

है। 'कंकाल' का प्रयोजन, 'कंकाल' का लक्ष्य, 'कंकाल' का व्यंग, 'कंकाल' के लेखक की रुचि-अरुचि यह सब इतनी स्पष्टता से उपन्यास में अंकित होगई है कि उन्हें भुलाना असम्भव है। 'प्रोपेगेण्डा' शब्द से डरने की एक चाल चल गई है। हिंदी का प्रत्येक लेखक सामयिक जीवन से बहुत ऊपर उठकर किसी अमर-रचना के निर्माण की बात करता है। परन्तु सामयिक जीवन को एकदम भुला देने वाला कलाकार अमर रचना को जन्म नहीं दे सकता। सामाजिक जीवन के भीतर से ही अमर साहित्य की सृष्टि सम्भव है। कारण, मानव सदैव समान है, जो सामयिक सत्य है, युग का सत्य है, वही युग-युग का सत्य भी है। उत्कृष्ट कलाकार कला को केवल कला तक ही सीमित नहीं रखते। वह कला को अस्त्र बनाते हैं। उत्पीड़न, अन्याय, विषमता, कपट और अनाचार के विरुद्ध उनकी लेखनी उठती है। वे अपने चारों ओर के संसार के समस्त अनुभवों को सिमेटकर एक महान् शक्तिशाली अस्त्र का निर्माण करते हैं जो साहित्य-कला के नियमों का पालन करता हुआ भी समाज और राष्ट्र को इनसे अधिक कुछ देता है। वह पाठकों और सामाजिकों को सोचने-समझने के लिए विवश करता है। डिकेन्स, ह्यूगो, ताल्सताय और गोर्की की रचनाएँ अपने-अपने क्षेत्र की सुन्दर कला-कृतियाँ हैं, परन्तु वे केवल कलाकृतियाँ ही नहीं हैं। उन्होंने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को नये आदर्शों से अनुप्राणित किया है, मानवता की ओर देखने की नई दृष्टि दी है, समाज और राष्ट्र में नये-नये विस्फोटों का सृजन किया है। साहित्य-कला से ऊपर यह जो शक्तिशाली चीज है, इसे वे प्रोपेगेण्डा कहते हैं। साधारण शब्दों में यह घृणित शब्द है। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में इस शब्द के सूक्ष्म अर्थ ही ग्रहण हो सकते हैं। 'कंकाल' के पीछे लेखक का जो मंतव्य है, जो बौद्धिक प्रयास है, जो विचारधारा है, उसकी ओर से हम आँखें नहीं मूँद सकते। वास्तव में 'कंकाल' की यह चीज सबसे बड़ी है। केवल तटस्थ चित्रण-मात्र इस उपन्यास में नहीं मिलेगा।

जिस शैली का चित्रण 'कंकाल' में है उसे हम यथार्थोन्मुख कह सकते हैं, परन्तु वह सम्पूर्णतः यथार्थ है नहीं। वैसे उसमें हमारे मध्यवर्गीय समाज के नित्य-प्रति के जीवन के सेंकड़ों चित्र मिल जाते हैं। हिन्दू-गृहस्थ और साधु-सन्त, सेवा-समितियों के सदस्य, विद्यार्थीवर्ग, चौक के वेश्यालय, गिरजाघर और पादरी, कचहरी और मुसाफिरखाने, आर्य-समाज और सनातनधर्म के प्लेटफार्म, सूफियों की कव्वाली, ईसाइयों की मिशन की तकरीरें और भक्तों का प्रवृत्तिमार्गी कृष्ण-धर्म, सब कुछ 'कंकाल' में मिलेगा। सद्गृहस्थों, विधवाओं, कुलटाओं और आश्रम भ्रष्ट संन्यासियों से उपन्यास भरा पड़ा है। समाज की एक अत्यन्त विशद चित्रपटी उसमें मिलती है। 'रंगभूमि' की चित्रपटी और इस चित्रपटी में महान् अन्तर है। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द

तटस्थ-चित्रण द्वारा चरित्र-निर्माण और आदर्शवाद को लेकर चलते हैं। उन्होंने समाज के गले-सड़े अंगों की ओर दृष्टिपात नहीं किया। उनकी कला यथार्थवादिनी है, परन्तु अपनी सीमाओं में 'प्रसाद' का क्षेत्र अपेक्षाकृत संकीर्ण है। होना भी चाहिए। वह तटस्थ-चित्रण में विश्वास नहीं करते। वह आदर्श-चरित्र नहीं खड़े करते। वह परिस्थितियों के व्यंग को उभारते हैं और समाज के ठेकेदारों की पोलें खोलते हैं। यह कलम ही दूसरी है। इसे 'अश्लीलता' कह कर नैतिकता की फूँक से नहीं उड़ाया जा सकता। 'कंकाल' के यथार्थ-चित्रण में जहाँ अश्लीलता है, वहाँ अश्लीलता उद्देश्य नहीं है। लेखक पाठकों की सांस्कृतिक चेतना को धक्का देना चाहता है। इसका लक्ष्य दूसरा ही है।

साहित्य के द्वारा यदि सामाजिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ सुझाई जाती हैं, तो शुद्ध साहित्य के उपासक उसे बुरा कहते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि वे साहित्य में बुद्धिवाद नहीं देखना चाहते। उनके लिए साहित्य मनुष्य की भावभूमि को ही स्पर्श करता है। परन्तु यह दृष्टिकोण ठीक नहीं है। साहित्यकार न निर्लिप्त दार्शनिक है, न मोह-ग्रस्त दुर्बल व्यक्ति! वह अपने संस्कार अपने चारों ओर के संसार से ही बटोरता है। वह अपनी बुद्धि का उपयोग क्यों नहीं करे? दार्शनिक जैसी निष्प्राण तटस्थता उसे क्यों चाहिए? 'प्रसाद' का 'कंकाल' इस प्रश्न का उत्तर है। एक तरह से समाज और व्यक्ति का द्वन्द ही 'कंकाल' की कथा है। विजय के रूप में 'प्रसाद' ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सबसे ऊँची आवाज उठाई है। धीरे-धीरे समाज से लड़ता हुआ 'विजय' समाज और उसके अनुशासनों से बाहर चला जाता है। इसलिए वह प्रत्येक प्रकार से लांछित और तिरस्कृत है। पाप और पुण्य के झमेले में व्यक्ति की अपनी सद्प्रवृत्तियाँ कुण्ठित हो गई हैं। उसकी चेतना, उसकी सम्भावनाएँ, उसका व्यक्तित्व सब जैसे समाज-यन्त्र के पीछे पिस गया है। वह सब ओर से पंगु है। व्यक्ति की इस कुण्ठा को दूर करके उसे समाज के नियंता के रूप में प्रतिष्ठित करना होगा। 'कंकाल' यह बात इतनी जोर से कहता है कि हम उसे अनसुना नहीं कह सकते।

'कंकाल' नागरिक जीवन के खोखलेपन और विशृंखलता का चित्रण है, तो 'तितली' भारतीय ग्राम की दुर्बलताओं की कहानी है। ये दुर्बलताएँ कैसे दूर होंगी, हमारे गाँव कैसे स्वर्ग बन सकेंगे, इसका भी समाधान इस उपन्यास में मिलेगा। 'प्रेमचन्द' ने 'प्रेमाश्रम' में एक गाँव के बनने-बिगड़ने की कहानी लिखी थी। वहाँ 'प्रेमशंकर' सुधारक के रूप में आते हैं, यहाँ इन्द्रदेव। 'प्रेमाश्रम' का 'बलराज' 'तितली' के 'मधुवन' से बहुत भिन्न नहीं है। 'मधुवन' के कलकत्ता-प्रवास की कथा 'गबन' से प्रभावित जान पड़ती है। 'मैना' की भाँति यहाँ भी वेश्या है जो सच्चे प्रेम

के मूल्य को जानती है और नायक की सहायता करती है। 'गबन' की जौहरा और 'तितली' की 'मैना' एक ही तत्त्व की बनी हैं। यह तो हुआ मोटा साम्य। सूक्ष्म रूप से देखने पर भी यह उपन्यास 'प्रसाद' के साहित्य की यथार्थवादी और स्वच्छंदतावादी मनोभूमि से हटा हुआ मिलता है। यह ग्राम्य-जीवन पर आधारित आदर्शवादी उपन्यास है। 'प्रेमचन्द' ने जिसे 'आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद' कहा है, वही चीज हमें बदले रूप में यहाँ मिलती है।

जहाँ तक कथानक के संगठन का सम्बन्ध है, 'तितली' में उपन्यास-रचना-कला का रूप 'कंकाल' से कहीं अधिक संगठित और कहीं अधिक सुस्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'कंकाल' में कई कथाएँ और पूर्व कथाएँ बड़ी शिथिलता से एक सूत्र में गुंफित हैं। वह अपने संदेश मंगल, विजय, यमुना, घंटी, गाला जैसे कुछ विशिष्ट पात्रों के कारण आकर्षक बना हुआ है। साधारण जीवन को छोड़कर वह कुछ विशिष्ट जीवन-पहलुओं को लेकर चलता है। उसकी यह असामान्यता उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। परन्तु तितली' सब तरह सामान्य है। इसमें 'प्रसाद' की प्रतिभा जीवन के समतल पर चलती है। ठीक 'प्रेमचन्द' की ही भाँति। केवल भाषा-शैली और कला-दृष्टि बदली हुई है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह उपन्यास 'कंकाल' से कहीं अधिक प्रौढ़ है, इसमें सन्देह नहीं।

उपन्यास का केन्द्र है शेरकोट और बनजरिया। लगभग सारी कथावस्तु—या मुख्य कथा—इसी केन्द्र से सम्बन्धित है। इसी से शेरकोट और बनजरिया के इतिहास को पहले समझ लेना है। शेरकोट गंगा के किनारे एक ऊँचे टीले पर बना छोटा-सा मिट्टी का ध्वस्त दुर्ग था। मध्य युग में प्रत्येक भूमिपति को रक्षा के लिए ऐसे-ऐसे कोट बना लेने होते थे। शेरकोट उन्हीं पुराने दिनों की एक यादगार था। अब उसका नाममात्र है। दो ओर नाले की खाई है और एक ओर गंगा। घर सब गिर चुके हैं। दो-तीन कोठरियों के साथ एक आँगन बच रहा था। पास एक छोटा-सा पुरवा था, उसका नाम था मल्लाही टोला। मल्लाही टोला और शेरकोट के बीच एक बड़ा-सा बट-वृक्ष था। वहीं दो-चार बड़े-बड़े पत्थर पड़े थे। उसी के नीचे स्नान करने का घाट था। मल्लाही टोले में अब तो केवल दस घरों की बस्ती थी परन्तु जब शेरकोट के बहुत अच्छे दिन थे, तो उसकी प्रजा से—काम करने वालों से—यह गाँव भरा-पूरा था। शेरकोट के ह्रास के साथ वहाँ की प्रजा धीरे-धीरे इधर-उधर जीविका की खोज में खिसकने लगी। कुछ मल्लाह और कहार बच गये। मधुवन इसी शेरकोट का जमींदार था। उसके पास अब तीन बीघे खेत और वही खंडहर-सा शेरकोट था। पुरानी वैभव-गाथाएँ अवश्य जीती थीं और किसी समय तो शेरकोट के नाम से लोग सम्मान से सिर उठाते थे। मधुवन के लिए वंश-गौरव का अभिमान

छोड़कर, मुक़दमे में सब कुछ हार कर, जब उसके पिता मर गये, तो उसकी बड़ी विधवा बहिन ने आकर भाई को सँभाला था। बहन राजकुमारी (राजो) की ससुराल सम्पन्न थी, परन्तु शेरकोट के वैभव के नाश के ही साथ उस बेचारी का भी वैधव्य आया। राजो शेरकोट में ही आकर रहने लगी। वह अपने दुःखी भाई के दुःख में हाथ बँटाती थी।

शेरकोट के पास ही बनजरिया थी। यह बंजर-भूमि थी। यहाँ बूढ़ा रामनाथ रहा करता था। बंजो (तितली) इसकी पोषित-पुत्री थी। उसके जन्म और वंश की अपनी गौरव-पूर्ण कहानी है। उसके पिता का नाम देवनन्दन था। वह नील की कोठी के मालिक बार्टनी साहब के एक धनी किसान आसामी थे। सिंहपुर गाँव में भी उनकी बड़ी धाक थी। रामनाथ उन्हीं के आश्रित ब्राह्मण थे। उन्हीं की कृपा से उन्हें अन्न मिलता था और वह काशी में पढ़ते थे। बहुत दिन बाद जब कि रामनाथ काशी की शिक्षा दीक्षा समाप्त करके घर लौट रहा था तो उसने देखा, देवनन्दन को नील-कौठी का प्यादा कालेखाँ पकड़कर ले जा रहा था। बड़ी कठिनाई से रामनाथ देवनन्दन का रुपया चुकता कर सके। धरमपुर में उनकी कृष्णार्पण माफी थी, उसे बेचना पड़ा। परन्तु देवकीनन्दन का ऋण जो था। रामनाथ के मन में तमाम गाँव से बड़ी घृणा हो गई—गाँव वालों ने दुर्दिन में देवनन्दन का जरा भी साथ नहीं दिया। अब वह भ्रमण करने निकल पड़ा। नर्मदा-तट के किसी स्टेशन की बात है। ५५ का जमाना था। दक्षिण में बड़ा भारी अकाल पड़ रहा था। रामनाथ ने अकाल के अनेक दृश्य देखे, परन्तु जो दृश्य सब से भयंकर था वह देवनन्दन से सम्बन्धित था। अपने गाँव में लांछित देवनन्दन अपनी पत्नी और छोटी-स्त्री बच्ची के साथ इधर आ गया था। वह भी अकाल का शिकार हुआ। सुकुमार कुलरमणी यह दुःख न झेल सकी, वह भी चल दी। देवनन्दन ने रामनाथ को पहचाना। पुत्री को उन्हें सौंपकर संतोष की साँस ली और प्राण छोड़ दिया। उस बच्ची को लेकर रामनाथ गाँव लौटे और बनजरिया में कुटी बनाकर रहने लगे। उनके दृढ़ और पराक्रमी व्यक्तित्व ने उन्हें शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया। वह उधर बाबा जी के नाम से प्रसिद्ध हो गये। देवनन्दन की वह छोटी-सी कन्या बंजो अब युवती बन गई थी। मधुवन भी रामनाथ के पास आता रहता। बंजो से उसे सहज स्नेह हो चला था। वह उसे 'तितली' कहता। बंजो 'तितली' और मधुवन ने मिलकर बनजरिया की थोड़ी-सी भूमि को कृषि-योग्य बना लिया और कुछ आलू-मटर बो दिये। मधुवन इन्हें शहर में ले-जाकर बेच आता।

यह सारा इलाका धामपुर ताल्लुके में पड़ता है। इंद्रदेव इसके जमींदार हैं। अभी-अभी इंग्लैंड से लौटे हैं। श्यामदुलारी काम देखती है। बहन माधुरी भी वहीं रहती है। उसके पति श्यामलाल समझते, ये लोग अमीर हैं। माधुरी वहीं रही तो

कुछ लायेगी ही। श्यामदुलारी के हृदय को उसने जीत लिया तो बहुत कुछ मिल जायेगा। इंद्रदेव इंग्लैंड से लौटते समय शैला नाम की एक निर्धन युवती को साथ ले आये थे। भारत से उसे बड़ा प्रेम है। वह इस देश की प्राकृतिक माधुरी पर मुग्ध है। देश का कोना-कोना देख डालना चाहती है। इंद्रदेव से उसका क्या सम्बन्ध है, यह कहना कठिन है। वह कर्मक्षेत्र की साथिन है। शायद इन्द्रदेव के प्रणय-सूत्रों को भी वह पहले-पहल हिलाने में सफल हुई हो। परन्तु स्वाभाविक गम्भीरता के कारण वह बहुत आगे नहीं बढ़ सकी है। इंग्लैंड से लौटकर इंद्रदेव माँ श्यामदुलारी के पास एकाध दिन ही रहे। उन्हें पता लगा कि उनके चरण छूकर चले आने पर माता जी ने फिर स्नान किया। फिर वह मकान पर न ठहर सके। छावनी में रहने लगे। श्यामदुलारी ने भी शैला के साथ आने की बात सुनी, परन्तु उन्हे यही विश्वास दिलाया गया कि यह बात गलत है। फिर भी निश्चय हो जाना अच्छा है। श्यामदुलारी अपने बेटे को सम्भालना चाहती थी। बेटी माधुरी की सलाह से यही निश्चय हुआ कि सब लोग छावनी में ही कुछ दिन चल कर रहें। निश्चय को सबने मिलकर कार्य रूप में परिणत किया।

शैला से इन्द्रदेव का परिचय कैसे हुआ इसकी भी एक लम्बी कहानी है। लन्दन के सामाजिक बनने की धुन में इंद्रदेव ने पूर्वी और पश्चिमी भागों को खूब छान डाला। पूर्वी भाग उन्हें विशेष रूप से प्रिय था। वह कभी-कभी उस पूर्वी भाग की सैर के लिए चले जाते थे। यह भाग लंदन के अर्धनग्न मजदूरों और दरिद्रों का निवास-स्थान था। कौन-सा ऐसा कुकर्म है जो इस भाग में नहीं होता? तभी यह लंदन का नरक कहलाता था। एक दिन इंद्रदेव इसी भाग में घूम रहा था कि सहसा एक पतली-दुबली लड़की ने उसके पास आकर कुछ याचना की। उसके पिता जेल में थे, माता मर गई थी। इसी तरह माँगकर उसे काम चलाना होता था। 'जैक' नाम का एक पियक्कड़ साथी युवक भी उसे मिला। इंद्रदेव की करुणा उमड़ी। वह उसे मेस में ले आया। मकान वाली एक बुढ़िया थी। उसके किए सब काम होता न था। 'शैला' परिचारिका के रूप में स्वीकृत हुई। इंद्रदेव उस दिन अपने मित्रों के मुस्कराने पर मन-ही-मन सिहर उठा। परन्तु बालिका को जैसे उनपर पूर्ण विश्वास था। 'शैला' उस दिन से मेस में ही रहने लगी। धीरे-धीरे वह भारत की बहुत-सी वस्तुओं से परिचित हो गई। वह प्रायः भारत के देहातों, पहाड़ों और प्राकृतिक दृश्यों के सम्बन्ध में इंद्रदेव से कौतूहल-पूर्ण प्रश्न किया करती थी। बैरिस्ट्री का डिप्लोमा मिलने के साथ ही इंद्रदेव को पिता के मरने का शोक-समाचार मिला। उस समय शैला की सान्त्वना और स्नेहपूर्ण व्यवहार ने इंद्रदेव के मन को बहुत कुछ बहलाया। इंद्रदेव जब भारत लौटे तो 'शैला' को भी साथ ले आये। धामपुर लौटकर उन्होंने शहर के

महल में न रहकर बँगले में ही अभी रहने का प्रयत्न किया। दो सप्ताह के भीतर ही शैला अच्छी हिन्दी बोलने लगी। इंद्रदेव को गाँव में जाकर नये ढंग पर काम करने की धुन थी। जब इंद्रदेव किसी नये गाँव में जाते तो वह भी साथ रहती। देहाती किसानों के घर जाकर उनके साथ घरेलू बातें करने का चस्का-सा लग गया था। जो समय शेष रहता, वह शिकार, पढ़ने-पढ़ाने और गप-शप में बीतता।

यह रही उपन्यास की पृष्ठभूमि। कहानी का विकास इसके बाद की चीज है।

एक दिन इंद्रदेव, चौबे जी और शैला शिकार खेलने निकले। उस तरफ़ सुर्खाब बहुत थे। शैला को हिंसा विशेष प्रिय नहीं थी। वह केवल सुर्खाब के मुलायम परों के लालच में आई थी। शिकार के चक्कर में इंद्रदेव अलग पड़ गये। साँझ का झुटपुटा था। चौबे जी इंद्रदेव को सूर्यास्त से पहले ही ढूँढ निकालना चाहते थे। आगे-आगे चौबे जी, पीछे-पीछे शैला। एक जगह मिट्टी बह जाने से नीम मोटी जड़ की उभर आई थी। उसने ऐसी ठोकर दी कि चौबे जी मुँह के बल गिरे।

बंजो पास ही थी। शैला की सहायता से उसने किसी तरह चौबे जी को सँभाला। तब तक इंद्रदेव भी आ गये। बंजो सबको रामनाथ की कुटिया में लिवा ले गई। रामनाथ की आज्ञा से मधुवन ने चौबे के घुटने पर जड़ी-बूटियों के तेल की मालिश की। रात चढ़ आई थी।

सुबह पालकी लेकर इंद्रदेव और शैला बनजरिया पहुँचे। चौबेजी को लेकर वे लौटे। बंजो, रामनाथ और मधुवन को भी साथ लिवा लाये। माँ छावनी पर आ गई थी। माधुरी उनके साथ थी। नौकर रामदीन और मुल्या दासी भी साथ थे। कई दिन से उनकी रीढ़ में दर्द हो रहा था। मिस अनवरी उन्हें देखने आती थी। यह मिस अनवरी कुछ रसिक तबियत की युवती थी। इंद्रदेव पर डोरे डालना चाहती थी, परन्तु अब बीच में शैला आ गई थी।

अनवरी ने माधुरी से साँठ-गाँठ करनी चाही। वह स्वयं शैला की जगह लेना चाहती थी, पत्नी नहीं तो प्रेयसी के रूप में ही। माधुरी इस घर पर अधिकार जमाना चाहती थी। उसका अपना पुत्र कृष्णमोहन तेरह वर्ष का था। थियासोफिकल स्कूल में पढ़ता था। पिता, बाबू श्यामलाल, उसकी ओर से निश्चिंत थे। माधुरी यहाँ उनके लिए जाल रच ही रही थी।

परन्तु शैला की जब श्यामदुलारी से भेंट हुई तो उसने अपने मधुर व्यवहार से उन्हें मोह लिया। शैला के व्यवहार से इंद्रदेव के हृदय का बोझ भी टल गया—शैला ने माँ के समीप पहुँचने का अपना पथ बना लिया था। उन्होंने इसे अपनी विजय समझी। उस दिन श्यामदुलारी का हृदय भी स्नेहसिक्त हो उठा। एक दूर देश की बालिका कितना मधुर हृदय लिये उनके द्वार पर खड़ी है! उधर माधुरी के मन में

अनवरी के द्वारा जो आग जलाई गई थी, वह कई रूप बदलकर उसके कोने-कोने को झुलसाने लगी। उसके मन में लोभ तो जाग ही उठा था। अधिकार-च्युत होने की आशंका ने उसे और भी संदिग्ध और प्रयत्नशील बना दिया। चौबे जी भी इसी ओर खिंचे। इस प्रकार इस सम्मिलित कुटुम्ब में राजनीति ने अधिकार जमा लिया। चौबे जी कहते—बीबी रानी! हम लोगों ने बड़े सरकार का समय और दरबार देखा है। अब यह सब देखा नहीं जाता। तुम्हीं बचाओगी तो यह राज बचेगा, नहीं तो गया। मैं अब उसके लिए चाय बनाना नहीं चाहता। मुझे जवाब मिल जाय, यही अच्छा है। अनवरी कहती—घबराइये मत, चौबेजी। बीबी रानी आपके लिए कोई बात उठा न रखेंगी।

उधर शेरकोट और बनजरिया को लेकर एक छोटा-सा तूफान उठ खड़ा हुआ था। धामपुर का तहसीलदार पहले शेरकोट में मधुवन के पिता के यहाँ नौकर रहा था। उसने मधुवन के पिता को नील-कोठी के गुदाम वाले साहब से भिड़ा दिया। वर्षों मुकदमा हुआ। उस मुकदमे में मधुवन के पिता का सब कुछ साफ हो गया। तब वह धामपुर की छावनी में जाकर नौकरी करने लगा। अदालत की लड़ाई में वह सिद्धहस्त है। अब चाहता है, बनजरिया बेदखल हो जाये और शेरकोट में बैंक खुल जाये। उसने बनजरिया की बात इंद्रदेव के सामने उपस्थित की, परन्तु रामनाथ ने अपनी सफाई पेश कर दी। बनजरिया का सारा इतिहास उसने बता दिया। इंद्रदेव के साथ और भी लोगों को पता चला कि बंजो (तितली) देवनन्दन की पुत्री है और रामनाथ ने उसे केवल पाल-पोसकर बड़ा किया है, परन्तु शेरकोट के संबंध में तहसीलदार के दाँव-पेच चलते ही रहे।

बार्टली की नील-कोठी के प्रति शैला न जाने क्यों उत्सुक थी। वह इस नील-कोठी का इतिहास जानना चाहती थी और कदाचित् इससे पूर्णरूप से परिचित भी होना चाहती थी। पूस की चाँदनी रात थी। महँगू महतो के घर के सामने आग जल रही थी और छः-सात किसान उसे घेर कर तम्बाकू पी रहे थे। शैला आ पहुँची। मधुवन भी आ गया। शैला ने बार्टली साहब की कोठी के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहा। मधुवन बच्चा था, वह ये बातें कैसे जानता। परन्तु महँगू जानता था। उसने कहा—बार्टली को जानता हूँ। बड़े कठोर थे। दया तो उनके पास फटकती ही नहीं, पर उनकी बहन जेन माया-ममता की मूर्ति है। कितने ही बार्टली के सताये हुए लोग उन्हीं के रुपये से छुटकारा पाते हैं, जिसे वह छिपा कर देती है। महँगू स्वयं उनके पास नौकर रह चुका था। जैन के कई बच्चे इसी नील-कोठी में मर गये। वह अपने भाई से बार-बार कहती कि मैं देश जाऊँगी, पर बार्टली ने नहीं जाने दिया। जब वे मरे, तभी जैन को यहाँ से जाने का अवसर मिला। चली गई तो

बहुत दिनों बाद पता लगा कि जेन का पति स्मिथ साहब बड़ा पाजी है, उसने जेन का सारा रुपया उड़ा डाला । वह बेचारी बड़ी दुःखी है । बेचारा महँगू यह नहीं जानता था कि शैला उसी जेन की लड़की है । शैला ने भी उस समय उसे यह रहस्य नहीं बताया । परन्तु वह अपनी मां और अपने भाइयों की लीलाभूमि नील-कोठी को देखना अवश्य चाहती थी । उस खंडहर में उस समय जाने के लिए कौन तैयार होता। केवल मधुबन और रामजस तैयार हुए । शैला उन्हीं के साथ चली । रास्ते में मधुबन के परिवार और रामनाथ 'तितली' के संबंध में बातें करते गए । नील-कोठी पहुँच कर शैला सूखती हुई झील के किनारे रखी हुई पत्थरों की पुरानी चौकियों में से एक पर बैठ गई । वह कुछ उदास थी । उसे विश्वास था कि जिस पत्थर पर वह बैठी है, उसी पर उसकी माता जेन आकर बैठती थी । बाल्यकाल में उसने जो सुना था, उसमें उसे विश्वास था कि उसकी माता जेन ने अपने जीवन के सुखी दिन यहीं बिताये थे । जेन के प्यार की नई अनुभूति इस समय शैला को हुई । वह जैसे माता की स्नेहभरी बाँहों में बँध गई । आज उसे वास्तविक विश्राम मिला । बहुत रात गये मधुबन और रामजस के साथ वह लौटी । ये लोग कच्ची सड़क पर चल रहे थे । पीछे से मोटर की आवाज सुनाई दी । मोटर पर अनवरी और कृष्णमोहन थे । उनके आग्रह से शैला भी मोटर पर बैठ गई । मधुबन को अगले दिन छावनी जाने को कहकर वह चल दी । परन्तु अब भी नील-कोठी और माता जेन की स्मृतियाँ उसकी आँखों में झूल रही थीं ।

कुछ दिन और बीत गये । इस बीच में क्या-क्या हुआ, यह ब्योरेवार कहना कठिन है । परन्तु इंद्रदेव को पता लगा कि वह जो कुछ पहले थे, अब नहीं रहे । शैला और उन्हें लेकर जो बातें सारे धामपुर-ताल्लुके में चल रही थी उनके लिए कम ग्लानि का विषय नहीं थीं । कभी-कभी वह शैला के संसर्ग से अपने को मुक्त करने की चेष्टा भी करने लगते । परन्तु वह इतनी दूर आ चुके थे कि शैला को सर्वथा दूर रखना असम्भव था । शैला भी इंद्रदेव से स्वतन्त्र होना चाहती थी । इंद्रदेव के स्वभाव-परिवर्तन को उसने ध्यान से देखा था । वह रामनाथ के यहाँ 'हितोपदेश' पढ़ने लगी । कभी मिशन में पढ़ा कर स्वतन्त्र जीविकोपार्जन की बात सोचती । नील-कोठी और माता जेन की बात उसने इन्द्रदेव से कह दी—इंद्रदेव वहाँ रहने का प्रबन्ध कर दें, तो वह चली जाय । एक दूसरी बात भी उसे खल रही थी । श्याम-दुलारी जिला कलेक्टर और इन्द्रदेव सभी शेरकोट को नई स्कीमों का केन्द्र बनाना चाहते थे । शैला मधुबन से परिचित है । वह एक इंच जमीन नही देगा । तहसीलदार का नाम सुनते ही उसकी भ्रू-कुंठित हो जाती है, आँखों से खून उबलने लगता है । उसने इन्द्रदेव से किसी और स्थान को चुनने की आज्ञा चाही, परन्तु इन्द्रदेव क्या

करें ? अधिकारी यह जगह चुन चुके थे और उनकी माँ श्यामकुमारी को भी यही स्थान पसन्द था। फिर चाहे बैंक बने या नहीं, शेरकोट तो बचने का नहीं।

उधर रामनाथ ने मधुवन तितली के विवाह की बात चलाई। परन्तु जोड़ी अच्छी समझते हुए भी राजकुमारी को यह पसंद नहीं था कि तितली का विवाह इन्द्रदेव से हो। दरिद्र मधुवन से पटेगी कैसे ? और वह स्वयं भी कहीं की नहीं रह जायेगी। मधुवन ने सुना तो आग-बगूला हो गया। अभी तक वह तहसीलदार के खून का प्यासा था—वह शेरकोट छीन रहा था—अब राजो भी शत्रु निकली। वह क्या नहीं जानता था कि इधर कितने ही दिनों से राजो चौबे से खेल कर रही है। वह उसके कुल के नाम में धब्बा लगा रही है और मधुवन इस तरह अकर्मण्य बना बैठा है।

परन्तु रामनाथ के आगे किसी की चलती, ऐसा संभव नहीं था। शुभ मुहूर्त में मधुवन-तितली प्रणय-सूत्र में बँध गये। कई ओर से विरोध हुआ। राजकुमारी, अनवरी, चौबे, इंद्रदेव सभी विरोधी थे, परन्तु इंद्रदेव के तेज की जीत हुई।

शेरकोट की जगह नील-कोठी में अस्पताल हुआ। बैंक के लिए भी वहीं प्रबंध हुआ। वहीं गाँव की पाठशाला भी आ गई ! वाट्सन ने इसमें काफी सहायता दी। इस अवसर पर बहुत बड़ा उत्सव हुआ। उसकी याद लोगों के दिल में सदैव ताजा रहेगी। इस अवसर पर दूर-दूर के संबंधी आये, परन्तु लिखने पर भी श्यामलाल नहीं आये। माधुरी के लिए तो यह लज्जा की बात थी ही। श्यामदुलारी ने और भी अधिक दु:ख माना। इधर लोगों ने उनके मन में यह दुर्भावना भर दी कि इन्द्रदेव चौपट कर रहे हैं और हम लोग कुछ नहीं कर सकते। शैला नील-कोठी में आकर रहने लगी थी। वह माधुरी के प्रति अकारण पक्षपात करने लगी थी। अनवरी उनकी अन्तरंग बन गई थी। इस प्रकार बड़ी कोठी का वातावरण क्षुब्ध हो उठा। इंद्रदेव के लिए यह सब सहना कठिन था। कभी-कभी उन्हें शैला पर क्रोध आता। वह नहीं हटती तो अनवरी की इतनी नहीं चल पाती। विराट् वट-वृक्ष के समान उसके सम्पन्न परिवार पर अनवरी छोटे-से नीम के पौधे की तरह उसी का रस चूस कर हरी-भरी हो रही थी। उसकी जड़ें वट को भेद कर नीचे धँसती जा रही थी। सब अपराध शैला का ही तो था। उस दिन शैला भी वहाँ आई। परन्तु वह कुछ क्षुब्ध था। श्यामलाल आये हुए थे। अनवरी से शैला का परिचय पाकर उन्होंने उससे छेड़ शुरू की। इंद्रदेव को उसने यह बात सुनाई तो वह दंग रह गये। उन्होंने कहा—-शैला, जिस विचार से हम लोग देहात में चले आये थे, वह सफल न हो सका। मुझे अब यहाँ रहना पसन्द नहीं। छोड़ो इस जंजाल को। चलो हम लोग किसी शहर में चल कर अपने परिचित जीवन-पथ पर सुख लें।

शैला ने कहा—'मुझे यहीं रहने दो। कहती हूँ न, क्रोध से काम न चलेगा।

और तुम भी क्या घर को छोड़कर दूसरी जगह सुखी रह सकोगे ?'

वह स्वयम् माता जेन की स्मृति से विचलित हो रही थी। इसी समय इंद्रदेव ने शैला से परिणय का प्रस्ताव किया। शैला भी अपनी कोमल अनुभूतियों के आवेश में थी। गद्गद कंठ से बोली—हाँ, मुझे स्वीकार कब था ? मैं तो केवल संयम चाहती हूँ। देखो, अभी आज ही वाट्सन का यह पत्र आया है, जिसमें मुझे उनके हृदय के स्नेह का आभास मिला है। किंतु मैं···

इन्द्रदेव का मन द्वेषपूर्ण सन्देह से जल उठा।

तभी तो शैला ! तुम मुझको भुलावा देती आ रही हो।

ऐसा न कहो ! तुम तो पूरी बात भी नहीं सुनते।

इंद्रदेव के हृदय में उस निस्तब्ध संध्या के एकांत में सरसों के फूलों से निकली शीतल सुगंध की जितनी मादकता भर रही थी, वह सब एक क्षण में विलीन होगई। उन्हें सामने अन्धकार की मोटी-सी दीवार खड़ी दिखाई पड़ी।

इन्द्रदेव ने कहा—मैं स्वार्थी नहीं हूँ, शैला ! तुम जिससे सुखी हो सको···

रात में इन्द्रदेव, श्यामलाल और अनवरी के सत्य रूप से परिचित हुए। माधुरी के नाते उन्होंने इस प्रसंग को भीषण रूप देना नहीं चाहा, वह स्वयं हट गये। वे काशी चले गये। वहाँ उन्होंने किराये का मकान लिया और बैरिस्ट्री शुरू कर दी। श्यामदुलारी ने सुना तो उसका हृदय घृणा से भर गया। इधर श्यामलाल एक दिन अनवरी को लेकर कलकत्ता भाग गये। माधुरी और कृष्णमोहन रह गये। श्यामदुलारी ने सोचा अब माधुरी और कृष्णमोहन के नाम सारी सम्पत्ति की लिखत-पढ़त हो जानी चाहिए। शैला को लेकर वह बनारस चल पड़ी। नील-कोठी की देख-रेख शैला ने मधुवन को सौंपी। जाते समय वह मधुवन को समझाती गई, लड़ें-भिड़ें नहीं, परन्तु मधुवन को घेर कर रक्तपात और उद्दंडता के जो बादल उमड़ रहे थे, उनकी बात वह नहीं जानती थी। एक तो धामपुर के तहसीलदार से उसकी पहले ही शत्रुता थी, दूसरे मधुबन ने ही श्यामलाल के पहलवान रामसिंह की पीठ को धूल दिखाई थी। उस दिन अखाड़े में वह ही वह था। गाँव की सभी युवतियाँ उसी पर रीझ गई थीं। गाँव की वेश्या मैना ने भी उसको उपहार-योग्य चुना था। तह-सीलदार ने यह सब देखा था। मधुवन पर उसका क्रोध उबल रहा था। इसी के बल पर तो मुलिया घर बैठ रही। यही तो गाँव वालों का अगुआ है। सुखदेव चौबे भी उसी के पक्ष में थे। राजो से इश्क करते हुए पकड़े गये थे और मधुवन ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया होता, यदि मैना बीच में नहीं पड़ती। उन दिनों राजकुमारी का हृदय काल्पनिक सुखों का स्वप्न देखकर चंचल हो गया। एक दिन सुखदेव फिर उसके घर में पकड़ा गया। उस दिन के थप्पड़ को वह भूला नहीं। उसने धामपुर के

तहसीलदार को उकसा दिया। इधर नाले से खेत चौपट हो रहे थे; उधर तहसीलदार की कड़ाई से किसान और भी व्याकुल हो उठे थे। सारे ताल्लुके में जैसे तहलका मच गया हो। मैना की बात को लेकर मधुवन के विरुद्ध भी ज़हर उगला गया, परन्तु मधुवन अब सद्गृहस्थ बन गया था। उसकी प्राकृतिक उच्छृंखलता बहुत कुछ शान्त हो गई थी। रामजस का खेत तहसीलदार ने बेदखल करा दिया था। एक दिन उसे उभारा। एक दिन सुखदेव चौबे से किसानों की कहा-सुनी हो गई। उसी समय मधुवन उधर से आ निकला। वह रामजस को समझा ही रहा था कि छावनी के दस लट्ठबाज दौड़ते हुए पहुँच गये। 'मार-मार' की ललकार बढ़ी।—यही पाजी तो सब बदमाशी की जड़ है—कह कर पीछे से तहसीलदार ने ललकारा। दनादन लाठियाँ छूटीं। इधर रामजस और मधुवन और उधर दस छटे लठैत, परन्तु खेत मधुवन के ही हाथ रहा। छः आदमी गिरे और रामजस भी रक्त से तर हो गया। तभी गाँव वाले बीच में आकर खड़े हो गये। लड़ाई बन्द हुई। मधुवन रामजस को अपने कंधे का सहारा दिये धीरे-धीरे बनजरिया की ओर ले चला।

इस मामले को लेकर पुलिस और तहसीलदार ने मुकदमे का हौवा खड़ा कर दिया। शेरकोट और बनजरिया की बेदखली का भी मामला था। पैरवी के लिए रुपये चाहियें। धामपुर में बिहारी जी का मन्दिर था। मधुवन ने सोचा, राजकुमारी को भेज कर शेरकोट या बनजरिया पर कुछ रुपया उधार ले-ले। परन्तु बिहारी जी के मन्दिर का महंत एक छटा गुण्डा था। उसने राजा की दयनीय दशा का लाभ उठाना चाहा। एकान्त देखकर उसने राज पर पाशविक आक्रमण किया। दीवार के बाहर ही इमली की छाया में मधुवन खड़ा था। पास की दीवार नाँघ कर वह महंत की खोपड़ी पर यमदूत-सा आ पहुँचा। उसके शरीर में न जाने कहाँ से असुरों का-सा बल आ गया। दोनों हाथों से महंत का गला पकड़ कर दबाने लगा। राजकुमारी भय से मूर्च्छित हो गई और हाथ से निर्जीव देह को छोड़ते हुए मधुवन जैसे चैतन्य हो गया।

अरे यह क्या हुआ? हत्या! तब भागना होगा। सामने की खुली पेटी से मधुवन ने रुपयों की थैली निकालकर कमर से बांध ली। राजकुमारी से उसने कहा—चुप! वहीं दूकान पर माधो बैठा है। उसे लेकर सीधी घर चली जा। माधो से भी मत कहना। भाग! अब मैं चला।

इसके बाद कहानी में पर्याप्त गति आ जाती है। मधुवन पहले मैना की शरण लेता है, परन्तु वह भेद जानकर उसे कलकत्ता भाग जाने की सलाह देती है। वहां जाकर धीरे-धीरे मधुवन अपराधियों के संसार में प्रवेश पा जाता है। इसी तरह बारह वर्ष बीत जाते हैं। मधुवन के भाग जाने पर राजो (राजकुमारी) और 'तितली'

में समझौता हो गया। 'तितली' का बालक मोहन उसका नयनतारा बन गया। मोहन के स्नेह ने उसे सचमुच बदल दिया। शेरकोट पर जमींदार का दखल होगया। न जाने कितने संकट आये, कितने अंधड़ झेले। अन्त में 'तितली' का वर्षों का बँधा बाँध टूट गया। क्या मधुवन लौटेगा ?

मधुवन लौटता है—चौदह वर्ष बाद। जीवन युद्ध का थका हुआ सैनिक जैसे विश्राम-शिविर के द्वार पर खड़ा हो।

इस प्रकार मधुवन-तितली और शेरकोट की कथा एक प्रकार समाप्त हो जाती है। इन्द्रदेव के कुटुम्ब और शैला-वाट्सन को लेकर जो एक दूसरी कथा चल रही थी, उसके सूत्र चलते रहते हैं। इन्द्रदेव अपनी सारी सम्पत्ति से वंचित हो गये। अब वह धामपुर के कुछ नहीं रहे परन्तु वाट्सन के त्याग से शैला उनकी बन सकी। मरण-शय्या पर पड़ी श्यामदुलारी का आशीर्वाद भी उन्हें प्राप्त हुआ।

'तितली' की कथा का साधारण परिचय हमने ऊपर दिया है। यह केवल परिचय-मात्र है। इसका कारण यह है कि 'तितली' की कथा कथा-मात्र नहीं है। 'कंकाल' की भाँति उसमें घटना-बाहुल्य नहीं है। 'कंकाल' में लेखक एक विशेष कथानक द्वारा यह दिखलाना चाहता है कि जो अपने को कुलीन कहते हैं, वे वस्तुत: वर्णसंकर हैं और आदर्शवाद की बात करने वाले थोथे स्वप्न देखने वाले हैं। इसीलिए 'कंकाल' के कथानक में घटना-संगठन की प्रधानता है। यह कथानक सारे उत्तर भारत को घेर कर चलता है। कई तीर्थस्थान और कई नगर इसके केन्द्र बन गये हैं। परन्तु 'तितली' के कथानक में घटना संग्रह को अधिक महत्व नहीं मिला है। सारी कथावस्तु धामपुर ताल्लुका से सम्बन्धित है। धामपुर के जमींदार की छावनी, धामपुर, शेरकोट और बनजरिया के कुछ स्थान है जिनमें कथा के सूत्रों का विकास होता है, या जो इन पात्रों से सम्बन्धित हैं। केवल चौथे खण्ड में उपन्यासकार इस केन्द्र को छोड़कर बाहर जाता है। इंद्रदेव बनारस चले जाते हैं और मधुवन कलकत्ता भाग जाता है। इस सिलसिले में बनारस और कलकत्ता के कुछ चित्र भी उपन्यास में मिलते हैं। परन्तु यह केवल कथा के सूत्रों के विकास का अनिवार्य रूप है। वैसे हार्डी के उपन्यासों की तरह शेरकोट और बनजरिया सारी कथावस्तु और सारे पात्रों पर छा जाते हैं। इन स्थानों को लेखक ने सूक्ष्म चित्रण और स्थानीय विशेषताओं के द्वारा अत्यन्त विस्तार से इंगित किया है।

वस्तुतः सारी कथावस्तु कुछ विशिष्ट संस्कार-युक्त प्राणियों के मानसिक आन्दोलनों और संस्कार जन्य प्रतिक्रियाओं के रूप में सामने आती है। इसीलिए कथा की गति तीव्र नहीं है। एक अत्यन्त परिचित घरेलू से वातावरण में लेखक बड़ी सूक्ष्म पच्चीकारी करता है। वैसे दो अलग कथासूत्र स्पष्ट दिखाई देते हैं। एक का सम्बन्ध

इंद्रदेव, शैला और इंद्रदेव के परिवार से है और दूसरे का सम्बन्ध रामनाथ, मधुवन, तितली और राजो से। इन्द्रदेव का 'तितली' के प्रति थोड़ा-सा आकर्षण है। वह शैला, सुखदेव और धामपुर का तहसीलदार दोनों कथासूत्रों को मिलाते हैं। जो हो, दोनों कथासूत्र इतने गुंथित हो गए हैं कि साधारण: वे अलग-अलग दिखाई नहीं पड़ते। 'प्रसाद' के नाटकों में ऐसी एकसूत्रता कहीं भी दिखाई नहीं देती।

'कंकाल' और 'तितली' में प्रसाद ने कथा-संगठन में आश्चर्यजनक कौशल का परिचय दिया है। परन्तु 'कंकाल' के गौण प्रसंग और उसके कितने ही पात्रों की पूर्वकथाएँ कथा को पूर्णरूप से संगठित नहीं होने देते। 'तितली' में कोई गौण प्रसंग नहीं है। शैला के माता-पिता स्मिथ-जेन की कथाएँ स्मृतिरूप में उद्घाटित की गई हैं, परन्तु शैला के चरित्र और उसके व्यवहार पर उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'तितली' में हम बहुत उच्च-श्रेणी की निर्माण-कला से परिचित होते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें यह निर्माण-कला नहीं मिलेगी। शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों में कथानक का यही अल्प-विस्तार और कथोपकथन का अभिजात्य हमारे सामने आता है। परन्तु 'तितली' की कला 'रवीन्द्रनाथ' की कला से अधिक मिलती-जुलती है। 'शरत्चन्द्र' की तरह 'प्रसाद' केवल मानव-जीवन के अंतरंग के कलाकार नहीं हैं। वह रवीन्द्रनाथ की तरह कवि, गद्य-शैलीकार और पंडित भी हैं। फलतः 'तितली' पर रवीन्द्रनाथ की उत्कृष्ट कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। लेखक ने सचेतन, पंडित-कलाकार की शैली अपनाई है और उसे स्थान-स्थान पर काव्य-कला से पुष्ट किया है।

राजकुमारी और सुखदेव चौबे की अवैध प्रेम की कथा को 'प्रसाद' ने 'तितली' में स्थान क्यों दिया, यह एक प्रश्न है। हिंदी के जो आलोचक हिंदी उपन्यास में आदर्शवाद की विजय ही देखते चले आये हैं, उन्हें यह बात खटकती है। वह 'प्रसाद' की अश्लीलता की दुहाई देते हैं। क्या इस कथा-प्रसंग को 'प्रसाद' हटा नहीं सकते थे? परन्तु उन्हें यह याद रखना होगा कि 'प्रसाद' उपन्यासों में एक नितांत नये क्षेत्र में उतर रहे हैं। उनके नाटकों में हम स्वच्छंदतावाद और आदर्शवाद की विजय से परिचित हैं। परन्तु उनके उपन्यास नई श्रेणी की चीजें है। यहाँ लेखक मानव-जीवन जैसा है, वैसा उसे चित्रित करने बैठा है। पाप-पुण्य की सामाजिक धारणा से उपन्यासकार क्यों परिचित हो? वह उससे ऊपर उठकर जीवन की बहुमुखी प्रवृत्तियों को उनकी सारी नग्नता और संपूर्णता में चित्रित क्यों न करे? राजकुमारी और सुखदेव चौबे का प्रेम अवैध क्यों है? समाज के लिए वह किस प्रकार अहितकर है? छिपकर वह प्रेम किया जाता है, यह समाज-दंड के भय के कारण ही है।

किसी विशेष आदर्श को लेकर 'प्रसाद' 'तितली' नहीं लिखने बैठे। उन्होंने जीवन के काले और उज्ज्वल पक्ष नहीं किये, जैसा बहुधा उपन्यासकार कर लिया करते हैं। विधाता की सृष्टि में काला-गोरा सब साथ-साथ चलता है। नाटक में नाटकीयता लाने के लिए रंगों को कुछ अधिक गहरा भी करना पड़ता है परन्तु उपन्यास उससे भिन्न वस्तु है। उसमें तो विधाता के जीवन को कला के कमरे से पकड़ना-मात्र रहता है। इसीसे 'प्रसाद' के दोनों सामाजिक उपन्यास हमें संपूर्ण जीवन देते हैं, जीवन का अक्षय सौन्दर्य और जीवन का अक्षय तप। जीवन में कूड़ा-करकट भी है, सुन्दर भी है, पाप भी है। कलाकार यदि जीवन के प्रति और अपनी कला के प्रति ईमानदार है, तो वह यह भी देगा। वह यदि स्वप्न और कल्पना की भूल भुलैयों में खो जाना नहीं चाहता तो वह जीवन के गरल का पान भी करेगा। प्रेमचन्द के साहित्य ने मनुष्य की दुर्बलता को बहुत कुछ आंख की ओट कर दिया है। मनुष्य की महानता, मनुष्य की आशावादिता, मनुष्य की मूलप्रेरक प्रवृत्तियों की मंगल-मयता को प्रेमचन्द ने साहित्य में स्थापित किया है। गायत्री और ज्ञानशंकर जैसे दुर्बल पात्र उन्होंने हमें दिये हैं, परन्तु उन्होंने जो कुछ कहा है, दबी ज़बान में कहा है। वह मनुष्य के दुर्बल पक्ष को प्रधानता न देकर हमारी सारी दृष्टि उसके उज्ज्वल पक्ष पर केन्द्रित कर देना चाहते हैं। 'प्रसाद' का ढंग दूसरा है। वह जीवन की विड-म्बनाओं के कलाकार हैं। 'कंकाल' प्रमाण है। 'तितली' में वह प्रेमचन्द के बहुत पास हैं, परन्तु राजकुमारी और चौबे के अवैध प्रेम के रूप में उन्होंने मनुष्य की दुर्बलता की कहानी भी कह दी है। बड़े निःसंकोच से यह कहानी कही गई है, परन्तु इससे हम उसे अश्लील नहीं कह सकते। फिर राजकुमारी भी अन्त में तो सँभल ही जाती है। पतन के गर्त में गिरते-गिरते वह बच जाती है।

'इरावती' की कथावस्तु शुंगवंश के प्रादुर्भाव से सम्बन्ध रखती है। भारतीय इतिहास में शुंगवंश और कण्ववंश ब्राह्मण-धर्म के प्रवर्तन के मुख्य स्रोत थे। पुष्य-मित्र ने ही साकेत को अपनी राजधानी बनाया और कदाचित् वाल्मीकि रामायण का पहला पाठ साकेत में ही स्थापित हुआ। पुष्यमित्र के समय में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हो गया था परन्तु वह सामान्य जनता का धर्म नहीं बन पाया था। सामान्य जनता का धर्म अब भी ब्राह्मण-धर्म था। दक्षिण के मालवों के शिव-महाकाल की पूजा जनता में विशेष सम्मान पा रही थी। महाकाल के उपासक एक नये धर्म की उपासना के मंत्र पढ़ रहे थे। यह नया धर्म अहिंसा में विश्वास नहीं करता था, परन्तु वह शिव के नृत्य मय रूप का पुजारी था। वह आनन्दवादी था। 'इरावती' का प्रेमी 'आनन्द' भिक्षु इसी आनन्दवाद का प्रतीत है। 'कामायनी' में भी आनन्दवाद की एक विशेष धारा मिलती है। 'प्रसाद' शैवागमों के जीवन-दर्शन को एक नया रूप

देने चले थे और शैवागमों में आनन्दवाद की प्रधानता है। 'इरावती' में उन्होंने शैव-सिद्धान्तो के आनन्दवाद को ही आगे बढ़ाना चाहा है।

'इरावती' की पूरी कथा खुली नहीं है। रचना अपूर्ण ही रह गई है और जान पड़ता है लेखक के मन में उपन्यास का जो चित्र था, वह आधा भी उतर नहीं पाया। पुष्यमित्र और अग्निमित्र मालव हैं। अग्निमित्र उज्जयिनी गया हुआ है। वहाँ वह महाकाल के मन्दिर की नर्तकी 'इरावती' पर मुग्ध हो जाता है। मगध का युवराज वृहस्पतिमित्र उसका मित्र है। वह भी आया हुआ है। उधर मगध पर शतधन्वा का राज है और कुसुमपुरी रहस्यो की नगरी बन गई है। एक दिन किसी विशेष अवसर पर इरावती महाकाल के मन्दिर में अपनी नृत्यकला का प्रदर्शन करती है। वृहस्पतिमित्र प्रच्छन्न-रूप से कला के इस अत्यन्त मार्मिक रूप को देख रहा है। वह इरावती पर मुग्ध हो जाता है। आत्मप्रवंचना उसे एक नये रूप में उपस्थित करती है। वह घोषणा करता है कि नृत्य और उल्लास की यह पूजा-पद्धति बौद्ध धर्मामात्य को कदाचित् पसंद नहीं होगी। सारा आर्यावर्त बौद्ध धर्गामात्य द्वारा शासित है और वही धर्म की व्यवस्था करता है। भिक्षु 'आनन्द' महाकाल के नाम पर बौद्ध-युवराज की इस उद्दंडता का विरोध करता है। मालव-जनता उसका साथ देती है। अग्निमित्र भी सामने आ जाता है। एक महान् विप्लव की आशंका होती है। परन्तु इसी समय उल्काधारी आकर युवराज को सूचित करते हैं कि वह सम्राट् बन गया है। सम्राट् शतधन्वा की मृत्यु हो चुकी है और मगध की राज-परिषद् उसकी प्रतीक्षा कर रही है। इस प्रकार मगध का राजदंड उद्दंड और विलासी वृहस्पतिमित्र के हाथ में पहुँच जाता है। उल्काधारियों को साथ लेकर अग्निमित्र के साथ वृहस्पतिमित्र महाकाल के मन्दिर को छोड़ देता है, परन्तु 'इरावती' को लेकर उसके हृदय में हलचल उठ खड़ी है, इसमें कोई संदेह नहीं।

कथा के सूत्र धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। 'कंकाल' में कथा की गति अपेक्षाकृत तीव्र है। 'तितली' में 'प्रसाद' कथा से अधिक अनुप्रेरित जान पड़ते हैं। वहाँ वह विश्लेपण और चित्रण में खो गये है। 'इरावती' में 'प्रसाद' विलास, ऐश्वर्य और चिन्ता की भूमि पर अपनी सहज मंथर गति से चल रहे हैं। उनकी सारी प्रकृति ही कथानक के सूत्रों का परिचालन कर रही है।

अधिकांश कथा का केन्द्र 'इरावती' है। वह आनन्द की प्रणयाकांक्षा को दुलराती है, परन्तु उसके हृदय में अग्निमित्र समाया हुआ है। इधर मन्दिर के अधिकारियों और उज्जयिनी के राजपुरुषों को सम्राट् का आदेश मिलता है कि 'इरावती' को पकड़ कर बौद्ध-बिहार में भेज दिया जाय और वहाँ वह शील की शिक्षा प्राप्त करे। विहार में पहुँच कर इरावती बदलना चाहती है, वह दुःख मे डूबी रहती है।

बुद्ध भिक्षुणियाँ उसे जीवन की अनित्यता के संबंध में समझाती रहती हैं, परन्तु अन्त में एक दिन शरत्-रजनी के चन्द्रातप में उसका कला-विलास जाग उठता है। वह फिर 'इरावती' बन जाती है। उसी समय एक तीर उसके पास आ पहुँचता है। उसमे एक पत्र बँधा है जिस पर अग्निमित्र का नाम है। तो अग्निमित्र पास ही है। उल्लास और उत्तेजना से भर कर 'इरावती' मत्तमयूरी की भाँति नृत्य करने लगती है। विहार में नृत्य ! क्षण भर में सारे विहार में यह समाचार गूँज जाता है और वह वृद्ध स्थविर आदि भिक्षु-भिक्षुणियों से घिर जाती है। यह पाप उसने क्यों किया ? परन्तु इरावती तो इसे पाप नहीं मानती। अन्त में अग्निमित्र उसे नाव में लेकर भागने की चेप्टा करता है, तो राजसैनिक उसे पकड़ लेते हैं।

इधर मगध में एक भयानक चक्र चल रहा है। इस चक्र की संचालिका कालिन्दी है। वह मौर्य राजकन्या है। शतधन्वा ने उसे पकड़ मँगवाया था और राजप्रासाद के अत्यन्त गुप्त भाग में वह रखी गई थी। शतधन्वा की मृत्यु के बाद वह स्वतन्त्र हो गई और सिंहपदों की गुप्त संस्था के साथ उसने अभिसंधि कर ली। सारे मगध पर इस गुप्त-संस्था का आतंक है। स्वयं वृहस्पतिमित्र कालिन्दी से भयभीत रहता है। 'इरावती' जब गुप्त रूप से उसके पास पहुँचाई जाती है तो कालिन्दी के द्वारा ही उसकी मुक्ति होती है। स्वयं अग्निमित्र भी कालिन्दी का बंदी बन जाता है। अन्तिम पृष्ठों में हम सारे मगध को आतंकित पाते हैं। कलिंगराज मेघवाहन खारवेल मगध आ गया है। वह कलिंग की सोने की जिन-मूर्ति लौटाना चाहता है। सिंहपद मगध के और राष्ट्र के विरोधी हैं, परन्तु उनकी देश-भक्ति कम नहीं है। खारवेल की गतिविधि पर दृष्टि रखते हैं और एक दिन महाश्रेष्ठि धनदत्त के घर उसे घेर लेते हैं। अग्निमित्र कालिन्दी के बन्दीगृह से मुक्त होकर कुछ करने का प्रयत्न करता है परन्तु मगध के सैनिक उसे बन्दी बना लेते हैं। वृहस्पति अग्निमित्र के आग्रह पर उसे केवल इस शर्त पर छोड़ता है कि वह महामेघवाहन से युद्ध करे। धनदत्त के घर खारवेल की उपस्थिति की सूचना अग्निमित्र को भी मिल जाती है और वह भी वहाँ पहुँच जाता है। युद्ध होने लगता है। परन्तु कथा भी यहीं समाप्त हो जाती है। काल ने उसे पूर्ण होने का अवसर ही नहीं दिया।

शुंगवंश और खारवेल के इतिहास से जिनका परिचय है उनका कहना है कि कथा के सूत्र बहुत आगे नहीं बढ़ाये जा सकते। खारवेल कलिंग की जिन-मूर्ति लेने का प्रण कर चुका था और वह अपनी हस्तिसेना को गंगा की धारा में उतार कर पाटलिपुत्र तक चला आया था, यह ऐतिहासिक सत्य है। खारवेल का जो शिलालेख प्राप्त हुआ है उसकी सत्यता के सम्बन्ध में सब ऐतिहासिक एकमत नहीं है। कुछ लोग उसमें अतिशयोक्ति पाते हैं। परन्तु खारवेल के वृत्तांत को एकदम प्रक्षिप्त भी नहीं

माना जा सकता और 'प्रसाद' ने 'इरावती' में खारवेल की जो तरुण रूपरेखा उपस्थित की है, वह निःसदेह खारवेल की प्रशस्तियों को सत्य मानकर ही चलती है। कथा के सूत्र जिस ढंग से आगे बढ़े हैं, उस ढंग से यह स्पष्ट है कि परवर्ती कथा के सूत्र कालिंदी, अग्निमित्र और खारवेल के हाथ में होंगे। इतिहास में पुष्यमित्र और राजसैनिकों के समकक्ष वृहस्पतिमित्र के बध की बात है। अतः यह निश्चय है कि यही प्रसंग उपन्यास का अंतिम प्रसंग होगा और पुष्यमित्र-द्वारा राजदंड ग्रहण करने के साथ कथा का पटाक्षेप होगा। परन्तु इसमें सामान्य ऐतिहासिक रूप-रेखा से उपन्यास की सम्भावना रूप-रेखा बनाना सम्भव नहीं है। धनदत्त, मणिमाला और आनंद जैसे कुछ चरित्र 'प्रसाद' ने इस कथा में अपनी ओर से जोड़ दिये हैं और अब कहना कठिन है कि ये चरित्र किसी नये कथा-रूप का विकास करेंगे या नहीं। 'कंकाल' और 'तितली' में एक से अधिक कथासूत्र हैं। 'इरावती' जिस रूप में प्राप्त है, उस रूप में उसमें एक ही कथा है, परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि धनदत्त, मणिमाला और आनंद को लेकर एक कथासूत्र चल पड़े ? जिस शिथिल गति से उपन्यास बढ रहा है उससे स्पष्ट है कि अभी चतुर्थांश भी पूर्ण नहीं हुआ है। जहाँ 'इरावती' का कथानक समाप्त हो गया है, उसके बाद कथानक की गति-विधि क्या होगी, इसके सम्बन्ध में बहुत से अनुमान लगाये जा चुके हैं, परन्तु 'प्रसाद' की विधातृ प्रतिभा को ध्यान में रखकर यह कह देना होता है कि ये सारे अनुमान अनुमान ही हैं। निश्चयपूर्वक 'प्रसाद' के इस उपन्यास की गति-विधि कैसी रहती, यह कहना कठिन है।

चरित्रों के सम्बन्ध में भी हमें कुछ कहना है। इस उपन्यास में 'प्रसाद' ऐतिहासिक वातावरण, कथानक और भाव-चित्रण की ओर ही अधिक ध्यान देते जान पड़ते हैं। उन्होंने चरित्रों के निरूपण, विकास और विश्लेषण की ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए सारे उपन्यास में कोई भी चरित्र अपने निज के बल के सहारे हमारे सामने खड़ा नहीं होता। वृहस्पतिमित्र, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, खारवेल ऐतिहासिक चरित्र हैं। वृहस्पतिमित्र का पुरुष और विषयलोलुप है। पुष्यमित्र कूटनीतिज्ञ कर्तव्य-निष्ठ और साहसी सेनापति है और अग्निमित्र उच्छृंखल, निरुद्देश्य, दुःसाहसी तरुण है जिसके लिए प्रेम और विलास में पर्याप्त आकर्षण है। खारवेल तरुण है, दुःसाहस की मात्रा उसमें भी कम नहीं है, परन्तु उसका व्यक्तित्व विशेष रूप से आकर्षण है। उपन्यास के अंत में जिस विशदता से खारवेल का चित्रण किया जा रहा है, उससे यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' के मन में उसका एक निर्दिष्ट चित्र है और वह धीरे-धीरे चन्द्रगुप्त का महकाव्य धारण करता जा रहा है। यह दुर्भाग्य की बात है कि 'प्रसाद' इस एकदम नये ऐतिहासिक चरित्र को जीवन प्रदान नहीं कर सके।

शेष सारे पात्र अनैतिहासिक हैं। कालिन्दी, इरावती, धनदत्त, मणिमाला, आनंद—ये नये मौलिक पात्र हैं जिन्हें 'प्रसाद' की कल्पना ने ही रूप-नाम दिया है। परन्तु कदाचित् ऐतिहासिक-पात्रों की अपेक्षा यह पात्र कहीं अधिक स्थूलता प्राप्त कर सके हैं। इनमें 'प्रसाद' की मौलिकता पूर्णरूप से सुरक्षित रह सकी है। इन पात्रों का जितना कुछ भी चरित्र-चित्रण हमारे सामने आता है, उतना ही चरित्र उन्हें पूर्णरूप से खोल देता है। यदि 'प्रसाद' 'इरावती' को पूर्ण करते, तो इन चरित्रों को जो विशेषताएं प्रकाशित पृष्ठों में विकसित हो सकी हैं वेही और विकसित होतीं। किसी प्रकार का आश्चर्य-जनक परिवर्तन असंभव नहीं था। कालिन्दी में नारी पूर्ण रूप से जाग्रत है। छल-प्रपंची और पौरुष-प्रतिभा से भरी यह कर्तृत्व-प्रधान नारी हमें इसीलिए आकर्षित करती है कि उसके नारी के अपने कोमल संस्कार प्रतिहिंसा की मिट्टी के नीचे दब गये हैं। इरावती में प्रणय-भावना की प्रधानता है। नियति उसे नचाती है और वह खूब नाचती है। उपन्यास के पृष्ठों में उसका चरित्र पूर्णरूप से विकसित नहीं हो सका है। परन्तु उसको लेकर इतने बवंडर उठते हैं कि वह सहज ही हमारी सहानुभूति की अधिकारिणी बन जाती है। धनदत्त महाश्रेष्ठि है, वणिक है। धन ही उसके जीवन का आधार है। मणिमाला श्रेष्ठि धनदत्त की पत्नी है। वह पति की धन-लिप्सा से ऊब उठी है। धनदत्त के निराशा और विषाद के मनस्तत्व के विरोध में उसने अपना एक आशावादी [illegible] जीवन-दर्शन विकसित कर लिया है। आनंद इसी आनंदवाद का प्रतीक है। परन्तु आनंद का आनंदवाद उसकी आत्मा की सहज स्फूर्ति का प्रकाशन है। वह निराश-हृदय की उपज नहीं है। उसके पीछे शैव-दर्शन और शैव-विचारधारा का मुख्य बल है। ये पात्र 'प्रसाद' के चरित्रों की विशाल चित्रपटी में कुछ और जोड़ देते हैं।

कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उपन्यास अपूर्ण रह जाता है, परन्तु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की झलक उसमें पूरी-पूरी मिलती है। इस विषय में कोई भी संदेह नहीं है। इस उपन्यास ने 'प्रसाद' की कला के लिए नई सम्भावनाएँ खोली थीं, परन्तु वे अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं कर सके। फिर भी यह निश्चित है कि ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में भी वे उसी प्रकार सफल रहे जिस प्रकार साधारण उपन्यासकार के रूप में। वस्तुतः दोनों में अंतर भी विशेष नहीं है। साधारण उपन्यास में हम पात्रों के जीवन के उत्थान पतन, सुख-दुःख, हर्ष-शोक को अपना विषय बनाते हैं, उन्हें अपना समझकर, पड़ोसी समझकर अथवा अत्यंत निकट का सम्बन्धी समझकर दिलचस्पी लेते हैं, उनसे सह-वेदना प्रगट करते

हैं, उनमें रस लेते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास के पात्र साधारण उपन्यास के पात्रों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट रहते हैं। उनका सुख-दुःख संसार की वृहद् घटनाओं के साथ बँधा रहता है। विशेष आंदोलनों, राज्यों के उत्थान-पतन, जातियों के संघर्षों के भीतर प्रतिष्ठित उन विशेष व्यक्तियों का दुःख-सुख हमें और भी अधिक प्रभावित करने की क्षमता रखता है। हम जानते है अखिर ये भी हम जैसे मनुष्य थे, जो हमारी तरह जीवित थे। इतिहास के विशाल रंगमंच की पृष्ठभूमि देकर वैयक्तिक सुख-दुःख को विराट बना देना—यही ऐतिहासिक उपन्यासकार की सफलता का रहस्य है। नये अनुसन्धान भी उस अटल सत्य को नहीं बदल सकते जो मनोविज्ञान पर आधारित है, भले ही उनसे दो-चार नाम बदल जायें या किन्हीं एक-दो पात्रों का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाये। 'इरावती' में इतिहास की वृहद् चित्रपटी पर इरावती, अग्निमित्र और खारवेल प्रभृति महानुभावों के प्रत्येक सुख-दुःख की जो झाँकी उपस्थित की गई है, वह प्रत्येक युग के मनुष्य का स्पर्श कर सकेगी, इसमें सन्देह नहीं।

# प्रसाद की कहानियाँ

'प्रसाद'-साहित्य में कहानियों का महत्त्व कुछ कम नहीं है। जैसे नाटक और कविता में 'प्रसाद' ने नई-नई दिशाओं का प्रवर्त्तन किया, वैसे कहानी और उपन्यास के क्षेत्रों में भी उन्होंने हमारे साहित्य को नई दिशाएं दीं। कहानी के क्षेत्र में वह उपन्यास से कहीं पहले आगये थे। वस्तुतः कविता, नाटक और कहानी के तीन भिन्न क्षेत्रों में उन्होंने एक ही साथ पदार्पण किया और तीनों क्षेत्रों में हिन्दी को बहुत कुछ दिया। उनकी कुछ प्रारंभिक कहानियाँ—या कहानी से मिलती-जुलती चीजें 'चित्राधार' ( १९१२ ) में संगृहीत हैं। परन्तु जिन्हें हम कहानी के सिवा और कुछ नहीं कह सकते, वैसी रचनाएं पाँच संग्रहों के रूप में हमारे सामने हैं। ये संग्रह हैं 'छाया' ( १९१२ ), 'प्रतिध्वनि' ( १९२६ ), 'आकाशदीप' ( १९२९ ), 'आँधी' (१९३९ ) और 'इन्द्रजाल ( १९३६ )। इन संग्रहों से हम 'प्रसाद' की कहानी-क्षेत्र की १९०९-१० से मृत्यु-पर्यन्त ( १९३६ ) तक की गतिविधि से परिचित हो जाते हैं। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' है जो १९०९ में प्रकाशित हुई और उस समय से लगभग २५ वर्षों तक उन्होंने साहित्य के अनेक क्षेत्रों में काम करते हुए भी हिन्दी कहानी को बहुत कुछ दिया। उनकी कहानियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। सब मिलाकर ७० कहानियाँ होंगी। परन्तु कहानी-कला की दृष्टि से वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस युग में प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक और 'प्रसाद' हिन्दी के सबसे बड़े कलाकार थे और समसामयिकों में 'प्रसाद' का अपना विशेष व्यक्तित्व था। उन्होंने कहानी की एक विशेष दिशा को पुष्ट किया। प्रेमचन्द, सुदर्शन और कौशिक की कहानियाँ यथार्थवादी कहानी की परंपरा को आगे बढ़ाती हैं, यद्यपि उनका यथार्थवाद आदर्शवाद से पुष्ट होकर चलता है, परन्तु 'प्रसाद' की कहानी उनके अन्य साहित्य की

भाँति रोमांस या स्वच्छंदतावाद की धारा ही को अग्रसर करती है। दृष्टिकोण, कला, भाषा-शैली और अभिव्यंजना सभी की दृष्टि से 'प्रसाद' का कहानी-साहित्य अन्य समसामयिकों के साहित्य से भिन्न है। उनके सम्यक् अध्ययन के बिना 'प्रसाद' के साहित्य और व्यक्तित्व का एक विशेष अंग ही अधूरा रह जाता है।

'छाया' ( १६१२ ) के पहले संस्करण में केवल चार कहानियाँ ही थीं। प्रारंभिक रचना 'ग्राम' भी इन्हीं कहानियों में से एक है। अन्य तीन कहानियां हैं तानसेन, चंदा, रसिया बालम और मदनमृणालिनी। दूसरे संस्करण में १६१८ तक की कुछ और रचनाएं जोड़ दी गई हैं। ये कहानियाँ मुख्यतः ऐतिहासिक हैं। ये हैं शरणागत, सिकन्दर की शपथ, चित्तौड़-उद्धार, अशोक, गुलाम और जहाँआरा। यह स्पष्ट है कि पहली कुछ कहानियों के बाद 'प्रसाद' ऐतिहासिक वस्तु की ओर आकर्षित हुए। अधिकांश कहानियाँ प्रेम-रोमांस की कोटि में आती है और एक तरह से हम उन्हें मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक काव्यों से संबंधित कर सकते हैं। कथा-संगठन, चरित्र-चित्रण और कहानी के मौलिक तत्त्वों की दृष्टि से 'छाया' की कहानियाँ महत्व-पूर्ण नहीं हैं। अभी कहानीकार ने इस क्षेत्र में प्रवेश ही किया है, परन्तु उनकी भाषा-शैली परवर्ती कलाकृतियों की याद दिलाती है। उनमें काफ़ी विविधता और काव्यात्मकता है। यह काव्यात्मकता कहानी के वातावरण के निर्माण में बहुत सहायक है। परन्तु कहानी को जीवन की पृष्ठभूमि देने में वह अधिक सहायता नहीं देती। जो हो, इन कहानियों का ऐतिहासिक महत्व तो है ही। इससे जयशंकर 'प्रसाद' के प्रारंभिक भावपूर्ण जीवन की एक झलक हमारे सामने आती है। कहानीकार प्रेम, प्रेमजन्य असफलता, ईर्ष्या-द्वेष और इसी प्रकार के अन्य मनोभावों से परिचित हो रहा है। वह प्रेमी के अनेक प्रकार के बलिदानों की कल्पना करता है। 'ग्राम' कहानी इन प्रेम-रोमांसों से भिन्न है। उसमें कदाचित् लेखक की अपनी पारिवारिक विडम्बना का ही चित्रण जान पड़ता है। संभव है मदन के रूप में 'प्रसाद' ने अपने किशोर जीवन की परिस्थितियों से प्रेरित एक युक्ति-चित्र ( Wish-full filment ) उपस्थित किया है। हम जानते हैं कि बहुत छोटी वय में गृहस्थी का सारा बोझ कहानीकार पर आ पड़ा था और उसे पहिले का बहुत बड़ा ऋड़ देना पड़ा था। उसने मदनमृणालिनी कहानी में अपने ही कर्मठ जीवन का एक संभाव्य चित्र उपस्थित किया है। एक प्रकार से प्रारंभिक पाँचों कहानियाँ कवि के मनोभावों और उसकी जीवन-परिस्थितियों से संबंधित हो जाती हैं। ऐतिहासिक कहानियों के पीछे सामयिक राष्ट्रीय प्रेरणा है। ये कहानियाँ चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से लेकर १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम तक की सामग्री बटोर लेती हैं। इन ऐतिहासिक कहानियों में उस कला के दर्शन नहीं होते जो 'प्रसाद' की अन्य कहानियों में बिखरी पाई जाती हैं। बात

यह है कि इस प्रकार की कहानियों में लेखक के हाथ बहुत कुछ बंधे रहते हैं और वह अपनी कल्पना का ताजमहल नहीं बना सकता। कहीं-कहीं भाषा में 'प्रसादत्व' का थोड़ा आभास-मात्र मिलता है जैसे 'गुलाम' शीर्षक कहानी में, परन्तु इस कहानी में भी उतार-चढ़ाव विशेष नहीं है। लेकिन जिन कहानियों में इतिहास ने लेखक के हाथ नहीं बाँधे हैं, वे कहानियाँ कल्पना और कला के उन्मुक्त पंखों पर विचरण करती हैं। इस संग्रह की 'चंदा' नामक कहानी में बाल-जीवन की स्वच्छंदता और प्रकृति की रमणीकता के संयोग से 'प्रसाद' एक असामान्य प्रेम-काव्य की सृष्टि कर सके हैं।

'प्रतिध्वनि' ( १६२६ ) में 'छाया-काल' और कुछ बाद की कहानियाँ संगृहीत हैं। 'छाया' में जिस तरह की कहानियाँ संगृहीत हैं, उस तरह की कहानियाँ ये नहीं हैं। इन कहानियों में प्लाट या चरित्र-चित्रण का विशेष आग्रह नहीं है। केवल किसी भाव, किसी इंगित, किसी भंगिमा या किसी परिस्थिति-विशेष का उद्घाटन ही इन कहानियों में हो सका है। वास्तव में इनमें से कई कहानियाँ कहानियों से अधिक स्केच, रेखाचित्र या गद्य-गीत हैं। थोड़े में बहुत कुछ कह दिया गया है। कुछ कहानियाँ तो निःसन्देह गद्य-गीत की भित्ति पर खड़ी हैं; जैसे 'प्रसाद'। कुछ में किसी ग्राम्य गीत का अंश इस प्रकार गुंफित है कि यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने गद्य-गीत की रचना पहले की और फिर उसे कहानी का रूप दे दिया। १६१३ ई० में रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' प्रकाशित हुई थी और उसने हिन्दी के क्षेत्र में गद्य-गीतों का 'प्रसार' किया। जान पड़ता है, राय कृष्णदास की तरह 'प्रसाद' ने भी कुछ गद्य-गीत लिखे, परन्तु बाद को उन्होंने इन्हें कविता या कहानी के रूप में परिवर्तित कर दिया और वह इस क्षेत्र में अपने मित्र राय कृष्णदास के प्रतिद्वन्दी नहीं बने। 'पत्थर की पुकार' इसी प्रकार का एक सुन्दर गद्य-गीत है। 'प्रतिमा' के गठन में भी मूर्ति के आत्मकथन के रूप में एक गद्य-गीत है। 'गीतांजलि' के 'भग्नमन्दिर के देवता' संबंधी गीत से इसकी तुलना की जा सकती है। देव-प्रतिमा मनुष्य के प्रेम, श्रद्धा और विश्वास की प्रतीक होकर ही पूज्य है—इस कहानी में यही संकेत है।

यह स्पष्ट है कि कहानी-कला का कोई भी रूप, कम-से-कम सुष्क रूप, इन कहानियों में नहीं मिलता। वस्तुतः 'प्रतिनिधि' ( १६२६ ) की अधिकांश सामग्री कहानी से कुछ ओछी पड़ती है। वह स्केच या रेखाचित्र ही रह जाती है। उदाहरण के लिए हम 'गूदड़साईं' को ले सकते हैं जिसमें एक परमहंस का चित्र-मात्र है। 'गूदड़साईं' जैसे न जाने कितने परमहंस हमारे देश की आध्यात्मिक परंपरा को जीवित रखे हैं। साईं वैरागी हैं—माया नहीं, मोह नहीं। बच्चों से बड़ा स्नेह। डाँट-फटकार की जरा भी चिन्ता नहीं। लड़के गूदड़ छीन कर दौड़ते हैं तो साईं उनके पीछे-पीछे हैं। यह छीना-झपटी का कौतुक बराबर चला करता है। 'गुदड़ी का

लाल' में एक बुढ़िया का रेखा-चित्र है। इस रेखा-चित्र में कवि-कहानीकार बताना चाहता है कि स्वाभिमान ही मनुष्य का सबसे बड़ा धन है। जिसके पास स्वाभिमान है, उसके पास क्या कुछ नहीं है। 'खंडहर की लिपि', 'चक्रवर्ती का स्तंभ' और 'प्रलय' शीर्षक कहानियाँ इन काव्यात्मक रेखाचित्रों में सर्वश्रेष्ठ हैं। 'प्रलय' को तो हम 'प्रसाद' की श्रेष्ठतम कहानियों में रख सकते हैं। 'कामायनी' का क्षेत्र भी हमें इस कहानी में मिल जाता है। 'खंडहर की लिपि' में प्राचीन इतिहास की मोहकता और छलना का चित्रण है। रवि बाबू की 'भग्न पाषाण' कहानी के समकक्ष इसे रखा जा सकता है। 'चक्रवर्ती का स्तंभ' साम्राज्य-लिप्सा और अहिंसा के विरोध को पूरी तरह स्पष्ट करती है। इस कहानी में मुसलमानों के आक्रमण की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के भीतर से अशोक धार्मिक भाव का चित्रांकन किया गया है। 'प्रलय' कहानी में शिवशक्ति के रूपक को लेकर 'प्रलय' और सृष्टि की कहानी कही गई है। शिव पुरुष है। शक्ति प्रकृति है। शक्ति को अपनी सृजन-शक्ति पर गर्व है परन्तु वह यह नहीं जानती कि उसे यह शक्ति पुरुष से ही प्राप्त है। शक्ति-शिव का प्रलयांतर मिलन ही अंतिम सिद्धि है। इस मिलन की भूमिका में शिव का ताँडव (संहार-नृत्य) है जिसका बड़ा सुन्दर चित्र इस कहानी में उपस्थित हुआ है। शिव-शक्ति की दार्शनिक कल्पना और शैवाद्वैत एवं आनन्दवाद को भी इस कहानी से बहुत सुन्दर रूप मिला है। 'उस पार या योगी' एकदम रहस्यात्मक रचना है। कहानीकार क्या कहना चाहता है यह स्पष्ट नहीं है।

परन्तु कुछ कहानियां ऐसी हैं जिनमें कथा का प्रवाह स्पष्ट है अथवा मानसिक घात-प्रतिघातों की व्यंजना है। 'अघोरी का मोह', 'पाप की पराजय', 'सहयोग', 'कलावती की शिक्षा' आदि कहानियाँ इस कोटि मे आती हैं। फिर भी केवल कथा लेकर चलने की प्रवृत्ति इन कहानियों में नहीं है। कहानीकार भावों के आलोड़न-विलोड़न में डूबता-उतराता रहता है। कथा पीछे छूट जाती है परन्तु यह स्पष्ट है कि इन कहानियों में हमें 'छाया' के बाद का और उससे ऊँचा धरातल मिलता है। 'छाया' की कहानियों में कलाकार का हाथ ही नहीं दिखलाई देता। वहाँ हमें केवल कलाकार के दर्शन होते हैं जो कथा की सीदी-साधी रेखाएँ ही उभार सकता है। परन्तु 'प्रतिध्वनि' की कहानियाँ एक नई श्रेणी की कहानियाँ है। उनमें मूर्तिमत्ता और लाक्षणिकता का सामावेश है। उन्हें कहानी से अधिक रेखाचित्र या भावचित्र कहना ही यहाँ उपयुक्त होगा। 'प्रसाद' रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति जीवन के छोटे-छोटे चित्र पकड़ लेते हैं और उन पर अपनी कला का भव्य भवन निर्माण करते हैं। कई चित्र तो भावुकता से इतने भरे हुए है कि कहानी की रूपरेखा ही स्पष्ट नहीं हो पाती। कुछ चित्रों में गद्य-काव्य की सामग्री को लेकर कहानी की व्यंजना उपस्थित

करने का प्रयत्न किया गया है। 'प्रसाद' 'कलावती की शिक्षा', 'पत्थर की पुकार' इत्यादि कहानियों में यही गद्य-काव्य की व्यंजना हृदय मोह लेती है। यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' की कवि-दृष्टि जहाँ हमें भुला देती है, वहाँ उनकी कथाकार की प्रतिभा अभी पूर्णरूप से विकसित नहीं हो पाई है। कहीं-कहीं रूपक के अधिक प्रयोग के कारण यह कलादृष्टि धुँधली भी हो गई है, जैसे 'पाप की पराजय' कहानी में। करुणा के द्वारा पाप (वासना) की पराजय का एक सांकेतिक चित्र इस कहानी में मिलेगा परन्तु इस चित्र को पकड़ना सबके लिये संभव नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि कहानीकार में पात्रों के भावजगत् को जगाने की अपूर्व प्रतिभा है और उसकी भाषा-शैली की मधुमयता और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पकड़ हमें पूर्ण रूप से आकर्षित करने में समर्थ है। 'प्रतिध्वनि' (१९२६) तक पहुँचते-पहुंचते 'प्रसाद' ने गद्य-पद्य और कला के क्षेत्र में अने प्रयोग कर लिये है और उनका साहित्य हमें आकर्षित करने लगा है। इस संग्रह में 'प्रलय' कहानी को छोड़कर कदाचित् कोई भी कहानी ऐसी नहीं है जो 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में स्थान पा सके। अधिकांश कहानियों में वैसी पूर्णता नहीं है जैसी 'इन्द्रजाल' और 'आकाश-दीप' की कुछ कहानियों में। परन्तु इन कहानियों में प्रतिभा के अनेक अंकुर हैं और प्रसाद-साहित्य के अध्ययन के लिए इनकी सम्यक समीक्षा अनिवार्य हो जाती है।

'प्रसाद' के प्रौढ़तर कहानी-संग्रह 'आशाश-दीप' (१९२९), 'आंधी' (१९३१) और 'पुरस्कार' (१९३६) हैं, जिनमें उनकी ४५ कहानियाँ संगृहीत हैं। 'प्रतिध्वनि' (१९२६) की 'प्रलय' कहानी को छोड़ दें तो 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ बीस कहानियों में से श्रेष्ठतम इन्हीं में मिलेंगी। प्रारंभिक कहानियाँ प्रयोगात्मक ही अधिक हैं। उनमें हमें 'प्रसाद' की प्रौढ़ प्रतिभा का पूर्णोन्मेष प्राप्त नहीं होता। इन संग्रहों की कहानियों को भी ले लें तो हम 'प्रसाद' की कहानी-कला पर सामूहिक रूप से दृष्टि डाल सकते हैं और उनका वर्गीकरण उपस्थित कर सकते हैं इन संग्रहों में हमें 'प्रसाद' की प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास मिलता है और एक तरह से 'इंद्रजाल' (१९३६) की कहानियां सर्वश्रेष्ठ रहेंगी। फिर भी प्रयोगात्मकता पीछे छूट गई है और 'आकाशदीप' से 'इंद्रजाल' तक प्रतिभा का एक ही सूत्र फैलता-सिकुड़ता दिखलाई देता है। ये कहानियाँ भाषा-शैली के स्पंदन से भरी हुई है। जीवन के क्षुद्रतम क्षणों को अनंत महत्व प्रदान कर देना 'प्रसाद' की कवि-प्रतिभा का अत्यन्त सरल चमत्कार है। इस चमत्कार को हम किसी एक जगह देखते हों सो बात नहीं। कहानी पढ़ते-पढ़ते न जाने किस-किस कोने से निकलकर यह चमत्कार हमारा स्वागत करता है और हम कहानी से कुछ अधिक चीज पाकर रस में डूब जाते हैं। 'प्रसाद' की कहानियों में कहानी का रस विशेष नहीं, मनोविज्ञान की कलापूर्ण झाँकी अवश्य मिलती है, परन्तु वह भी अधिक

से नहीं है। जो चीज हृदय को छू लेती है, जो चीज़ हमें बार-बार पढ़ी कहानी पढ़ने को बाध्य करती है वह है उसका काव्य-रस। इस काव्य-रस को कहानी के रस के साथ गुंफित करने वाली 'प्रसाद' की भाषा-शैली अपूर्व है।

सामहिक रूप से देखें तो हम 'प्रसाद' की कहानियों के कई वर्ग कर सकते हैं—

(क) **ऐतिहासिक कहानियाँ**—इनकी संख्या १२ है। 'प्रसाद' के सभी कहानी-संग्रहों में ऐतिहासिक कहानियाँ मिल जाती हैं। इतिहास की ओर उनका आकर्षण उनकी मूल प्रवृत्ति है और उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ इसी श्रेणी में मिलेंगी। 'छाया' और 'प्रतिध्वनि' की आठ ऐतिहासिक कहानियों में कला, कल्पना और अतीत-चित्रमयी भाषा-शैली का कोई पुष्ट रूप हमारे सामने उपस्थित नहीं होता। परन्तु 'आकाशदीप' 'आँधी' और 'इंद्रजाल' की ऐतिहासिक कहानियाँ 'प्रसाद' की कला को सबसे प्रौढ़-रूप में उपस्थित करती हैं। आकाशदीप, ममता, स्वर्ग के खंडहर में, व्रतभंग, दासी, पुरस्कार, सालवती, गुंडा और देवरथ 'प्रसाद' की कहानियों की शीर्षमणि हैं। इनमें व्रतभंग और दासी को छोड़ दें, तो शेष 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के अंतर्गत आ जायेंगी।

अपनी ऐतिहासिक कहानियों में 'प्रसाद' ने भारतवर्ष के इतिहास के बौद्धकाल से लेकर गदर तक के लंबे काल को अपनी कला का विषय बनाया है। बौद्धकाल से संबंधित कहानियाँ हैं अशोक, खंडहर की लिपि, आकाशदीप, व्रतभंग और पुरस्कार। 'अशोक' में ऐतिहासिक वस्तु बहुत ही अधिक है। 'खंडहर की लिपि' सांकेतिक कहानी है, परन्तु आकाशदीप, व्रतभंग और पुरस्कार भी मूलतः प्रेम और रोमांस की कहानी हैं। इनकी पृष्ठभूमि-मात्र ही ऐतिहासिक है। वास्तव में उन्हें 'प्रसाद' की प्रेम-रोमांस की कहानियों से अलग नहीं किया जा सकता। 'सालवती' भी बौद्ध-युग की कहानी है, परन्तु उसमें ऐतिहासिकता अधिक है। केवल प्रेम-रोमांस से ऊपर उठकर लेखक उस युग के सारे वैभव, सारे विलास और सारी सामर्थ्य की अभिव्यंजना करने में सफल हो सका है। 'सिकन्दर की शपथ' मौर्य-युग की कहानी है। इसे हम बौद्ध-युग के अंतर्गत भी रख सकते है, परन्तु उसमें केवल कथा-मात्र है। कहानी-कला पर वह पूरी नहीं उतरती।

बौद्ध-युग के बाद कहानियों के क्षेत्र में 'प्रसाद' के लिये सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु मुसलिम-काल की कहानियाँ हैं—चित्तौड़-उद्धार, गुलाम, जहाँआरा, चक्रवर्ती का स्तंभ, ममता, स्वर्ग के खंडहर में, देवरथ, और नूरी। इनमें अन्तिम चार कहानियाँ 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कहानियों के अन्तर्गत आयेंगी। जान पड़ता है राजपूत कथानकों की ओर 'प्रसाद' का आकर्षण अधिक नहीं था। केवल एक कहानी 'चित्तौड़-उ ार' राजपूत कथा से संबंधित है। 'जहाँआरा' और 'गुलाम' कहानी-कला की दृष्टि से

महत्वपूर्ण नहीं हैं 'चक्रवर्ती का स्तंभ' प्रतीकवादी कहानी है। शेष चार कहानियाँ ही 'प्रसाद' की कीर्ति का प्रधान स्तंभ हैं। 'ममता' में नारी की करुणामयी मातृमूर्ति का बड़ा सुन्दर चित्र है। शेष तीनों का विषय प्रेम है, परन्तु इन तीनों में नारी की त्यागमयी मूर्ति की बड़ी सुन्दर ढंग से प्रतिष्ठा की गई है। 'स्वर्ग के खंडहर में' और 'देवरथ' का संबंध प्रारंभिक मुसलिम-काल से है और 'नूरी' का अकबर से। इन कहानियों में भी ऐतिहासिक कहानी की अपेक्षा है। कल्पना, अध्ययन और कला के द्वारा इतिहास की चित्रमयी पृष्ठभूमि पर प्रेम की सुख-दुःख-पूर्ण, अश्रु-हासमयी रेखायें भर खींच दी गई हैं।

'शरणागत' और 'गुंडा' को हम गदर की कहानी कह सकते हैं। 'शरणागत' में कोई महत्वपूर्ण तत्व नहीं मिलता। परन्तु 'गुंडा' 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है। उस समय की काशी का बहुत सुन्दर चित्र इस कहानी में मिलेगा और 'प्रसाद' उसे चित्रित करने में सफल हुए हैं।

इन ऐतिहासिक कहानियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास के लिए 'प्रसाद' ने ये कहानियाँ नहीं लिखीं। इन कहानियों में प्रेममयी नारियों और लालसापूर्ण साहसी युवकों की आशा-निराशा का ही चित्रण-मात्र है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के द्वारा कथा की रोमांचकता बन जाती है, परन्तु इन कहानियों में कला का बड़ा सुन्दर रूप हमें मिल जाता है और अभूतपूर्व मधुमयी भाषा इतिहास को जीवित करने में सर्वथा समर्थ है। 'प्रसाद' की कलापूर्ण कहानियों में यही सर्वश्रेष्ठ हैं।

( ख ) **यथार्थवादी कहानियाँ**—इनकी संख्या १३ है। 'प्रसाद' की पहली यथार्थ-वादी कहानी 'ग्राम' थी जो १९११ ई० में 'इंदु' में प्रकाशित हुई थी। 'छाया' (१९१२) और 'प्रतिध्वनि' (१९२६) में हमें केवल तीन कहानियाँ—'ग्राम', 'सहयोग' और 'गुदड़ी के लाल' मिलती हैं—परन्तु वे महत्वपूर्ण नहीं हैं। 'आकाशदीप' में 'रूप की छाया' नाम की एक यथार्थवादी कहानी है। काशी की विधवाओं के छल-पूर्ण जीवन की बड़ी सुन्दर व्यंजना इस कहानी में मिलेगी, परन्तु कला के हाथों से वह सँवारी नहीं जा सकी है। 'आँधी' (१९३१) और 'इन्द्रजाल' (१९३६) में ही 'प्रसाद' की अधिकांश सुन्दर यथार्थवादी कहानियाँ हमें मिलती हैं। घीसू, बेड़ी, इन्द्रजाल, सलीम, छोटा जादूगर, परिवर्तन, सदेह, भीख में, और चित्रवाले पत्थर में कलाकार द्वारा जीवन के अनेक नये पहलू उपस्थित किये गये हैं। दृष्टिकोण अब भी बहुत कुछ स्वच्छंदतावादी है। इन्द्रजाल, सलीम, परिवर्तन, भीख और चित्रवाले पत्थर में प्रेम का कोई-न-कोई रूप ही हमें दिखलाई पड़ता है। परन्तु क़लम नई है। जहाँ 'इन्द्रजाल' में एक ओर कंजर-जीवन के बड़े सुन्दर यथार्थवादी चित्र हैं, वहाँ 'भीख में' जैसी कहानियों में आधुनिक जीवन अपनी सारी जनता को लेकर उपस्थित होता है। घीसू, बेड़ी और छोटा जादूगर तीन ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें लेखक ने

अनान्द बालकों के दुःखमय भविष्य की ओर संकेत किया है। इन कहानियों का बीजमंत्र करुणा है।

(ग) **भावात्मक कहानियाँ**—इनकी संख्या ९ है। अधिकांश कहानियाँ 'प्रतिध्वनि' (१९२६) में मिलती हैं—कलावती की शिक्षा, प्रतिमा, दुखिया, करुणा की विजय, पाप की परायज, अघोरी का मोह। तीन कहानियाँ 'आकाशदीप' (१९२९) में मिलेंगी भिखारिन, प्रतिध्वनि और बनजारा। इन कहानियों में कहानी-तत्व की कमी है, परन्तु भावना का भावुकता को आकर्षण सबसे अधिक है। 'बनजारा' प्रेम-कहानी है, परन्तु अन्य कहनियों में जीवन के अलग-अलग चित्र मिलते हैं। इन कहानियों में गद्यगीत की कला का भी बड़ा सुन्दर समावेश है। परन्तु भावना का आधिक्य होने के कारण कहीं-कहीं अस्पष्टता भी आ गई है। जो हो, निश्चित है कि इन कहानियों में 'प्रसाद' की एक विशेष कला के दर्शन होते हैं।

(घ) **प्रेम मूलक कहानियाँ**—यों तो अन्य श्रेणी की कहानियों में भी प्रम-कहानियाँ आ जाती हैं, ऐतिहासिक कहानियों में अधिकांश प्रेम को लेकर ही चलती हैं, परन्तु कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जो स्पष्ट रूप से प्रेम को अपना विषय बनाती हैं। 'छाया' (१९१२,१९), 'आकाशदीप' (१९२९) और 'आँधी (१९३१) में इस प्रकार की कहानियाँ संग्रहित हैं। ये हैं तानसेन, चंदा, रसिया बालम, 'मदनमृणालिनी' सुनहला साँप, देवदासी चूड़ीवाला, अपराधी, बिसाती और ग्रामगीत। इनमें 'छाया' की कहानियाँ अधिक प्रौढ़ नहीं हैं, परन्तु 'देवदासी' 'बिसाती', और 'ग्रामगीत' कहानियों में प्रेमाख्यानक की कहानियों की पराकाष्ठा मिलेगी। ये कहानियाँ संसार की सबसे सुन्दर प्रेमरोमाँस की कहानियों की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। प्रेम की अनेक भंगिमाएँ हमें 'प्रसाद' के साहित्य में मिलेंगी। जहाँ विषय, कला और भाषा का समन्वय संभव हो सका है, वहाँ 'प्रसाद' की प्रौढ़ता को पहुंचना संभव नहीं है, परन्तु सब जगह ऐसा समन्वय नहीं मिल सकेगा। यह समन्वय मुख्यत: 'प्रसाद' के जीवन के अन्तिम दस वर्षों में मिलेगा।

(ङ) **रहस्यवादी कहानियाँ**—'प्रसाद' की अनेक कहानियाँ भावुकता और प्रतीकात्मकता ने अतिरंग के कारण अस्पष्ट हो गई हैं। परन्तु जो शुद्ध रहस्यवादी कहानियों की श्रेणी में आती हैं, ऐसी कहानियाँ छै हैं। 'प्रतिध्वनि' (१९२६) की 'उस पार का योगी' और 'प्रसाद' और 'आकाशदीप' (१९२९) की 'हिमालय का पथिक समुद्र 'संतरण', 'प्रणय-चिह्न और 'रमला' कहानियाँ इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं। 'उस पार का योगी' कहानी में योगी मृत्यु का प्रतीक है। 'प्रसाद' रहस्यत्मक गद्य मात्र है। अन्तिम चार कहानियाँ प्रेम-कहानियाँ हैं, परन्तु उस प्रेम में आध्यात्मिक और रहस्य-त्मक इंगित भी मौजूद हैं। मृत्यु के प्रति आकर्षण रहस्यवाद की एक विशेष प्रवृत्ति है।

'हिमालय का पथिक' कहानी में यह इंगित स्पष्ट है। पथिक ने बर्फ का बुलावा सुन लिया है और वह किन्नरी के प्रेमपाश में बंध कर भी नहीं रहना चाहता। यह रहस्य कहानी को साधारण प्रेमरोमांस की कहानी से ऊपर उठा देता है :—

एक दिन पथिक ने कहा—"कल मैं जाऊँगा।"

किन्नरी ने पूछा—'किधर' ?

पथिक ने हिमगिरी की ऊँची चोटी दिखाते हुए कहा—'उधर जहाँ से कोई न आया हो।' प्राणों के प्रति यह निर्मोह कहानी को अध्यात्मिकता प्रदान कर देता है। 'समुद्र-संतरण' कहानी में यह दूर की पुकार हिम की चोटियों से नहीं आती, समुद्र की लहरों से आती हैं। यहाँ धीवरबाला का प्रेमी राजकुमार आत्मा की वियोगिनी अवस्था का प्रतीक बन जाता है। 'प्रणय-चिह्न' की रहस्य-कल्पना कुछ दुरूह है। कुछ प्रेम-कहानी-सी जान पड़ती है। नामधाम इस लोक के दिये गये हैं, परन्तु ढंग कुछ सूफी कविता जैसा है। 'प्रतिध्वनि' में कई गद्यगीतों को कहानी में गुंफित कर दिया गया है। 'रमला' भी इसी कोटि में आती है।

(च) **प्रतीकात्मक कहानियाँ**—इस प्रकार की कहानियों की संख्या छः है और ये भी मुख्यतः 'प्रतिध्वनि' (१९२६) और 'आकाशदीप' (१९२९) में मिलती हैं। इन कहानियों के नाम है 'प्रलय', 'पत्थर की पुकार', 'गूदड़सांई', 'कला बैरागी', 'ज्योतिष्मति।' इसमें कथाकार अपनी बात को स्पष्टतय: प्रतीक के आधार पर कहता है।

'प्रलय' कहानी में 'कामायनी' के बीज मिलते हैं। शैवागमों के शिवशक्ति के प्रलयांतर्गत समागम को ही प्रतीक के रूप में उपस्थित किया गया है। यह 'प्रसाद' की पहली कलात्मक कहानी है। 'पत्थर की पुकार' में साहित्य और कला की कुछ मूल समस्याएं उठाई गई हैं। विमल कहता है—'अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में है वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।'

नवल कहता है—'इससे विशेष और हम भारतीयों के पास धरा क्या है? स्तुत्य अतीत की घोषणा और वर्तमान की करुणा, इन्हीं का गान हमें आता है। बस यह भी एक भाँग-गाँजे की तरह नशा है।'

कहानी के अन्त में 'प्रसाद' अतीत-जीवी कलाकार के दृष्टिकोण से ऊपर उठकर सार्वभौमिक मानवता का संदेश देते हैं। शिल्पी कहता है—'आप लोग अमीर आदमी हैं। अपने कोमल श्रवणेन्द्रियों से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुन लेते हैं और उसकी पुकार में दत्तचित्त हो जाते हैं। करुणा से पुलकित होते हैं। किन्तु क्या कभी दुःखी हृदय के नीरव क्रन्दन को भी अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रियों से सुनने देते हैं, जो करुणा का काल्पनिक नहीं वास्तविक रूप है। 'गूदड़सांई' का अद्वैत भाव रामभक्त का रूपक है, जो बालकों में परमात्मा के

दर्शन करता है। 'कला' में कला के दो पक्षों—रूप और रस—की विवेचना है। रसमयी भावुकता का नाम ही कला है। उसी में उच्चतम संगीत प्रगट होता है। कला के बाहरी उपकरण उसके रूप को सजाते हैं, रस कला की आत्मा का पोषण करता है। 'बैरागी' कहानी की युवती सच्चे त्याग की प्रतीक है और 'ज्योतिष्मति' में सच्चे प्रेम-भाव की व्याख्या है। प्रेम हमें नई दृष्टि प्रदान करता है, परन्तु यह दृष्टि निश्चल प्रेम से ही आ सकती है। वासना के स्पर्श से ही प्रेम की ज्योतिष्मती लता मुरझा जाती है। 'प्रलय' और 'कला' को छोड़कर ये प्रतीकात्मक कहानियाँ अधिक उत्कृष्ट नहीं हैं। वास्तव में इस प्रकार की कहानियों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। संसार के साहित्य में ही इस तरह की कहानियाँ बहुत थोड़ी हैं।

(छ) **मनोवैज्ञानिक या चरित्र-प्रधान कहानियाँ**—'प्रसाद' की कहानियों में मनोवैज्ञानिक या चरित्र-प्रधान कहानियाँ अधिक नहीं है। 'आँधी' और मधुआ को ही हम इस श्रेणी में रख सकते हैं। 'प्रसाद' की अधिकांश कहानियाँ काव्यमय और भाव-प्रधान या घटनाप्रधान हैं। चरित्र-प्रधान कहानियों की ओर उनका ध्यान अधिक नही गया। हिन्दी-साहित्य में चरित्र प्रधान कहानियाँ प्रेमचन्द ने ही लिखी हैं। आधुनिक समीक्षक चरित्र-प्रधान कहानी या मनोवज्ञानिक कहानी को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, परन्तु मनोविज्ञान 'प्रसाद' का शक्तिशाली अंग नहीं है।

(ज) **आदर्शवादी कहानियाँ**—इनकी संख्या भी अधिक नहीं है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' में इस कोटि की पाँच कहानियाँ मिलती हैं। ये है विजय, व्रतभंग, अमिट स्मृति, नीरा और अनबोला। इन कहानियों में जीवन की किसी-न-किसी आदर्श स्थिति की कल्पना मिलेगी, परन्तु कला के दृष्टिकोण से ये आदर्शवादी कहानियाँ भी स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) कहानियों के अन्तर्गत आती हैं। आलोचकों ने आदर्शवादी कहानियों की अत्यन्त व्यापक व्याख्या की है और स्वच्छंदतवादी प्रेम-रोमांस की कहानियाँ भी आदर्शवादी कहानियों के भीतर ले ली है।

(झ) **समसामयिक कहानियाँ**—'प्रसाद' प्रेमचन्द की भाँति समसामयिक जीवन के कलाकार नहीं हैं। केवल 'विरामचिन्ह' या 'सलीम' ही ऐसी दो कहानियाँ हैं जिनमें सामयिक जीवन का कोई चित्र मिलता है। इनमें सलीम तो प्रेम-रोमांस ही अधिक है। 'विराम-चिन्ह' महात्मा गांधी के १९३२ ई० के हरिजन-आन्दोलन से प्रभावित है। इसमें मन्दिर-प्रवेश-आन्दोलन का एक चित्र मिलता है।

(ञ) **प्रागैतिहासिक कहानी**—प्रागैतिहासिक जीवन की केवल एक कहानी 'चित्रमन्दिर' है, इसे हम रायकृष्णदास की प्रसिद्ध कहानी 'अन्तःपुर का आरम्भ' के साथ रख सकते हैं।

'प्रसाद' की ७१ कहानियों का यह वर्गीकरण है। यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद'

की अधिकांश कहानियाँ प्रेमरोमांस, इतिहास, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, स्वच्छंदतावाद और आदर्शवाद से संबंधित है। ऐसी कहानियों में भाषा की चित्रमयता और कल्पना के काव्यमय उत्कर्ष के लिए काफी स्थान रहता है। 'प्रसाद' मूलतः कवि और भावुक हैं। मनोविज्ञान और चारित्रिक उथल-पुथल की उनकी पकड़ उतनी अच्छी नहीं है। इसी से वह जीवन की भावुक परिस्थितियों के सफल चित्रकार हैं। द्वन्दात्मक स्थिति के सामने उनकी प्रतिभा मौन हो जाती है। यही कारण है कि यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक कहानियों की संख्या अधिक नहीं है और ये कहानियाँ भी मुख्यतः स्वच्छंदतावादी भंगिमाओं पर आश्रित हैं। कंजरों, आफरीदियों, पठानों, धींवरों, गूजरों और देवमन्दिरों से सम्बन्धित कहानियों को हम यथार्थवादी कहानियाँ नहीं कह सकते। ये विशेष जीवन के चित्र चाहे जितने भी सूक्ष्म बन पड़े हों, सामान्य जीवन के चित्रों का स्थान नहीं ले सकते। सामान्य जीवन से भाग कर ही कलाकार जीवन के उपेक्षित, सुदूर और नगण्य क्षेत्रों में प्रवेश करता है। फिर यह कोई लांक्षा की बात भी नहीं है। कला के लिए सम्पूर्ण जीवन, उसकी सम्भावनाएँ, उसके संकल्प-विकल्प एक ही प्रकार सत्य हैं। मानवता का उपासक कलाकार जीवन की मूलभूत इकाइयों से परिचित होता है। प्रेम और द्वेष, दुःख और सुख, आशा-निराशा, जीवन-मरण, चारित्रिक पतन और उत्थान उसके उपकरण हैं और सब देशों और सब कालों में ये प्रकरण समान रूप से सत्य रहे हैं। 'प्रसाद' की कहानियों में येही मूलभूत इकाइयाँ सत्य को प्राप्त कर सकी हैं। येही मूलभूत जीवन-संवेदन उनका खाद्य-मधु हैं, अति-सामान्य और नगण्यतम मनुष्यों में भी भावना और मानवता का सर्वोच्च विकास दिखाकर 'प्रसाद' ने मानव-जीवन की तात्विक और संवेदनीय एकता की ही घोषणा की है।

अधिकांश कहानियों में एक पक्ष प्रेम का भी है—कुछ तो केवल मात्र प्रेम के किसी पक्ष को लेकर ही चलती हैं। जीवन में रागात्मिका वृत्ति ही सबसे अधिक व्यापक है, 'प्रसाद' ऐसा मानकर चले हैं। इसीलिए उन्होंने स्त्री-पुरुष के प्रेम के पक्ष के अतिरिक्त भी अन्य पक्षों का आविष्कार किया है। 'जहाँआरा' कहानी में पिता के संतान-प्रेम के प्रति अपूर्व श्रद्धा प्रगट की गई है। 'गूदड़साँई' और 'अघोरी के मोह' में बच्चों के प्रति वात्सल्य भाव का बहुत आकर्षक चित्रण है। साँई बैरागी हैं—माया नहीं, मोह नहीं। बच्चों से बड़ा स्नेह, डाँट-फटकार-की जरा भी चिंता नहीं। लड़के गूदड़ छीनकर दौड़ते हैं तो साँई उनके पीछे-पीछे है। यह छीन-झपट का कौतुक बराबर चला करता है। एक दिन इसी तरह गूदड़ छीनते-भागते समय दौड़ते-दौड़ते साँई को ठोकर लगी। वह गिर पड़ा। सिर से खून बहने लगा। मोहन के पिता ने उस नटखट लड़के को पकड़ लिया और मारने लगे।

'मत मारो, मत मारो। चोट आती होगी!' साँई ने कहा—और लड़के को छुड़ाने लगा। मोहन के पिता ने, सांई से पूछा—'तब चीथड़े के लिए दौड़ते क्यों थे?'

सिर फटने पर भी रुलाई नहीं आई थी, वही सांई लड़के को रोते देख कर रोने लगा। उसने कहा—'बाबा मेरे पास दूसरी कौन वस्तु है, जिसे देकर इन 'राम-रूप' भगवान् को प्रसन्न करता?

'तो क्या तुम इसलिए गूदड़ रखते हो?'

'इस चीथड़े को लेकर भागते हैं भगवान् और मैं उनसे लड़कर छीन लेता हूँ, रखता हूं फिर उन्हीं से छिनवाने के लिए; उनके मनोविनोद के लिए। सोने का खिलौना तो उचक्के भी छीनते हैं, पर चीथड़ों पर भगवान ही दया करते हैं। 'अघोरी के मोह' में इसी भाव की पुनावृत्ति है। प्रेम का इससे अधिक निःस्वार्थ और व्यापक रूप और क्या होगा?

देश-प्रेम का भाव अनेक कहानियों का विषय है। ऐतिहासिक कहानियों में रूपमोह और देश-प्रेम का संघर्ष अत्यन्त स्पष्टता से चित्रित है; परन्तु कहीं-कहीं सम-सामयिक पृष्ठभूमि पर भी उसकी सुन्दर व्यंजना है। 'पुरस्कार', 'नूरी', और 'गुंडा' जैसी उत्कृष्ट कहानियाँ देश-प्रेम का आधार लेकर ही चलती है। 'पुरस्कार' में कोशल के सेनापति सिंहमित्र की कन्या मधूलिका और मगध के राजकुमार अरुण की प्रेम-कहानी है। वर्षों के बाद राजकुमार जब कोशल के विरुद्ध अभियान की तैयारी करता है और पथिक के रूप में मधूलिका का आश्रय प्राप्त करता है तो उसके हृदय में भीषण द्वन्द मच जाता है। अरुण के कहने से वह महाराज से दक्षिण नाले के आस-पास की बनभूमि माँग लेती है, परन्तु जब अरुण के सैनिक दुर्ग की ओर बढ़ते हैं तो उसका मन पश्चाताप से भर जाता है। वह स्वयं गिरती-पड़ती नगर की ओर चल पड़ती है, परन्तु अरुण के बन्दी होने पर जब महाराज पुरस्कार माँगने का आग्रह करते हैं तो वह प्राणदण्ड का अनुरोध करती हुई बन्दी अरुण के पास जा खडी होती है। मधूलिका का अन्तर्द्वन्द इस कहानी का प्राण है और इस अन्तर्द्वन्द को लेखक अत्यन्त कुशलता पूर्वक अंकित करने में पूर्णतः सफल हुआ है। 'नूरी' में मुगल-कालीन चित्र हैं, परन्तु वैभव और विलास की चित्रपटी पर काश्मीर के शाहजादे याकूबखाँ के देश-प्रेम और बलिदान की कहानी भी अंकित है। अकबर काश्मीर को हड़पने की चाल चल रहा था, इसलिए याकूब ने उसकी हत्या के लिए आयोजन किया। नूरी काश्मीर की दुलारी थी, परन्तु अकबर के हरम में दासी बनकर दिन बिता रही थी। याकूब नूरी के रूप-यौवन पर मुग्ध हो गया परन्तु अन्त में उसने देश को प्रेम से कहीं ऊँचा स्थान दिया। उसे इसका भयंकर मूल्य चुकाना पड़ा। उसने अकबर के सामने तलवार उठाई और लड़ा भी—परन्तु इसके बाद बिहार के भयानक तहखाने में उसके जीवन का अमृत सूख गया। कहानी का अन्त अत्यन्त

संसार की श्रेष्ठतम कहानियों में गिनी जा सकती हैं। प्रेम के और भी अनेक चित्र हैं। आदि नारी और आदि पुरुष का प्रेम-प्रदर्शन 'चित्रमंदिर' नाम की कहानी में हुआ है। रायकृष्णदास की 'अन्तःपुर का आरंभ' कहानी इसके समकक्ष रखी जा सकती है। दाम्पत्य जीवन के प्रेम और चुहल की भी 'प्रसाद' ने उपेक्षा नहीं की है। जीवन के इस अंग से वह पूर्णतः परिचित थे। 'कलावती की शिक्षा' कहानी में उन्होंने आधुनिक पतियों की खोज की बड़ी सुन्दर खिल्ली उड़ाई है। 'सहयोग' और 'सलीम' में भी दाम्पत्य-जीवन के चित्र हैं।

प्रेम के क्षेत्र में 'प्रसाद' जातिवर्ण का कोई भी बंधन मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने नारी के लिए स्वतत्र प्रेम का अधिकार माँगा है। उसे वह मानव-स्वतंत्रता का सबसे बड़ा प्रतीक मानते हैं। इसीलिए उन्होंने ऐसी अनेक कहानियों की सृष्टि की है जिनमें सामाजिक क्रांति के बीज सन्निहित हैं। 'विजय' कहानी में उन्होंने हिंदू विधवा के प्रेम और पुनर्विवाह की समस्या की ओर संकेत किया है। 'नीरा' कहानी में अभिजात्य की भावना पर तीखा व्यंग है। इसमें उन्होंने ऐसे पात्र का निर्माण किया है जो समाज की रूढ़ियों की अवहेलना करके निम्न श्रेणी की कन्या से प्रेम कर सकता है। प्रेम ही नहीं, पाणिग्रहण भी। उनकी कुछ कहानियों में समाजवहिर्भूता नारियों का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि वेश्याएं भी सात्विक प्रेम कर सकती हैं और अवसर मिलने पर सफल पत्नी के रूप में कार्यभार सँभाल सकती हैं; 'चूड़ीवाली' और 'सालवती' कहानियों में यही इंगित है। 'सिकन्दर की शपथ' और 'अशोक' जैसी कहानियों में प्रेम के निम्न, वासनायम रूप का चित्रण भी मिलेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रेम जैसी व्यापक वृत्ति का अनेक-रूपी चित्रण उनकी कहानियों में मिलेगा।

परंतु केवल वर्गीकरण से 'प्रसाद' की इन प्रेममूलक कहानियों की संपूर्ण सुषमा सामने नहीं आती। इन कहानियों में से पुरस्कार, इंद्रजाल, आँधी, ग्रामगीत, आकाशदीप, स्वर्ग के खंडहर में, देवदासी, गुंडा, सलीम, सालवती, चित्रमंदिर, नूरी निश्चित रूप से 'प्रसाद' की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में आयेंगी। इन कहानियों को छोड़ दें तो केवल आठ-दस अन्य कहानियाँ ही ऐसी रह जाती हैं जो इस कोटि की हों। उनका संविधान, कथा-सौष्ठव, विदग्ध वार्तालाप, साँकेतिक चित्रण, उनकी भाषा-शैली की सुषमा, उनका स्वच्छंदतावादी वातावरण सचमुच अपूर्व है। कवित्वपूर्ण भाषा-भंगिमा और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्र में उनका जोड़ ही नहीं। 'आकाशदीप' में हमें इस प्रौढ़त्व के पहली बार दर्शन होते हैं, 'आँधी' और ,इंद्रजाल' में वह और भी प्रौढ़ हैं। ये कुछ प्रकृति-चित्र देखिए—

संध्या आ गई। नक्षत्र ऊँचे आकाशगिरि पर चढ़ने लगे। आलिगन के

लिए उठी हुई बाहें गिर गईं। इस दृश्य-जगत के उस पार से, विश्व के गंभीर अन्तस्तल से एक करुणा और मधुर आर्तनाद गूंज उठा।'

—'चित्रमंदिर'

'श्यामा सघन, तृण-संकुल शैलमंडप पर हिरण्यलता तारा के समान फूलों से लदी हुई मंद मारुत से विकंपित हो रही थी। पश्चिम में निशीथ के चतुर्थ प्रहर में अपनी स्वस्थ किरणों से चतुर्दशी का चंद्रमा हँस रहा था। पूर्व में प्रकृति अपने स्वप्न-मुकुलित नेत्रों को आलस से खोल रही थी। बनलता का बदन सहसा खिल उठा। आनन्द से हृदय अधीर होकर नाचने लगा। वह बोल उठी—'यही तो है।'

'ज्योतिष्मती'

शैलमाला की गोद में वह समुद्र का शिशु कलोल करता, उस पर से अरुण की किरणें नाचती हुई अपने को शीतल करती चली जातीं। मध्याह्न में दिवस ठहर जाता—उसकी लघु वीचियों का क्रन्दन देखने के लिए। संध्या होते उसके चारों ओर के वृक्ष उसे अपनी छाया के अंचल में छिपा लेना चाहते, परंतु उसका हृदय उदार था, मुक्त था, विराट् था। चाँदनी उसमें अपना मुँह देखने लगती और हँस पड़ती।

— 'रमला'

'कोमल आतप गंगा ने शीतल समीर में अभी ऊष्मा उत्पन्न करने में समर्थ था। नवीन किसलय उससे चमक उठे थे। बसंत की किरणों की चोट से कोंपल कुहुक उठी। आम की कैरियों के गुच्छे हिलने लगे। उस आम की बारी में माधव ऋतु का डेरा था और श्यामा के कमनीय कलेवर में यौवन का।

—'प्रतिध्वनि'

कहीं-कहीं यह प्रकृति-चित्रण भावगुंफन के साथ-साथ चलता है अथवा भाव को बल देता है और तब 'प्रसाद' की कलम और भी मार्मिक हो जाती है। 'बनजारा' कहानी में निशाशेष की इस पृष्ठभूमि का सौन्दर्य साधारण कलाकार के बूते का काम नहीं था।

'धीरे-धीरे रात खिसक चली, प्रभात के फलों से तारे चू पड़ना चाहते थे। विंध्य की शैलमाला में गिरिपथ पर एक झुंड बैलों का बोझ लादे चला आता था। साथ बनजारे उनके गले की घंटियों के मधुर स्वर में अपने ग्रामगीतों का आलाप मिला रहे थे। शरद ऋतु की ठंड से भरा हुआ पवन उस दीर्घ पथ पर किसी को खोजता हुआ दौड़ रहा था। वे बनजारे थे। उनका काम था सरगुजा के जंगलों में जाकर व्यापार की वस्तु क्रिय-विक्रय करना। प्रायः बरसात छोड़कर वे आठ महीने यही उधम करते थे। उस परिचित पथ पर चलते हुए वे अपने परिचित गीतों को कितनी ही बार उन पहाड़ी चट्टानों से टकरा चुके थे। उन गीतों में आशा,

उपालंभ, वेदना और स्मृतियों की चोट, ठेस और उदासी भरी रहती थी। सबसे पीछे चलने वाले युवक ने अभी अपने आलाप को आकाश में फैलाया था उसके गीत का अर्थ था—मैं बार-बार लाभ की आशा से लादने आता हूं, परन्तु हे उस जंगल की हरियाली में अपने यौवन को छिपाने वाली कोलकुमारी, तुम्हारी वस्तु बड़ी मंहगी, हैं, मेरी सब पूंजी भी उसका क्रय करने के लिए पर्याप्त नहीं। पूंजी बनाने के लिए मैं व्यापार करता हूं। एक धनी होकर आऊंगा, परन्तु विश्वास है कि तब भी तुम्हारे सामने रंक ही रह जाऊंगा। 'बिसाती' कहानी में हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा के बीच में शीरीं का यह सौंदर्यमय रूप है। उद्यान की शैल-माला के नीचे एक हरा-भरा छोटा सा गाँव है। वसन्त का सुन्दर समीर उसे आलिंगन करके फूलों के सौरभ से उसके झोंपड़ों को भर देता है। तलहटी के हिमशीतल झरने उसको अपने बाहुपाश में जकड़े हुए हैं। उस रमणीय प्रदेश में एक स्निग्ध संगीत निरंतर चला करता है जिसके भीतर बुलबुलों का निनाद कंप और लहर उत्पन्न करता है। दाड़िम के लाल फूलों की रंगीली छाया संध्या की अरुण किरणों से चमकीली हो रही थी। शीरीं उसी के नीचे शिलाखंड पर बैठी हुई सामने गुलाबों के झुरमुट को देख रही थी, जिसमें बहुत से बुलबुल चहचहा रहे थे। वे समीरण के साथ भूल-भुलैया खेलते हुए आकाश को अपने कलरव से गुंजरित कर रहे थे।—शीरीं ने सहसा अपना अवगुंठन उलट दिया। प्रकृति प्रसन्न हो हँस पड़ी। गुलाबों के दल में शीरीं का मुख राजा के समान सुशोभित था। मकरंद मुँह में भरे दो नील भ्रमर उस गुलाब से उड़ने में असमर्थ थे। भौरों के पर निस्पंद थे। कटीली झाड़ियों की कुछ परवाह न करते हुए बुलबुलों का उनमें घुसना और उड़ भागना शीरीं, तन्मय होकर देख रही थी।

यह स्पष्ट है कि यह वर्णन-कला प्रेमचन्द की कला से भिन्न है। प्रेमचन्द का ध्यान मनुष्य के कार्यव्यापार, उनके मनस्तत्त्व और उसके बौद्धिक उन्मेष पर केन्द्रित रहता है। 'प्रसाद' भावना के चित्रकार हैं। वह प्रकृति और मानव को समष्टि रूप में लेते हैं। उनके लिए मानव-हृदय का चित्रण ही सार-चित्रण है और उसमें जो अनेक भावलहरियाँ उठा करती हैं वे इतनी सूक्ष्म और संश्लिष्ट हैं कि वणिकवृत्ति से उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता। कामकाजी बुद्धि के फेर में उनकी अवहेलना करना सत्य की अवहेलना करना है।

'प्रसाद' की कहानियों में वैभव और विलास का बड़ा सूक्ष्म चित्रण है। जीवन के रोमांचक क्षणों को उन्होंने कवि-दृष्टि से पकड़ा है और चित्रकार की वैभव पूर्ण कलम से उन्हें चित्रपटी पर उतारा है—'व्रतभंग' में दम्पति की यह कोमल चुहल देखिए —'राधा के नवीन उपवन में सौध मंदिर में अगर, कस्तूरी और केशर की पहल-पहल, पुष्पमालाओं का दोनों सध्या में नवीन आयोजन और दीपावली में

वीणा, वंशी और मृदंग की स्निग्ध गंभीर ध्वनि बिखरती रहती। नंदन अपने सुकोमल आसन पर लेटा हुआ राधा का अनिंद्य सौन्दर्य एकटक चुपचाप देखा करता। उस सुसज्जित प्रकोष्ठ में मणि-निर्मित दीपाधार की यंत्रमय नर्तकी अपने नूपुरों की झंकार से नंदन और राधा के लिए एक क्रीड़ा और कुतूहल का सृजन करती रहती। नंदन कभी राधा के सिसकते हुए उत्तरीय को संभाल देता। राधा हंस कर कहती— बड़ा कष्ट हुआ। नंदन कहता—देखो, तुम अपने प्रसाधन में पसीने-पसीने हो जाती हो, तुम्हें विश्राम की आवश्यकता है। राधा गर्व से मुस्करा देती। कितना विश्वास था उसको अपने सरल पति पर और कितना अभिमान था, अपने विश्वास पर। एक सुखमय स्वप्न-चक्र रहता है। उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक चित्र मिलेंगे। 'प्रसाद' ने भारत के गौरवमय ऐश्वर्यपूर्ण अतीत का पुनरुद्धार किया है और उनकी आँखों में वही सपना झूल उठा है जो कभी कालिदास की आँखों में झूला था। इसे केवल वर्तमान की कठोरता के प्रति पलायन-भाव नहीं कहा जा सकता।

इन कहानियों में अंतर्द्वन्द का भी बहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। अनेक पात्र भावावेष के अन्यतम क्षणों में हमारे सामने आते हैं। उनके भीतर के रागद्वेष, हर्ष-विषाद और छाया-प्रकाश को वाणी का रूप देना सरल नहीं है परन्तु 'प्रसाद' की 'प्रसाद' कहानी में ऐसी क्षमता है कि पात्रों का अंतः संघर्ष हमारे सामने एकदम सजीव हो उठता है। 'आकाशदीप' कहानी में बुद्धगुप्त और चंपा के द्वन्द-प्रणय को 'प्रसाद' ने किस सूक्ष्मता से उभारा है। बुद्धगु त के प्रति चंपा कृतज्ञ है, उसे उससे प्रेम है, परन्तु यही दस्यु उसके पिता का भी घातक है। अतः भावनाओं का उत्थान-पतन इस कहानी की विशेषता है और उसके स्पष्टीकरण में लेखक को सफलता मिली है।

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो···! कहो चम्पा, वह कृपाण से अपना हृदय-पिंड निकाल कर अपने हाथों अतल जल में विसर्जन करदे!" महानाविक—जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूंजता था सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर हरियाली के विस्तृत जलप्रदेश में, नील-पिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष स्निग्ध हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त ने दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ।

जैसे क्षितिज में आकाश और सिंधु का किंतु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चंपा ने अपनी कंचुकी से एक कृपाण निकाल लीं।

"बुद्धगुप्त ! आज मैं अपनी प्रतिशोध की कृपाण अतल जल में डुबा देती हूं। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया !" चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधती हुई विलीन हो गई।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ कि मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य-कंपित कंठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास ? कदापि नहीं, बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूं ! मैं तुमसे घृणा करती हूं, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु ! मैं तुम्हें प्यार करती हूं।"—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्यातमा से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—'इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनवाऊंगा, चम्पा ! यहीं ! उस पहाड़ी पर ! सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय।"

भावगुंफ-प्रकाशन की यह कला 'प्रसाद' की अपनी चीज़ है। चारित्रिक भावात्मक द्वन्द कथालेखक के प्राण हैं। इनमें सफलता-असफलता उसकी कला की सफलता-असफलता है। 'प्रसाद' का ध्यान भावात्मक द्वन्द की ओर अधिक है। केवल-मात्र चारित्रक द्वन्द को लेकर वह नहीं चलते। परन्तु भावद्वन्द में ही चारित्रिक द्वन्द तक पहुँचते हैं, वह कवि की तरह भावनाओं के घात-प्रतिघात के सूक्ष्मतम सुनहरी ताने-बाने नहीं बुनते। इसी से उनकी कला में एक प्रकार की रुक्षता है। 'प्रसाद' की कहानियाँ हमें अपनी भावधारा में डुबा नहीं ले जातीं।

परन्तु कुछ कहानियों में 'प्रसाद' ने प्रेमचन्द के क्षेत्र को भी छुआ लिया है और यह दिखा दिया है कि सच्चे कलाकार के लिए जीवन का कोई कोना अछूता नहीं रहता और उसकी कला 'वादों' के भीतर सिमट कर नहीं बैठ जाती। 'सलीम', 'मधुआ', 'भिखारिन', 'घीसू', 'बेड़ी', 'छोटा जादूगर', 'परिवर्तन', 'सन्देह', 'भीख में', विराम-चिन्ह' और कुछ कहानियों में वह विराट मानव-भाव को लेकर चले हैं और रोमांस की दुनियाँ से नीचे उतर कर उन्होंने अपने चारों ओर के दुःख-पीड़ा भरे सन्सार को देखा है। इन कहानियों में वे जीवन के आलोचक बन गये हैं और उनकी कला ने वस्तुवादी रूपरेखाएँ इकट्ठी कर ली हैं। लगता है जैसे यह दूसरी ही कलम है। सब कुछ इस प्रकार बदला हुआ है कि आश्चर्य होता है। इन कहानियों में दीनों-उपेक्षितों-पीड़ितों के साथ बैठ कर कवि-कहानीकार ने उनके जीवन के कठोर-नर्म क्षणों का

विश्लेषण किया है और यह अभिव्यंजित किया है कि भाव के क्षेत्र में कोई भी छोटा-बड़ा नहीं है। नई भावना-शैली की छटा देखने योग्य है।

देवमंदिर के सिंहद्वार से कुछ हट कर वह छोटी-सी दूकान थी। सुपारी के घने कुंज के नीचे एक मैले कपड़े के टुकड़े पर सूखी हुई घास में तीन-चार केले, चार कच्चे पपीते, दो हरे नारियल और छः अण्डे थे।

—'विरामचिन्ह'

परन्तु इससे भी अधिक आकर्षक है जीवन के प्रति नई दृष्टि, नई भावभंगी इन खंडचित्रों में हमें अपने प्रतिदिन के अनुभव इस कुशलता से उपस्थित मिलते हैं कि हमें क्षोभ होता है कि इनको हमने इस प्रकार क्यों नहीं देखा। जीवन के प्रति एक तेजपूर्ण सम्वेदना इन कहानियों का लक्ष्य है—आप क्षण भर ठहर-कर सोचें और कुछ करने के लिए कटिबद्ध हों, उदाहरण के लिए हम 'बेड़ी' कहानी को ले सकते हैं। कहानी कितनी-सी है! सूरदास के साथ ९-१० वर्ष का एक लड़का है। पूछने पर वह कहता है— 'बाबू जी, यह मेरा लड़का है। मुझ अन्धे की लकड़ी है। इसके रहने से पेट भर खाने को माँग सकता हूं और दबने-कुचलने से भी बच जाता हूं।' फिर एक दिन मालूम होता है कि वह लड़का कलकत्ता भाग गया है। कई महीने बीतने पर चौक में वही बूढ़ा फिर दिखाई पड़ा। उसकी लाठी पकड़े वही लड़का अकड़ा हुआ खड़ा था। पूछने पर बुड्ढा बोला—बाबू जी, अब यह नहीं भाग सकेगा, इसके पैरों में बेड़ियाँ डाल दी गई हैं। सचमुच, बालक के पैरों में बेड़ियाँ थीं। हे भगवान, भीख मँगवाने के लिए, पेट के लिए, बाप अपने बेटे के पैरों में बेड़ी भी डाल सकता है। संसार, तेरी जय हो!—और फिर एक दिन दो पैसे के कचालू के लिए लड़ता-झगड़ता वह बालक जब पैसे लेकर कचालू खाने चला, तो नवीन बाबू की मोटर के नीचे आ गया। पैर की बेड़ियों ने उसके प्राण ले लिए। बुड्ढा चिल्ला-चिल्ला कर रो र ा था—काट दो बेड़ी। बाबू मुझे न चाहिए। परन्तु बालक के प्राण-पखेरू अपनी बेड़ी काट चुके थे। यह संसार ही कुछ ऐसा है। मनुष्य का स्वार्थ ही सबसे ऊपर है वह अपने स्वार्थ के लिए परोपकार का नाम लेकर दूसरे की हत्या करने में भी समर्थ है। इस कहानी में कुछ न कह कर, केवल चित्रण-मात्र के द्वारा 'प्रसाद' ने दीन-हीन बालकों के लिए जो दावा खड़ा किया है वह सौ व्याख्यानों से अधिक सशक्त है। जिस देश में दरिद्रता और स्वार्थ-साधना की यह सीमा पहुँच गई हो उसके लिए कितना-कुछ करना-धरना होगा। यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' केवल अतीतजीवी ही नहीं थे। उन्होंने वर्तमान के प्रश्नों का समाधान अतीत में ढूंढा और वर्तमान को एक बड़े सशक्त प्रश्नचिन्ह की तरह हमारे सामने खड़ा किया। ऐसी ही एक दूसरी कहानी 'छोटा जादूगर' है जिसमें

'प्रसाद' ने देश के लाखों अनाथ बालक-बालिकाओं की ओर सहानुभूति और गर्व की उंगली उठाई है। एक छोटे से बालक के चरित्र में 'प्रसाद' ने साहस, आशावाद और कर्मण्यता का वह जादू गूंथ दिया है कि वह हमें चमत्कृत कर देता है। इस देश में जहाँ एक ओर वैभव और विलास की नदियाँ बह रही हैं, वहाँ दूसरी ओर है अपार दारिद्रय। परन्तु वैभव और विलास की चमक-दमक में हम जीवन के निचले तत्त्वों पर रहने वाले असंख्य प्राणियों को भूल जाते हैं। इस कहानी के द्वारा कहानीकार ने इन असंख्य दुःखी प्राणियों के प्रति सहानुभूति दिखाने में अपनी भावुक संवेदना का उपयोग किया है। कहानी प्रथम पुरुष मे लिखी गई है जिससे उसकी मार्मिकता और भी बढ़ गई है। इसमें संदेह नहीं कि 'इन्द्रजाल' की कहानियों मे 'प्रसाद' जीवन के छोटे-बड़े सुखों-दुःखों को चित्रित करने की नई कला का आविष्कार कर रहे थे। ये कहानियाँ 'कंकाल' की याद दिलाती हैं। यह ठीक है कि उनकी इन मार्मिक कहानियों में चित्र बोलते हैं, उपदेश नहीं बोलते। 'प्रसाद' कथाकार की सीमाएँ जानते हैं। वह कला को उपयोगितावाद के आगे रखते हैं, उसके पीछे-पीछे नही चलते। एक तरह से उनके व्यक्तित्व ने अतीत और वर्तमान, पुरातन और नूतन, रोमांस और यथार्थ को एक ही आलिंगन में समेट लिया है और इसी से वह ऐसी विशिष्ट कला-सृष्टियों को जन्म दे सके हैं जो नाम-रूप की रेखाओं में नहीं बँधतीं। उन्होंने अपनी कोमल संवेदना से पत्थर का रोना, लहरों का संगीत, पवन की हँसी इत्यादि कितनी सूक्ष्म बातें सुनी हैं, परन्तु दुःखी हृदय के तीव्र क्रन्दन को भी अन्तरात्मा की श्रवणेन्द्रिय से सुना है। यह करुणा का काल्पनिक नहीं, वास्तविक रूप है। उनका साहित्य अतीत और करुणा के दो विशिष्ट अंगों को लेकर चलता है। अतीत का अर्थ है स्वच्छंदतावादी रूप, करुणा का अर्थ है साहित्य का वस्तु प्रधान दुःखवादी रूप। दोनों रूपों में 'प्रसाद' की कथा अनुपम रस की सृष्टि कर सकी है। जो भावना-विलास, जो बुद्धि-वैभव, जो काव्य-सौष्ठव और जो संगीत उनकी रचनाओं में है वह हिन्दी के कितने कहानीकारों की रचनाओं में मिलेगा ?

# प्रसाद का चरित्र-चित्रण

प्रसाद' के महाकाव्य 'कामायनी', उनके नाटकों और उनके कथा-साहित्य में अनेक पात्र आये हैं और उन्हें सुस्पष्ट व्यक्तित्व देने में 'प्रसाद' की चरित्र-चित्रण की विधायिनी प्रतिभा बहुत कुछ सहायक हुई है। इन पात्रों के अपने आदर्श हैं, अपने व्यवहार हैं। आज वे हमारे साहित्य की स्थायी निधि हैं। वह कागज़ से उतर कर घर के प्राणी बन गये हैं। 'प्रसाद' का यह कल्पना-जगत स्थूल जगत की विशेषताएं लेता हुआ भी उससे कहीं अधिक सुन्दर और सत्य है। इस जगत का अध्ययन किये बिना हम 'प्रसाद' के व्यक्तित्व और उनकी कलाविदग्धता से बहुत कुछ अपरिचित रह जाते हैं।

पात्रों का अध्ययन करते समय हम 'कामायनी', 'कामना', और 'एक घूँट' को बहुत कुछ छोड़ सकते हैं। इन तीनों में जो पात्र हमारे सामने आते हैं। वे भावनाओं और विचारों के प्रतीक-मात्र होते हैं और उनमें अपना कर्त्तत्व अधिक नहीं होता। 'कामना' प्रतीक नाटक है। इसके सारे पात्र मनोवृत्तियों के प्रतीक हैं। विलास, विवेक, संतोष, कामना, करुणा, लीला, विनोद—इनमें हाड़-माँस का क्या है ? इनके नाम से ही हम उनके रूप-रंग, उनके आदर्श और व्यवहार और उनके कर्तव्य से परिचित हो जाते हैं। फलतः चारित्रिक द्वन्द का वहाँ विकाश ही नहीं हो पाता। कठपुतलियों के छायानृत्य की तरह वह क्षण भर हमें सत्य का भ्रम दे सकते हैं, अधिक नहीं। यह अवश्य है कि 'कामना' में 'प्रसाद' ने कुछ कथा भी कही है और फलस्वरूप इन मनोवृत्तियों का व्यक्तित्व कुछ सुस्पष्ट हो गया है, परन्तु उनमें अपने प्राण फिर भी प्रतिष्ठत नहीं हो सके है। 'एक घूँट' के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। उसमें विशेष कथा है ही नहीं, कथा की नाटकीयता की बात तो अलग रही। इससे अधिकांश

पात्र विचारों के प्रतिनिधि या प्रचारक बनकर सामने आते हैं और अपना व्यक्तित्व विकसित नहीं कर पाते। यह स्पष्ट है कि जीवन की गम्भीर व्याख्या नाटक का विषय नहीं बन सकती। नाटक में नाटकत्व होना चाहिए, कर्तृत्व होना चाहिए। पात्र जो करें, उसी से उनके जीवन के प्रति दृष्टिकोण की व्याख्या हो। परन्तु 'प्रसाद' की इस रचना में ऐसा नहीं हो सका है। उसके पात्र केवल कठपुतली-मात्र हैं, उनके भीतर केवल विचार ही हैं, चरित्र नहीं। कुंजसुदक्ष प्रबन्धक और उत्साही युवक हैं। रसाल भावुक कवि है। बनलता कवि रसाल की पत्नी है और अपने पति की भावुकता से असंतुष्ट है। मुकुल उत्साही तर्कशील युवक है। उसके मन में कुतूहल है और उत्सुकता-भरी प्रसन्नता। प्रेमलता प्रेम और जिज्ञासा से भरी हुई कुमारी है। आनन्द स्वतन्त्र प्रेम का प्रचारक। नाटक में घात-प्रतिघात के अवसर ही नहीं आते। वैवाहिक जीवन और चिरकौमार्य के संबंध में तर्क-वितर्क चलते रहते हैं। यहाँ हमें अधिक से अधिक कुछ 'टाइप' मिल जाते हैं। इससे अधिक नहीं। 'कामायनी' को हम इन दो श्रेणियों के बीच में रख सकते हैं। उसमें कथा का रूप प्रतीक से भिन्न और स्वतन्त्र है। इस रचना में 'श्रद्धा' और 'इडा' के विरोधी चरित्रों के साथ 'प्रसाद' की नारी संबंधी भावना को समझने के बहुत कुछ बहुत सुन्दर सूत्र हमारे हाथ लग जाते हैं। 'कामायनी' में लज्जा नारी से कहती है :—

> **नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो—**
> **विश्वास-रजत-नग पगतल में**
> **पीयूष स्रोत-सी बहा करो**
> **जीवन के सुन्दर समतल में !**

श्रद्धा, त्याग और करुणा नारी के शक्तिस्रोत हैं। इन्हीं के बल पर वह पुरुष के हृदय पर शासन करती है और उसे विकास के पथ पर आगे बढ़ाती है। आत्मदान नारी का सबसे बड़ा संबल हैं। सच तो यह है कि यही नारीत्व है—कि

> **मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ**

संघर्ष और स्पर्द्धा का पथ नारी का प्रकृत पथ नहीं है। उसे तो—

> **आँसू के भीगे अंचल पर**
> **मन का सब कुछ रखना होगा।**

'कामायनी' में श्रद्धा इसी आदर्श नारी भाव का प्रतीक है। एक दूसरे प्रकार की भी नारी है जो लेना चाहती है, देना नहीं। अधिकार-लिप्सा उसका प्राण है। यह नारी नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरे हुए यौवन और विलास-इंगित द्वारा पुरुष को आकर्षित करती है। यह कलावती अपनी बुद्धिमत्ता पर गर्व करती है। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में श्रद्धा और इडा के रूप में इन दो नारियों की जीवन-

झाँकी हमें दी हैं। मनु श्रद्धा को छोड़ कर इडा की ओर बढ़ते हैं परन्तु अन्त में उन्हें श्रद्धा की ओर ही लौटना पड़ता है। आधुनिक नारी इडा का प्रतिरूप है। उसने विलास और ऐश्वर्य पर अपनी नारी-भावनाओं की बलि चढ़ा दिया है। परन्तु श्रद्धा के सेवाभाव से वह पराजित हो जाती है और उसे पता चलता है कि :—

**नारी माया-ममता का बल,**
**वह शक्तिमती छाया शीतल।**

यह ममतामयी, शक्तिमती नारी 'प्रसाद' के नाटकों में बार-बार हमारे सामने आती है। इसे 'प्रसाद' ने स्त्री-मात्र के श्रेष्ठ गुणों से विभूषित किया है। उसमें उन्हें स्त्री सुलभ संवेदना, कर्तव्यनिष्ठा और धैर्य के दर्शन होते हैं। उसमें एक अपूर्व स्निग्धता और सरलता का निवास है। उसका हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आश्रय है। स्नेह-विश्वास उसका प्राण है। कुलशीलपालन उसका परमोज्वल भूषण है। 'प्रसाद' यह मानते हैं कि नारी का हृदय करुणा का निर्झर है। वह यह समझ ही नहीं पाती कि इस कठोर संसार में उसके लिए कौन-सा मार्ग है। वह बाहर से तो कोमल है, परन्तु भीतर से भी वह कोमल है, क्योंकि गलिदाश्रु से उसका निर्माण हुआ है। वह किसी को आत्मसमर्पित हुए बिना रह ही नहीं सकती। 'नारी और लज्जा' के संलाप में 'प्रसाद' ने नारी की इस गलिदाश्रुता को गीत का विषय बनाया है।

परन्तु नारी का एक दूसरा पक्ष भी है और 'प्रसाद' उससे भी पूर्णतय: परिचित हैं। उनके नाटकों में ऐसी पात्रियों की कमी नहीं है जो नारी की विडम्बना-मात्र हैं, जिनमें सभी श्रेष्ठ नारी-गुणों का अभाव है। वह स्नेह से अधिक निश्चल, जल से अधिक तरल, परन्तु पत्थर से भी अधिक कठोर बन सकती हैं। वह दुर्भेद्य और रहस्यमय बनकर पहेलिका की सृष्टि भी कर सकती है। वह सौन्दर्यगर्विता है। वह प्राय: शीघ्र ही उत्साहित हो जाती है और उतने ही अधिक परिमाण में निराशावादिनी भी होती है। और भी अनेक दुर्बलताएं हैं जो नारी के संग जुड़ी हुई हैं और उसे अन्त मे पुरुष के खेलने की कठपुतली बना देती हैं। अनेक प्रकार के सामाजिक और आंतरिक निरोधों ने नारी के उपचेतन में युगों-युगों से जो बहुत-सा कूड़ा-करकट लाकर इकट्ठा किया है, उसे एकदम छोड़ देना उसके लिए असंभव है। फलत: 'प्रसाद' के नाटकों में ऐसी नारियाँ भी मिलती हैं जो नारी-मात्र के लिए लांछना हैं। उनमें ईर्ष्या, मद इत्यादि की प्रधानता है। 'स्कंदगुप्त' की विजया के शब्दों में—'हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनलशिखा से भी लहरदार होती है।' इस भाव को 'कामायनी' में इस प्रकार सूत्रबद्ध किया गया है :—

नारी का वह हृदय ! हृदय में
सुधा-सिंधु लहरें लेता।
बाड़व-ज्वलन उसी में जल कर
कंचन-सा जल रँग देता।
मधुपिंगल उस तरल अग्नि में,
शीतलता संसृति रचती।
क्षमा और प्रतिशोध ? आह
दोनों की ही काया नचती।

'क्षमा' और 'प्रतिशोध' नारी-जीवन के दो अंग हैं। दोनों में नारी महान् हो सकती है। यदि वासवी और मल्लिका महान् हैं तो विजया और अनन्तदेवी भी महान् है, यद्यपि दोनों प्रकार की महानता में भेद है। यह भेद है परिस्थितियों का। अपने मूल समझ से च्युत होकर नारी प्रलय-झंझा बन जाती है और परिवारों तथा राष्ट्रों को भस्म कर देती है। जहाँ नारी अतृप्त विलास और वासनामय जीवन अथवा अधिकार-माँगों के भँवरों में फँसी, वहां उसका कल्याणी मातृरूप नष्ट हुआ।

परन्तु यह भी सत्य है कि अपने नाटकीय रंगमंच पर विजयगर्व से भरी अनेक कुचक्री नारियाँ उतारने के बाद भी 'प्रसाद' का हृदय कुलवती गृहणी में ही आश्वस्त है, जो एक-मात्र पतिकुल की कल्याण-कामना से भरी हुई दिनांत में भी सबको खिला-पिला कर स्वयं यज्ञशिष्ट अन्न खाती हुई, उपालम्भ न देकर प्रसन्न रहती है—बाधा-विघ्न, रोग, शोक आपत्ति, सम्पत्ति सबसे अटल अपने सब अधिकार का उपभोग करने वाली—। "कामायनी" में इड़ा और श्रद्धा के रूप में कवि ने आधुनिक अधिकार लिप्त नारी और सेवाप्राणा प्राचीना का ही चित्र उपस्थित किया है। श्रद्धा की विजय हमारे प्राचीन आदर्शों की ही विजय है, परन्तु 'प्रसाद' रूढ़िवादी नहीं हो जाते युग-युग में पुरुष ने नारी के मंगल-रूप की अभ्यर्थना की है और उससे भाग कर पश्चाताप किया है। आहत मनु के मन में भी ऐसा ही चीत्कार उठा था। उन्होंने श्रद्धा से कहा था:—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु-रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था, तो
तुम उसमें संतोष बनीं।
कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना

संवेदनमय हृदय हुआ।
किन्तु अधम मैं समझ न पाया
उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ
हर्ष-शोक की छाया को।

यह मनु की ग्लानि नहीं है। यह इस सारे युग के मानव की, सारी संस्कृति की ग्लानि है जो नारी की मंगल-प्रतिभा की उपेक्षा करती है और हिंसा और क्रूरता का संबध लेकर चलती है।

नाटकों के पात्र-पात्रियों पर विचार करते हुए यह भी स्मरण रखना होगा कि ऐतिहासिक चरित्रों में नाटककार के हाथ बहुत कुछ बँधे रहते हैं। इतिहास में विशिष्ट घटनाओं के प्रति पात्रों की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार जड़ीभूत हो जाती है कि नाटककार अपनी ओर से अधिक जोड़ नहीं सकता। जिन पात्रों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक ज्ञान जितना अधिक है कि उनके संबंध में उतनी ही कठिनाई है। जहाँ इतिहास कम है, जहाँ उत्पाद्य की गुंजाइश है और नाटककार पात्रों की चरित्र-भंगिमा में अपनी ओर से अनेक रंग भर सकता है। 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों के संबंध में भी यह बात पूर्णतय: लागू है। नाटकों के अधिकांश पुरुष-पात्रों से इतिहास पूर्णत: परिचित है अत: 'प्रसाद' अपनी विधातृ प्रतिभा का विशेष प्रयोग नारी पात्रों के चरित्र-चित्रण में ही कर सके हैं। जिनके संबंध में इतिहास या तो एक दम मौन है या नामोल्लेख से आगे नहीं बढ़ता। फिर भी उन्होंने जाने-पहचाने ऐतिहासिक पात्रों के चरित्रों का विस्तार किया है और उनमें नये रूप-रंग भरे हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कथा-कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में वह बहुत कुछ स्वतंत्र हैं। 'इरावती' उनका ऐतिहासिक उपन्यास है, परन्तु यहाँ भी उन्हें अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता है क्योंकि मूल ऐतिहासिक इतिवृत्त इतना थोड़ा है कि दो-चार पृष्ठों से अधिक नहीं आता। यह अवश्य है कि जहाँ 'प्रसाद' की कल्पना स्वतन्त्र भूमि पर परिचालित होती है वहाँ वह कहीं अधिक श्रेष्ठ सृष्ठि निर्मित करने में सफल होती है।

'प्रसाद' के पात्रों की विविधता और अनेकरूपता विशेष रूप से आकर्षक है। उनकी संख्या उतनी नहीं जितनी रवि बाबू, प्रेमचन्द या शरत के पात्रों की, परंतु उनकी चित्रपटी अधिक व्यापक है। वेदों, पुराणों, इतिहासों, लोकगाथाओं, प्रेमाख्यानों और साहित्य के पृष्ठों को उन्होंने बड़े परिश्रम से टटोला है और जो हमें दिया है वह एकदम भव्य और नवीन है। विनोदशंकर व्यास ने लिखा है कि उनसे Lives by Plutarch (प्लूटार्च जीवनियाँ) नामक ग्रंथ लेकर 'प्रसाद' ने वर्षों रखा और अपना कर्तव्य समाप्त करते हुए मृत्यु-शय्या पर ही उसे लौटाया। यह ग्रन्थ शेक्सपिअर की

नाटक-कथाओं का आदिस्रोत है। शेक्सपियर कालिदास, राय राखालदास बन्दोपाध्याय, रवि बाबू और अनेकानेक संस्कृत कवियों-नाटककारों, पौराणिक साहित्य से 'प्रसाद' भली भांति परिचित थे। धम्मपद, उपनिषद, गीता और संतों के साहित्य की प्रतिध्वनियाँ उनकी सूक्तियों में बार-बार मिलती हैं। उनका अधिकांश जीवन काशी में बीता। ११-१२ वर्ष की किशोरावस्था में उन्होंने अमरकंटक, पुष्कर, उज्जैन, मथुरा, हरिद्वार आदि की यात्रा की थी। १९२९-३० में एक बार कलकता और पुरी हो आये थे और अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में मित्रों के बड़े आग्रह पर लखनऊ आ सके थे। परन्तु उनका अध्ययन विस्तृत था, उनकी कल्पना महती थी और अपने दैनदिन जीवन और संपर्कों से ही उन्होंने पात्र-पात्रियों की ऐसी सजीव चित्रपटी तैयार की है कि हमें उनकी प्रतिभा पर आश्चर्य होता है। उनके पात्रों में मनु, श्रद्धा, और मनु जैसी भावप्रतिमूर्तियाँ भी हैं, कृष्ण, बुद्ध, दाण्डायन, व्यास जैसे महान् चिंतक और देवोपम पुरुष भी हैं। स्कंद, चंद्रगुप्त, और सिंहरण जैसे वीर योद्धा भी हैं चाणक्य जैसे नीति-निपुण साम्राज्यनिर्माता को भी उन्होंने व्यक्तित्व दिया है और भटार्क, शर्वनाग जैसे कृतघ्नियों का चित्रांकन भी किया है। समसामकि सामाजिक भूमि पर भी अनेक वर्गों के चित्र उन्होंने खींचे हैं और गूजर, कंजर, बिसाती, जादूगर सभी उनकी रचनाओं में उभर आते हैं। कलकत्ते से खैबर की पहाड़ियों और लंका से मानसरोवर तक की महान् प्राकृतिक सुषमा उन्होंने अंकित की है और उसकी पृष्ठ भूमि में सेंकड़ों पात्रों को खड़ा किया है। राज्यश्री, देवसेना, मल्लिका, मालविका, कार्नेलिया, विजया, घंटी, यमुना (तारा), किशोरी, गाला, बंजों (तितली), शैला, चंपा, मालवती, रमला, नूरी, आदि न जाने कितनी नारीमूर्तियाँ हमें अपने चरित्र से चमत्कृत करती हुई सामने आती हैं। चरित्रों का यह अपार वैभव किसी नये साहित्यकार की रचना में मिलना कुछ असंभव है।

'प्रसाद' के चरित्र-चरित्र की एक और विशेषता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। वह प्रेमचन्द की तरह पात्र की बाह्य आकृति, उसके वेशविन्यास, उसके रूप-रंग के वर्णन में पृष्ठ नहीं भरते। उनका वर्णन एकांततः सांकेतिक होता है केवल एक-दो वाक्य पात्र की व्यक्तिगत विशेषता को इस सुन्दरता से पकड़ लेते हैं कि उसका संपूर्ण चित्र स्वतः उपस्थित हो जाता है। ये कथात्मक संकेत 'प्रसाद' की अपनी चीज हैं। केवल वाह्य रूप-रंग ही नही, उन कुछ शब्दों से पात्रों की अन्तः स्थिति का भी बोध हो जाता है। इसके लिए जिस भाषा-सौष्ठव, जिस कलाविदग्धता की आवश्यकता थी वह 'प्रसाद' में पूरी मात्रा में थी। थोड़े में बहुत कहने की जैसी सामर्थ्य उनमें थी वह बहुत कम कलाकारों में मिलती है। कहीं-कहीं उनकी इस शैली के कारण पात्रों का व्यक्तित्व कुछ रहस्यमय और अबूझ भी रह गया है, परंतु वह

अधूरापन, यह अस्पष्टता हमारी जिज्ञासा को उकसाती है और हमें चरित्र के नये प्रसंगों की ओर इंगित करती है। प्रेमचन्द की किसी भी कहानी को पढ़ कर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता, 'प्रसाद' की कहानी पढ़कर उसे फिर पढ़ने की इच्छा होती है, पात्रों के चरित्र की धूमिल रेखाएँ प्रत्येक बार नये आलोक से उद्भासित हो उठती जान पड़ती हैं। उनके पात्रों का कवित्वमय व्यक्तित्व, उनकी दार्शनिकता, उनका अबूझापन, उनकी कुछ खुली कुछ मुंदी भंगिमा उन्हें हमारे लिए सदैव आकर्षक बनाये रखती हैं।

अब हम पात्रों के विश्लेषण की ओर आगे बढ़ेंगे। कदाचित् ऐतिहासिक चरित्रों को पहले लेना वांछनीय होगा। ये चरित्र हमें ऐतिहासिक नाटकों (राज्यश्री, विसाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य, ध्रुवस्वामिनी), 'इरावती' उपन्यास और लगभग १८ ऐतिहाहिक कहानियों में मिलते हैं। ये पात्र विशुद्ध दृष्टि से ऐतिहासिक नहीं हैं, परन्तु कथावस्तु की ऐतिहासिकता और ऐतिहासिक पात्रों की संपूर्णता ने उन्हें लगभग ऐतिहासिक ही बना दिया है। वे अनेक सूत्रों के द्वारा हमारी भावना में अतीत से जुड़ गये हैं।

ऐतिहासिक पुरुष पात्रों में राज्यवर्द्धन, हर्षवर्धन, बिंबसार, बंधुवर्मा की एक कोटि है। इन सब का अधिक चरित्र हमारे सामने नहीं आता, परन्तु जितना चरित्र हमारे सामने आता है। उससे यह लगता है कि इन पर 'प्रसाद' ने विशेष परिश्रम नहीं किया। फिर भी इन लघु-चित्रों की भी अपनी विशेषता है। राज्यवर्द्धन पराक्रमी, साहसी, ऊर्जस्वित, आत्मविश्वासी और उदार है। वह अन्याय के विरुद्ध सदैव खड्ग्रहत है। अपने शत्रु के प्रति भी वह सतर्क नहीं, जो उसके उदार भावों का सूचक है परन्तु इसी से उसके प्राणों की हानि होती है उसमें हमें क्षात्रतेज विशेष रूप से विकसित दिखाई पड़ता है। हर्षवर्द्धन और बंधुवर्मा उसकी प्रतिमूर्ति हैं। हर्षवर्द्धन की उदारता उसकी वीरता से अधिक बढ़ गई है और उसमें वह वैराग्य की भावना भी अंकुरित दिखाई देती है जो बिंबसार में पूर्णरूप से विकसित हुई है। बंधुवर्मा में साहस, पराक्रम और त्याग की पराकाष्ठा है, परंतु उसका शील सौजन्य भी कम आकर्षक नहीं है। वह गांधार की घाटी में हूणों से युद्ध करता हुआ अपने प्राण देता है। बिंबसार के चरित्र में कतृत्व की मात्रा अधिक नहीं है। नाटक के आरम्भ में ही वह कार्य-शेष हो चुका है। उनके चरित्र पर निष्क्रियता और नियतिवाद की स्पष्ट छाया है और महत्व के प्रति विराग उसका मूल संबध जान पड़ता है। त्याग-भाव से प्रेरित सदोत्साह और वैराग्य वस्तुतः एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं; इसीलिए हमने बिंबसार को भी इसी कोटि में रखा है। बिंबसार का व्यक्तित्व द्विधाप्रधान, चिंतागर्भी और विश्रांत-सा है और अपने भाग्यवादी दर्शन के आधार पर

उसे स्वतंत्र स्थान मिल सकता है। इन पात्रों का ही अधिक उत्कर्षमय रूप हमें स्कंद, सिंहरण, चन्द्रगुप्त मौर्य और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य में दिखाई देता है। उनके सामने समस्याएँ अधिक हैं, पराक्रम के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला पड़ा है, परंतु साहस वीरता, उदारता, सौजन्यता, देशभक्ति और त्याग उनके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग हैं। इन चरित्रों में 'प्रसाद' एक बड़ी चित्रपटी लेकर उपस्थित होते हैं। इन सभी पात्रों में एक विशेष प्रकार का तटस्थ भाव है जो उनकी विराग-वृत्ति का सूचक है परन्तु परिस्थितियाँ उन्हें कर्तव्य-क्षेत्र में ढकेलती हैं और वह लहरों को रोंदते हुए तूफान की चोटी पर चढ़ जाते हैं। स्कंदगुप्त में तटस्थ भावना वैराग्य का स्पष्ट रूप धारण कर लेती है और एक अन्तःसंघर्ष के रूप में सामने आती है। वह पुरगुप्त के लिए क्षेत्र छोड़ देता है और देवसेना जैसी अनुपम सुन्दरी की प्रार्थना को ठुकरा कर आजन्म कुमार रहने की प्रतिज्ञा कर डालता है। यह स्पष्ट है कि इन पुरुष-चरित्रों में 'प्रसाद' में पुरुषत्व की पराकाष्टा दिखाई पड़ती है। अपार पराक्रम और अपार करुणा को इन तेजस्वी चरित्रों में एक सूत्र में गूँथ दिया गया है।

एक दूसरी कोटि के पुरुष-चरित्र उच्च स्थानों पर प्रतिष्ठित होते हुए भी इन गुणों से हीन हैं। नरदेव, देवगुप्त, प्रसेनजित्, नन्द, पर्वतेश्वर, आंभीक, विरुद्धक, अजातशत्रु, पुरगुप्त और रामगुप्त इसी कोटि में आते हैं। वीर और साहसी होने पर भी ये द्वेषपूर्ण और ईर्ष्यालु हैं और इनकी वीरता किसी बड़ी उदारभावना से प्रभावित नहीं है। वह कुकर्म करने से भी नहीं चूकते। छल, प्रताड़ना, कुमंत्रणा, दुस्साहस और कूटचक्र इनके जीवन के मंत्र है। ये पूर्ववर्ती पात्रों के विरोध मे रखे गये हैं और इस प्रकार नाटक में संघर्ष का संविधान होता है। पहली कोटि के पात्र अपने प्रेम में भी महान् हैं। वे समय आने पर बलिदान और त्याग के महत्व को जानते हैं, दूसरी कोटि के पात्र अपनी वासना के बंदी हैं और उनमें प्रेम में मोह की ज्वाला ही अधिक है। वे पाना चाहता है, देना नहीं। उनकी आसक्ति ही अन्त में उनके पतन और नाश का कारण बनती है। उनकी तेजस्विता और सक्रियता में कोई संदेह नहीं, परन्तु पाठकों और दर्शकों की सहानुभूति उनकी ओर नहीं हो पाती। उनके चरित्र में असंयम की मात्रा इतनी अधिक है कि उनका पतन अनिवार्य है।

इन दोनों राजवर्गों के साथ एक बड़ा समुदाय है जो इनका सहायक है और इनके विशिष्ट [illegible] से युक्त है। इस वर्ग में मंत्री, सेनानायक, दंडनायक प्रांतपति, महाबलाधिकृत आदि राज्यकर्मचारी आते हैं। पहले वर्ग के साथ बंधुल दीर्घकारायण, पर्णदत्त, सिल्यूकस, वररुचि ( कात्यायन ) हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत भटार्क, सर्वनाग, और शिखर स्वामी जैसे पात्र हैं। पहले पात्रों का सौम्य चरित्र उनकी राज्यभक्ति, उनकी देशभक्ति और वीरता हमारे लिए गौरव के विषय हैं। दूसरे वर्ग

के पात्रों में कूटचक्री ही अधिक है। वे भटार्क की भाँति दृढ़ और अतिसाहसी भी हो सकते हैं, और शिखर स्वामी की तरह दुर्बल मनः-भीरु भी। क्षण भर के लिए वह भयानक कुचक्र रचने में समर्थ हैं परन्तु अन्त में उनकी पराजय होती है।

इन दोनों बड़े वर्गों के बीच में कुछ स्वतंत्र चरित्र भी हैं जो राजचक्र में भाग लेते हुए भी कुछ ऊपर उठे हैं। चाणक्य, धातुसेन, कवि मातृगुप्त, राक्षस जैसे कुछ पुरुष इसी श्रेणी के हैं। उनके चरित्र को किसी निश्चित कोटि में नहीं रखा जा सकता। उसमें कूटनीति, देशभक्ति, गंभीर चिंता अथवा कवित्व जैसा कोई एक तत्व-विशेष विकसित है। इस तत्व के द्वारा उनकी अपनी अलग कोटि बन जाती है।

संघर्ष के शमन के लिए 'प्रसाद' ने आरम्भ से ही कुछ साधु-वृत्ति प्रधान पात्रों की कल्पना की है। ये या तो हृदय-परिवर्तन में सहायक हैं, या परोक्ष रूप से सूत्रधार हैं, या इनके चरित्र विशेष भावनाओं के प्रतीक हैं। राज्यश्री में 'दिवाकर मित्र' 'अजातशत्रु' में 'गौतम', 'विसाख' में 'प्रेमानन्द' 'जनमेजय का नागयज्ञ' में आस्तीक, व्यास और सोमश्रवा, चन्द्रगुप्त मौर्य' में चाणक्य और ध्रुवस्वामिनी के 'मिहिरदेव' इस प्रकार के पात्र हैं। वे विशुद्ध आत्माएं हैं जो शांति, मंगल और करुणा की संदेशवाहक हैं। कहीं-कहीं इनके प्रतिद्वन्दी भी सामने आते हैं। देवदत्त और महापिंगल इस विरोध के प्रतिनिधि हैं।

कुछ विशेष पुरुष पात्रों की अवतारणा भी 'प्रसाद' ने की है जैसे 'स्कंदगुप्त' में मुद्गल की योजना है। वह बहुत कुछ संस्कृत-नाटकों के विदूषक का स्थानापन्न ही है, यद्यपि यह स्वतंत्र-रूप से भी कथा में भाग लेता है।

संक्षेप में, हम इन पुरुष-चरित्रों को देव-चरित्र, मानव-चरित्र और राक्षस-चरित्र के अन्तर्गत रख सकते हैं। नाटक के आरम्भ से ही कथा के दो पक्ष हमारे सामने आ जाते हैं। लगता है जैसे दानव-पक्ष मानव-पक्ष को ढ़क लेगा, परन्तु अंत में सद्वृत्तियों की जीत होती है और कहीं-कहीं इसमें देव-चरित्रों का हाथ प्रमुख-रूप से रहता है। जहाँ वे सक्रिय रूप से भाग नहीं लेते, वहाँ भी उनकी तटस्थ भावना मानव-पक्ष के साथ है। देव-पक्ष के पात्र सिद्धांतों के प्रतीक हैं, वे साधारण ईर्ष्या-द्वेष की भूमि से ऊपर उठे हैं। उनमें मानव-चरित्र का असंतुलन नहीं, उसकी पूर्णता है। ये हमें चमत्कृत कर देते हैं और उनकी प्रतिभा के आगे हम नतमस्तक हो जाते हैं, परन्तु हमें जीवन-रस दूसरे ही पात्रों से प्राप्त होता है जो हमारी तरह दुर्बल हैं, कच्ची मिट्टी के बने हैं।

यह भी लगता है कि अधिकांश पुरुष-पात्रों में 'प्रसाद' ने अपने ही चरित्र को ढाल दिया है। मातृगुप्त में उनका अपना कवि केन्द्र में प्रतिष्ठित है। बिंबसार में उनकी जीवन-चिंता और उनका नियतिवाद मूर्त हो उठा है। धातुसेन, सिंहरण,

स्कंदगुप्त और चन्द्रगुप्त में उनकी अपनी देशचिन्ता, भारत-भक्ति और संस्कृति-निष्ठा जड़ीभूति हो गई हैं। उनके नायकों के राष्ट्रीयता के उच्छ्वास वास्तव में उनके अपने उच्छ्वास हैं। प्रेमचन्द ने समसामयिक आन्दोलन में अपनी देश-भक्ति को मूर्त्त किया है। 'प्रसाद' ने मौर्यो और गुप्तों के पराक्रम को अपने भावोच्छ्वास के प्रकाशन का माध्यम बनाया है। दोनों चीजें एक हैं। देखने वाली आँख चाहिएँ। पारिवारिक जीवन में उन्हें कुचक्रों का भी परिचय हो गया था और उन्हें ही उन्होंने विराट राष्ट्रीय रंगमंच देकर नई जीवन-शक्ति के साथ साहित्य-क्षेत्र मे उतरा। चाणक्य में स्वयं उनके चरित्र का खुला-मुँदा बहुत-सा अंश है। जिस कर्मठता और राष्ट्रवादिता को वह जीवन-क्षेत्र में उतार नहीं सके, उसे ही उन्होंने नाटकों के पृष्ठों पर उतारा। अपने चरित्र के सर्वश्रेष्ठ अंशों से उन्होंने अपने पात्रों को विभूषित किया। नाटककार की तटस्थ दृष्टि उनकी रचनाओं मे बहुत जगह नहीं मिलती। कदाचित ऐसा वे वांछनीय भी नहीं समझते थे। चरित्र-वैशिष्ट्य और अंतर्द्वन्द उनके साहित्य में रसनिष्ठ होकर सामने आया है और यह साहित्य-रस स्वयं कवि के अपने व्यक्तित्व से ऊर्जस्वित है। फलतः पात्रों के चरित्र के अनेक अंगों पर कवि के अपने व्यक्तित्व और उसके अपने संकल्पों की छाप है।

परन्तु पुरुष-पात्रों के अंकन में 'प्रसाद' को उतनी स्वतन्त्रता नहीं थी जितनी नारी-पात्रों के अंकन में। इतिहास उनके कवित्व से शून्य है। फलतः उनमें भरा हुआ सारा रंग 'प्रसाद' का अपना है। वह पुरुषों की अपेक्षा उन्हें अधिक कलामयता से गढ़ सके हैं। उनकी निर्मात्री प्रतिभा यहाँ विशेष जागरूक जान पड़ती है। एक ओर कल्याणी-रूपा करुणामयी मातृमूर्तियाँ हैं जैसे राज्यश्री, वपुष्टमा, वासवी, पद्मावती, मल्लिका, कमला, देवकी और दूसरी ओर कुचक्रों तथा लालसाओं से भरी जैसे दामिनी, शक्तिमती (महामाया), छलना, मागधी और अनन्त देवी। वे वैमनस्य और अधिकार की वेदी पर अपने नारीत्व का बलिदान कर देती हैं। पहली क्षमामूर्ति हैं, तो पिछली प्रतिशोध की जलती हुई चिनगारी हैं। उनके हृदय मे हाहाकार-भरा समुद्र कल्लोलित है। उन्हें क्षण भर को शान्ति नहीं। लालसा, कामना अधिकार-लिप्सा, द्वेष, घृणा उनके 'जीवन-मंत्र' हैं। अनन्तदेवी की भाँति वह इतनी नीचे गिर सकती हैं कि उन्हें 'नारी' शब्द से संबोधित करना घृणास्पद जान पड़ता है। क्षण भर के लिए ये तेजवान् रूपगर्विता, व्यवहार बुद्धि-कुशल नारियाँ हमें अपनी तेजस्विता से अभिभूत कर लेती हैं और उनका कुचक्र सद्वृत्तियों को ठुकराता हुआ जान पड़ता है, परन्तु बाद में उनका चरित्र हमें घृणा और क्षोभ से भर देता है और उनके पतन से हम प्रसन्न ही होते हैं। 'प्रसाद' की आदर्शवादी कला मे सद्प्रवृत्तियों की पराजय नहीं है, परन्तु असद् के भयानक कुचक्र को वे बड़ी सफलता से चित्रित कर सके

के समय में नारी पहली बार जनांदोलनों में अग्रस्थान पर आई थी और उसके जन-नेतृत्व की साहित्य में पहली झलक उन्होंने ही दी। और भी अनेक नारियाँ हैं जो द्विधा की लहरों पर डूबती-उतराती हैं, जैसे सुवासिनी परन्तु सभी को 'प्रसाद' की सहानुभूति का सम्पूर्ण दान मिला है। ऐतिहासिक कहानियों में मालवती, नूरी, जहाँ-आरा, चम्पा जैसी स्त्री पात्रियाँ भी मिलती है। इनमें स्त्री-सुलभ करुणा, प्रेम और बलिदान की बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है। इतिहास में इनका उल्लेख हो या न हो, हमारे साहित्य के देवमंदिर में इनका स्थान अक्षुण्ण है। ऐसी कोमल-कठोर, सुन्दर-असुन्दर परन्तु तेजस्वी चित्रपटी और कहाँ है ? इस चित्रपटी में 'प्रसाद' ने जिन रंगों को भरा है वे अमिट हैं।

'इरावती' में 'प्रसाद' ने एक नई चित्रपटी खड़ी की थी। यहाँ उनका विशेष ध्यान ऐतिहासिक वातावरण, कथानक और भावचित्रण की ओर था। चरित्रों के निरूपण, विकास और विश्लेषण की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया जान पड़ता। उपन्यास अपूर्ण ही रह गया है, इसलिए चरित्रों की पूरी रूपरेखा उभरती भी नहीं। इस उपन्यास के पुरुष-पात्र हैं वृहस्पति मित्र, पुष्य-मित्र, अग्नि-मित्र, खारवेल। वृह-स्पति-मित्र कापुरुष और विषय-लौलुप हैं। पुष्य-मित्र कूटनीतिज्ञ, कर्तव्यनिष्ठ और साहसी सेनापति है और अग्निमित्र उच्छृंखल, निरुद्देश्य, दुःसाहसी तरुण है जिसके लिए प्रेम और विलास में पर्याप्त आकर्षण है। खारवेल तरुण है, दुःसाहस की मात्रा उसमें भी कम नहीं है, परन्तु उसका व्यक्तित्व विशेष रूप से आकर्षक है। उपन्यास के अन्त में जिस विशदता से खारवेल का चित्रण किया जा रहा है, उससे यह स्पष्ट है कि 'प्रसाद' के मन में उसका एक निर्दिष्ट चित्र है और वह धीरे-धीरे चन्द्रगुप्त का महाकाय प्राप्त करता जा रहा है। शेष सारे पात्र अनैतिहासिक हैं—ये नये मौलिक पात्र हैं जिन्हें 'प्रसाद' की कल्पना ने ही रूप-नाम दिया है। परन्तु कदाचित् ऐति-हासिक पात्रों की अपेक्षा ये पात्र कहीं अधिक स्थूलता प्राप्त कर सके हैं। कालिन्दी में नारी-तेज पूर्ण रूप से जाग्रत है। छल-प्रपंची और पौरुष-प्रतिभा से यह कर्तृत्व-प्रधान नारी हमें इसीलिए आकर्षित कर लेती है कि उसके नारी के अपने कोमल संस्कार प्रतिहिंसा की मिट्टी के नीचे दब गये हैं। इरावती में प्रणय-भावना की प्रधानता है। धनदत्त महाश्रेष्ठ है, वणिक है। धन ही उसके जीवन का आधार है। मणिमाला श्रेष्ठ धनदत्त की पत्नी है। वह पति की धनलिप्सा से ऊब उठी है। धन-दत्त के निराशा और विषाद के मनस्तत्त्व के विरोध में उसने अपना एक आशावादी उल्लास-आनंदमय जीवन-दर्शन विकसित कर लिया है। आनन्द इसी आनन्दवाद का प्रतीक है। परन्तु आनन्द का आनन्दवाद उसकी आत्मा की सहज स्फूर्ति का प्रकाश है। वह निराश हृदय की उपज नहीं है। उसके पीछे शैवदर्शन और शैव-

विचार-धारा का पूरा बल है। ये पात्र 'प्रसाद' के चरित्रों की विशाल चित्रपटी में कुछ और जोड़ देते हैं।

'कंकाल', 'तितली' और ५० के लगभग यथार्थवादी, भावात्मक, प्रेममूलक, मनोवैज्ञानिक और आदर्शवादी कहानियों में साधारण-असाधारण स्थिति के अनेकानेक पात्र हमें मिलते हैं। इनकी जीवन-शक्ति, विविधता और चिरपरिचयता हमें विमुग्ध कर लेती है। कहानियों में छोटे-छोटे चारित्रिक खण्ड-चित्र आते हैं। उपन्यासों में चरित्र के सभी अंग एक विराट् पृष्ठभूमि पर चित्रित दिखाई देते हैं। 'प्रसाद' दोनों क्षेत्रों में सफल है। उनकी कला मूलतः संकेतात्मक है। इससे कुछ थोड़े से शब्दों में चरित्र की एक झाँकी प्रस्तुत कर देते हैं। कहानियों में अमीर-गरीब, सामाजिक स्थिति-हीन और समाज में आदर-प्राप्त, भिखारी वैरागी, बिसाती, जादूगर, पागल सब आते हैं। बहुत बड़ी चित्रपटी है। गृहस्वामिनियाँ भी हैं और वेश्याएं भी, रानियाँ भी हैं और चूड़ीवालियाँ भी। प्रागैतिहासिक स्त्री-पुरुष भी हैं और आधुनिकतम नरनारी भी हैं। अधिकांश कहानियों में प्रेम की कोई-न-कोई परिस्थिति अंकित है और प्रणयिनी नारी या प्रार्थी नर किसी विशिष्ट चारित्रिक झाँकी को लेकर उपस्थित होता है। प्रेम, रहस्य, यौवन, विलास, करुणा और आत्मोत्सर्ग के सूत्र इन खंडचित्रों और शताधिक चरित्रों को हमारे लिए चिर आकर्षक बना देते हैं।

'कंकाल' और 'तितली' के चरित्र ऐतिहासिक चरित्रों और इन खंड चरित्रों से कुछ भिन्न हैं। 'कंकाल' चरित्रप्रधान उपन्यास नहीं है; यद्यपि कई सुन्दर भावनिष्ठ चरित्र हमारे सामने आते हैं। पुरुष-चरित्रों में देवनिरंजन, श्रीचन्द, मंगल और विजय के अतिरिक्त जान बाथम, गोस्वामी कृष्णशरण और बदन अपने-अपने वर्ग के प्रतीक है। जान पादरी है। गोस्वामी सनातनधर्म के उपदेशक और नेता। कथा के कई चरित्र उनके सम्पर्क में आकर बदलते हैं। जैसी योजना 'प्रसाद' के कई नाटकों में है, वैसी यहाँ भी है। गोस्वामी कृष्णशरण 'विशाख' के प्रेमचन्द, 'जनमेजय' के वेदव्यास और 'अजातशत्रु' के गौतम के स्थानापन्न हैं। देवनिरंजन वर्तमान अखाड़ों के महंतों से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं। किशोरी के रूप और यौवन के एक ही झटके से उसका सारा विराग, सारा तप भूमिलुंठित हो जाता है। वह कामना के तीव्र प्रवाह में बहने लगता है। मंगल सिद्धान्तवादी और समाज-भीरु तरुण है। जिस सिद्धान्त को वह पकड़ लेता है कुछ दिन तक उसे ही पकड़ कर बैठ जाता है। परन्तु जहाँ कर्तव्य-अकर्तव्य की कोई बड़ी समस्या सामने आती है, वहाँ वह रंगक्षेत्र से पीठ दिखाकर भाग जाता है। विजय के तेजस्वी चरित्र के आगे वह बुझे हुए ग्रह-पिण्ड से अधिक नहीं हैं। विजय का व्यक्तित्व 'कंकाल' का सबसे अधिक विकसित व्यक्तित्व है। उसके निर्माण में 'प्रसाद' ने अनेक सूक्ष्म-कोमल तत्वों का समावेश

किया है। वह ऊपर से नीचे तक विद्रोह की आग है। समाज, धर्म, रूढ़ि, परम्परा, आचार-विचार और सभ्यजनों के सारे संस्कारों को उसने चुनौती दी है। वह टूट जाता है परन्तु झुकता नहीं। आज के हिन्दू समाज की रक्तशुद्धता और वर्णाश्रम की भावना के आगे यह खुली चुनौती हैं।

स्त्री-पात्र अधिक महत्वपूर्ण हैं। नाटकों के स्त्री-पात्र भी 'प्रसाद' की कल्पना और कला के सर्वोत्कृष्ट उच्छ्वास हैं। उपन्यास में भी उनकी नारी-चित्रपटी अत्यन्त मनोरंजक है। यह अवश्य है कि कथानक की जटिलता के कारण कई नारीपात्र अनेक रूपों में हमारे सामने आते हैं। तारा यमुना बन जाती है। घन्टी भी कई रूपों में हमारे सामने आती है। कुछ नारी-पात्रों के पूर्व जीवन का उल्लेख-मात्र ही हमारे सामने आता है। सरला और लतिका ऐसी ही पात्रियाँ हैं। परन्तु फिर भी 'प्रसाद' का नारी-जगत करुणा, त्याग, प्रेम, साहस और आत्मबलिदान के सर्वोत्कृष्ट मानवगुणों से सम्पन्न है। प्रधान रूप से तीन नारी पात्रियाँ हमारे सामने आई हैं और तीनों का नायक विजय और प्रतिनायक मंगल से कुछ-न-कुछ सम्बद्ध है। वे हैं तारा (यमुना), घन्टी और गाला। इन तीनों के व्यक्तित्व का विकास बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। तारा तो त्याग और करुणा की मूर्ति ही है। मंगल को वह अपने हृदय का सारा सम्मान, सारा विश्वास दे देती है। मंगल उसे छोड़ कर चला जाता है। परन्तु उसके हृदय में उसके प्रति प्रतिशोध की किंचित् मात्र भावना नहीं है। वह विजय को हृदय का सारा स्नेह दे सकती है, परन्तु उनका सतीत्व अक्षुण्य बना रहता है। शरच्चन्द्र के नारी पात्रों की तरह उसमें नारी-हृदय की असीम करुणा का ही विकास हुआ है। घन्टी उच्छृंखल है। उसे समाज का कोई भय नहीं। यमुना गम्भीर मेघमाला है तो घन्टी उन्मुक्त समीर। वह विजय से खेल करती है, बाथम से खेल करती है। वस्तुतः उसका जीवन यमुना के चिरमुक्त प्रवाह की तरह नियम और परम्परा का बंधन तोड़ता हुआ बहता चला जाता है। गाला इन दोनों से भिन्न है। वह बन-विहंगिनी विजय और मंगल के सम्पर्क से धीरे-धीरे नागरिका बन जाती है। उसमें आत्मसम्मान की मात्रा विशेष रूप से विकसित है। वह आत्मदान और जन-मंगल की प्रतीक है।

'तितली' अधिक चरित्रनिष्ठ है। उसमें चरित्रों की संख्या कम है परन्तु उनकी रूपरेखाएं पूर्ण रूप से पुष्ट है। पुरुष-पात्रों में रामनाथ, मधुवन, हरदेव, सुख-देव चोबे, रामजस, रामदीन, महँगू, महतो, श्यामलाल, वाटसन, ननीगोपाल, पुरेन और वीरेन हैं। स्त्री-पात्रों में तितली (बंजो), श्यामदुलारी, राजकुमारी, शैला, मलिया, अनवरी और मैना हैं। इन पात्रों में से कई पात्र नितांत गौण हैं। मंहगू खाते-पीते किसान का प्रतीक है जिसके घर के सामने पुआल जलाती है। किसान की

सारी कमजोरियाँ भी उसमें हैं। ननी गोपाल, सुरेन और बीरू मधुवन के कलकत्ते के मित्र हैं और एक आवारापार्टी के सदस्य हैं जो अनेक प्रकार से भोली-भाली जनता को ठगती है। शेष चरित्रों में से हम किसी को आदर्श कह सकते हैं तो ऐसे चरित्र रामनाथ और वाट्सन हैं। दोनों गंभीर, शांत और त्यागी चरित्र हैं। इन्द्रदेव शैला के लिए बहुत बड़ा त्याग करता है—वह चाहता तो शैला उसकी हो सकती थी। यह त्याग उसके चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देता है। रामनाथ तो सचमुच देवता है। बाहर से महान् न होते हुए भी वह भीतर से कितना महान् है, उसकी कर्तव्यनिष्ठा, उसका त्याग, उसका तेज, उसका साहस उसे साधारण मानव से ऊपर उठा देते हैं। उपन्यास के सारे पात्र उस पर श्रद्धा रखते हैं।

मधुवन, रामजस और रामदीन ग्रामीण पात्र हैं। तीनों तेजस्वी हैं, दुःसाहसी हैं। अन्याय और अत्याचार को सहन करना तीनों के लिए असम्भव-सा है। तितली और मलिया के प्रेम ने मधुवन और रामदीन को कुछ अधिक आकर्षक बना दिया है। वैसे तीनों गाँव की प्रसन्न प्रकृति और नैसर्गिक सुषमा के प्रतीक हैं। वे प्रेमचन्द के ग्रामीण पात्रों से अधिक स्वस्थ और सुसंस्कृत हैं। इंद्रदेव मधुवन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। उसमें सुधार प्रेम, आदर्शवादी तरुण जमीदार की कल्पना की गई है। परन्तु अपने पारिवारिक बन्धनों को तोड़ने में वह असमर्थ है। वह अपनी पीढ़ी के विलायती शिक्षा प्राप्त ज़मीदार का पूर्ण प्रतिनिधि है। श्यामलाल और सुखदेव चौबे खल-पात्र हैं।

उपन्यास में स्त्री-पात्रों के चरित्र उतने नहीं खुलते। अधिकांश चरित्र 'टाइप' मात्र हैं। श्यामदुलारी सहृदया पुत्र-वत्सला, शंकलु विधवा ज़मींदार जिसमें अभिजात्य के सारे रूप-रंग हैं। शैला सेवामयी, त्यागमयी, भावुक, स्नेह-प्रेम-वात्सल्यपूर्ण नारी जो विरोधी परिस्थितियों में अपने सहज भाव और विनय व्यक्तित्व के कारण विजय प्राप्त कर लेती है। कानलिया की भांति उसमें भी नारी-हृदय की भारतीय सुषमा ही पल्लवित हुई है। कदाचित् इंगित यह है कि नारी सब देशों, सब कस्बों में समान हैं। उसमें जीवन-विकास के सर्वश्रेष्ठ गुण सन्निहित हैं। 'तितली' उपन्यास में केन्द्ररूप में प्रतिष्ठित है। उसमें भावुकता, कर्तव्य-निष्ठा, साहस और आदर्शवाद का विलक्षण सम्मिश्रण है। यह कुसुम कोमल नारी मधुवन के निर्वासित होने पर वज्र-कठोर बनकर १४ वर्ष काट देती है। उसका मातृ वत्सल्य करुणा और तेजस्वी व्यक्तित्व हिंदी कथा-साहित्य की नई निधि है। माधुरी, अनवरी, मैना और राजकुमारी में 'प्रसाद' ने परंपरा से हट कर ऐसी नारियो के चित्र उपस्थित किये हैं जो ईष्या-द्वेष पूर्ण हैं, यौवन की उच्छृंलता और रूप की उन्मादकता ही जिनके लिए जीवन है, जो व्यवहार की दुनियाँ में रहती हैं और हमारे मन को अतृप्ति और छलछंद से भर देती हैं। यह आधुनिक नारी का वस्तुवादी रूप है। परन्तु यदि नाटकों की देवसेना, सरमा,

मालविका जैसी पात्रियाँ सत्य हैं तो ये मृदुलहृदया प्रपंची आधुनिकाएं भी उतनी ही सत्य है। एक तरह से उपन्यासों में 'प्रसाद' की दृष्टि आदर्श की अपेक्षा वस्तुजगत के ही अधिक निकट रही है और फलस्वरूप यह चित्रपटी नाटकों की आदर्शोन्मुखी स्वच्छंदतावादी चित्रपटी से भिन्न हो गई है।

संक्षेप में, ये ही 'प्रसाद' के पात्र हैं। इनमें कोमल-कठोर, अच्छा-बुरा, ऊँचा-नीचा सब है। एक ही प्रतिभा ने पृथ्वी-आकाश के दो विविध और सुदूर कोनों को छू लिया है। पुराण-इतिहास और सामाजिक जीवन की विशाल चित्रपटी पर अंकित ये नारी-पुरुष अपने रूप-रंग, चारित्रिक वैशिष्ठ्य हास-विलास, अंर्तद्वन्द और घातप्रतिघात से हमें सदैव आकर्षित करते रहेंगे। 'प्रसाद' चरित्र-वैशिष्ठ्य को रसनिष्ठ कर पात्रनिरूपण की एक अभिनव-शैली की सृष्टि कर सके हैं। उनका मनःलोक उनके अध्ययन, उनकी अनुभूति और उनकी कल्पना की सृष्टि है, परन्तु इसमें जिन देवोपम पुरुषों और देव-प्रतिमा जैसी मंगलमयी नारियों का श्वांसोच्छ्वास है, वह मनोविज्ञान की पकड़ में भी पूर्णतः नहीं आता। यह कलाकार की विधात्री प्रतिभा और सृजनात्मक शक्ति का कलात्मक अभिनव विस्फोट है। आधुनिक हिंदी-साहित्य में उसका अपना, अपनी ही सुषमा और शक्ति से मंडित, निजी व्यक्तित्व है।

# प्रसाद की भाषा-शैली

'प्रसाद' की भाषा-शैली कवि और चिंतक की भाषा-शैली है। उसमें असामान्य भंगिमाएं नहीं हैं—भाषा के क्षेत्र में वह जैनेन्द्र और अज्ञेय की भाँति प्रयोगवादी नहीं हैं, परन्तु उसकी भाषा उनकी अपनी है, इतनी विशिष्ट है कि उनके सिवा और किसी की हो ही नहीं सकती। उसके मौलिक तत्त्व उनके व्यक्तित्व से पूर्णतः संयोजित हैं। इसमें संदेह नहीं कि 'प्रसाद' की सबसे बड़ी शक्ति उनकी भाषा-शैली है। प्रारंभिक नाटकों और 'राज्यश्री' एवं 'विसाख' में वह अपनी भाषा-शैली को सबसे सुन्दर रूप में उपस्थित नहीं कर सके हैं। परन्तु 'अजातशत्रु' (१६२२) में उन्होंने काव्यात्मक मनोवैज्ञानिक और उपदेशात्मक शैलियों का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है। बाद में उन्होंने इन शैलियों को प्रयोगों द्वारा बलवती बनाया और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति अपने चरम विकास पर पहुँच गई। 'प्रसाद' के नाटक का गद्य अत्यन्त जीवनस्पंदित गद्य है और कहीं-कहीं वह गद्यगीत बन गया है। वह जहाँ प्राणों में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म झंकार उठाने में समर्थ है, वहाँ दार्शनिक विचारावली और वीरभाव (उत्साह) के प्रकाशन में भी कुशल है। 'प्रसाद' ने नाटकों में कवि, दार्शनिक, प्रेमी और व्यावहारिक पुरुष एवं वीर देशनेता सभी आते हैं और वह प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि से उस वर्ग की भाषाशैली का प्रयोग कराते हैं। वैसे 'प्रसाद' की भाषाशैली में तत्सम शब्दों की बराबर प्रधानता है—वह चाहे जिस शैली का प्रयोग करें, उनकी अपनी विशेषताएं तो रहती ही हैं। भाषा में एक विशेष प्रकार का मधुवेष्ठन, एक विशेष प्रकार का रसीलापन 'प्रसाद' की अपनी विशेपता है। इसी लिए उनका गद्य कहीं-कहीं गद्य-गीत बन जाता है और रहस्यवाद की झंकार देने लगता है। जैसे प्रेमभाव की अप्रत्याशितता का वर्णन करते हुए नाटककार कहता है—अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका-रजनी

की छाया में छिप कर मधुर बसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल "कौन ?" कह कर सबको रोकने लगता है। पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी में जो प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरंद-सी उसमें छिपी है। अथवा धड़कते हुए रमणी-वृक्ष पर हाथ रख कर, उस कंपन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है और राजकुमारी ! वही काम संगीत की तान सौन्दर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है। इस प्रकार की सूक्ष्म भाव-झंकार 'प्रसाद' के गद्य को चिरकाल के लिए आनंद और जिज्ञासा का विषय बना देती है। कवित्वमय संवाद एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर देता है जो नाटक को रंगमंच के वातावरण से बहुत ऊंचा उठा देता है। अनेक ऐसे स्थल मिलेंगे जिनमें केवल काव्य का आग्रह है। 'स्कंदगुप्त' का अंतिम दृश्य उदाहरण के लिए उपस्थित किया जा सकता है।

[ उद्यान के एक भाग में देवसेना ]

देवसेना—हृदय की कोमल कल्पना ! सो जा ! जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मारना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा सुख और आकांक्षा—सबसे मैं विदा लेती हूँ !

[ गाती है—आह वेदना मिली विदाई। ]

( स्कंदगुप्त का प्रवेश )

स्कंद०—देवसेना !

देव०—जय हो देव ! श्री चरणों में मेरी भी कुछ प्रार्थना है।

स्कंद०—मालवेश-कुमारी ! क्या आज्ञा है ? आज बन्धुवर्मा इस आनंद को देखने के लिए जीवित नहीं है। जननी-जन्मभूमि का उद्धार करने की जिस वीर की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, जिसका ऋण कभी प्रतिशोध नहीं किया जा सकता, उसी वीर बन्धु वर्मा की भग्नि मालवेशकुमारी देवसेना की क्या आज्ञा है ?

देवसेना—मैं मृत भाई के स्थान पर यथाशक्ति सेवा करती रही, अब मुझे छुट्टी मिले।

स्कंद—देवी ! यह न कहो। जीवन के शेष दिन, कर्म के भव-सागर में बचे हुए हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देखकर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से शस्त्र के द्वारा जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परंतु इस नंदनवन की बसंत-श्री इस अमरावती की रानी, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुंह से कहूं ! (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस बज्र-कठोर हृदय से तुम्हें रोकूँ ?

देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ । हतभाग्य स्कंदगुप्त, अकेला स्कंद, ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है । सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या ? सब क्षणिक सुखों का अन्त है । जिससे सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए । मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राण ! क्षमा ।

( घुटने टेकती है, स्कंद उसके सिर पर हाथ रखता है । )

भाषा का यह काव्यात्मक गौरव 'प्रसाद' की रोमांटिक कला की विशेषता है। यों तो अनेक भावुक नारी-पात्रियाँ और अनेक कवि-पात्र अलंकार-प्रधानता, मधुरता-पूर्ण भाषाशैली का प्रयोग करते हैं, परंतु अनेक ऐसे पात्र भी 'प्रसाद' के काव्यात्मक प्रसाद के भागी बन जाते हैं जिनके चरित्र में ऐसे कठोर तत्त्व हैं जो काव्य तत्व के एकदम विरोधी हैं । उदाहरण के लिए हम विरुद्धक को ले सकते हैं । महत्वकांक्षी कवित्वप्रधान, व्यावहारिक विरुद्धक साहसिक बन जाने पर भी बड़ी मधुमयी भाषा में मल्लिका के पूर्व प्रेम का स्मरण करता है ।—हृदय नीरव अभिलाषाओं का क्रोड़ हो रहा है । जीवन के प्रभात का वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बन कर मेरे उन्माद की सहकारिणी कोमल कल्पनाओं का भंडार हो गया । मल्लिका ! तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्द्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल, चंपक-कुसुम के रूप में आते देखा । विश्व के असंख्य कोमल कंठों की रसीली तानें पुकार बन कर तुम्हारा अभिनंदन करने, तुम्हें संम्हाल कर उतारने के लिए नक्षत्रलोक की गई थीं । शिशर-कणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया, और मल्लिका के एक कोमल वृंत्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा । उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया । तुम्हारे धरणी पर आते ही जटिल जगत् की कुटिल गृहस्थी के आलबाल में आश्चर्यपूर्ण सौन्दर्यमयी रमणी के रूप तुम्हें सबने देखा । वह कैसा इंद्रजाल था—प्रभात का वह मनोहर स्वप्न था।

इस प्रकार के उच्छ्वास गद्य-काव्य के खंड जान पड़ते हैं । उनकी मधुमयता हमारे प्राणों में पवित्र कंपन उठाती है, हमें रस से सराबोर नहीं कर देती । इसमें संदेह नहीं कि गद्यकाव्य के प्रति 'प्रसाद का बड़ा आग्रह था । कदाचित् गीतांजलि से प्रभावित होकर उन्होंने अपने रचनाकाल के आरम्भ में बीस-पच्चीस या अधिक गद्य-गीत लिखे थे । उन्हीं दिनों उ॰ के मित्र रायकृष्णदास 'साधना' के गीतों का निर्माण कर रहे थे और उनके उलाहने से प्रभावित हो 'प्रसाद' ने बाद में इस कोटि की रचना एकदम बंद कर दी । उन गद्य-गीतों से बहुत से छन्दोबद्ध कर लिए और 'झरना' के

प्रथम संस्करण की अधिकांश कविताएं गद्यगीतों का ही पद्यरूपांतर मात्र थीं। जान पड़ता है इनमें से कुछ गीत 'प्रतिध्वनि' की कहानियों और 'अजातशत्रु' में गूंथ लिए गये। बाद में भी 'प्रसाद' ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में इस प्रकार के गद्य-गीत गुंफित कर दिये हैं, परन्तु उन्हें स्वतन्त्र अस्तित्व न मिलने पर भी यह उनकी विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति के सूचक हैं। कहीं पर ये गद्यगीत एक-दो पंक्तियों से अधिक नहीं जाते, जैसे 'दासी' कहानी में—"मैं जलती हुई दीपशिला हूँ और तुम हृदय-रंजन प्रभात हो। जब तक देखती नहीं, जला करती हूं और तुम्हें जब देख लेती हूँ, तभी मेरे अस्तित्व का अन्त हो जाता है, मेरे प्रियतम !" 'स्वर्ग के खंडहर में आकुल हृदय का क्रंदन इस प्रकार है—'मैं एक भटकी हुई बुलबुल हूं ! हे मेरे अपरिचित कुंज ! क्षण भर मुझे विश्राम करने दोगे ? यह मेरा क्रंदन है—मैं सच कहती हूं, यह मेरा रोना है, गाना नहीं। मुझे दम तो लेने दो। आने दो वसंत का वह प्रभात—जब संसार गुलाबी रंग में नहा कर अपने यौवन में थिरकने लगेगा और तब तक मैं तुम्हें अपनी एक तान सुनाकर, केवल एक तान, इस विश्राम-रजनी का मूल्य चुका कर चली जाऊँगी। तब तक किसी सूखी हुई टूटी डाल पर ही अन्धकार—बिता लेने दो। मैं एक पथ भूली हुई बुलबुल हूँ। कहीं-कहीं गीत का अस्तित्व कथावस्तु से एकदम स्वतन्त्र है। उदाहरण के रूप में हम 'सलीम' और 'नूरी' कहानियों के गद्य को ले सकते हैं।

'वह पथिक कैसे रुकेगा जिसके घर के किवाड़ खुले हैं और जिसकी प्रेममयी युवती स्त्री अपनी काली आँखों से पति की प्रतिक्षा कर रही है।'

'बादल बरसते हैं, बरसने दो। आँधी उसके पथ में बाधा डालती है। वह उड़ जायेगी। धूप-पसीना बहाकर उसे शीतल कर लेगा, वह तो घर की ओर आ रहा है। उन कोमल भुज-लताओं का स्निग्ध आलिंगन और निर्मल दुलार प्यासे को निर्झर और बर्फीली रातों की गर्मी है।

'पथिक ! तू चल, चल देख तेरी प्रियतमा की सहज नशीली आँखें तेरी प्रतीक्षा में जागती हुई अधिक लाल हो गई हैं। उनमें आँसू की बूँद न आने पायें।'

—'सलीम'

'मैंने अपने प्रियतम को देखा था।'

'वह सौन्दर्य-मदिरा की तरह नशीला, चाँदनी-सा उज्ज्वल, तरंगों सा यौवनपूर्ण और अपनी हँसी-सा निर्मल था।'

'किन्तु हलाहल-भरी उसकी अपांग-धारा ! आह निर्दय !'

'मरण और जीवन का रहस्य उन संकेतों में छिपा था !'

'आज भी न जाने क्यों भूलने में असमर्थ हूँ ?'

'कुंजों में फूलों के झुरमुट में तुम छिप सकोगे ?'

'तुम्हारा वह चिरविकासमय सौन्दर्य ! वह दिगन्तव्यापी सौरभ ! तुमको छिपने देगा ?'

'मेरी विकलता को देखकर प्रसन्न होने वाले ! मैं बलिहारी !'

—'नूरी'

ऐसे न जाने कितने गीत 'प्रसाद' की गद्य-रचनाओं में बिखरे हुए हैं। 'प्रतिध्वनि' की अधिक प्रतीकात्मक और रहस्यमयी कहानियाँ गद्यगीतों का ही विकास है।

'प्रसाद' की भावुक, अलंकृत ऐश्वर्य-विलासमयी शैली नायिकाओं और प्रकृति के सौन्दर्य-चित्रों में संपूर्ण उन्मेष में प्रकट होती हैं। निराला की भाँति उनकी भी 'छायावादी हीरोइनों' का सौन्दर्य अपूर्व है। 'प्रसाद' यौवन, प्रकृति और विलास के कवि हैं। उनसे इनकी कोई भी सूक्ष्म भंगिमा छिपी नहीं जान पड़ती। 'छाया' (१९१२) से लेकर 'इरावती' (१९३६) तक उनकी रचना में यही सूत्र प्रधान रूप से दौड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। 'छाया' में मृणालिनी का सौन्दर्य-वर्णन करता हुआ कथाकार लिखता है कि 'वह देव-बाला सी जान पड़ती है। बड़ी-बड़ी आँखें, मनोहर अंग-भंगी, गुल्फ विलंबित केशपाश......' नूरी—'काश्मीर की कला थी।' सीकरी के महलों में उसके कोमल चरणों की नृत्यकला प्रसिद्ध थी। उस कलिका का अमोद-मकरन्द अपनी सीमा में मचल रहा था। उसने समझा कोई मेरा साहसी प्रेमी है, जो महावरी की आँख-मिचौनी क्रीड़ा के समय पतंग-सा प्राण देने आया है। नूरी ने इस कल्पना के सुख में अपने अधर धर दिये। युवक भी आत्मविस्तृत-सा उस मुख में पल भर के लिए तल्लीन हो गया।' 'इंद्रजाल' की बेला—सांवली थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए [illegible] का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन, सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था। गोली के स्नेह की मदिरा से उसकी कजरारी आँखें लाली से भरी रहतीं। वह चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती। इस प्रकार के पचासों अनिंद्य चित्र, प्रेम, यौवन और विलास के अद्भुत खेल 'प्रसाद' की रचनाओं से उद्धृत किये जा सकते हैं। बौद्ध विहार में 'चक्रम' पर संघाटी फैलाकर मत्त मयूरों की भाँति नृत्य करती हुई इरावती उनके इस कोटि के चित्रों की परिणति है। सौन्दर्य और ऐश्वर्य को इस प्रकार निरावरण कर देना सरल कार्य नहीं था। इसके लिए भाषा-शैली की अपूर्व क्षमता और कल्पना का अद्भुत विलास चाहिए। 'प्रसाद' के व्यक्तित्व में ये उपकरण यथेष्ट मात्रा

में थे। उन्होंने नारी-सौंदर्य की अनुपम छटा को अनेक भंगिमाओं में पकड़ा और विलास-विभ्रम और ऐश्वर्य की कालिदासी सृष्टियों से हमारे साहित्य को भर दिया।

प्रकृति के प्रति आग्रह भी प्रारंभिक रचनाओं में मिलने लगता है। 'छाया' (१९१२) की 'तानसेन' कहानी में संध्या का यह वर्णन देखिए—'संध्या हो चली है। विहग-कुल कोमल कलरव करते हुए अपने-अपने नीड़ की ओर लौटने लगे हैं। अन्धकार अपना आगमन सूचित करता हुआ वृक्षों की ऊँची टहनियों के कोमल किसलयों को धुंधले रंग का बना रहा है। पर सूर्य की अन्तिम किरणें अभी अपना स्थान नहीं छोड़ना चाहती हैं। वे हवा के झोकों से हटाई जाने पर भी अन्धकार के अधिकार का विरोध करती हुई सूर्यदेव की उंगलियों की तरह हिल रही हैं। बाद में उनकी अनेक कहानियों का विकास प्रकृति की गोद में होता है और प्रभात-सायं, वर्षा-शरद् वसंत-पतझड़, वन उपवन, नदी-पर्वत लहर-पवन नवीन-नवीन उच्छ्वास भर कर हमारे सामने आते हैं। उनके लिए प्रकृति भी मनुष्य की तरह सजीव है, चुहलपूर्ण है, रागरंगमयी है। 'अपराधी' कहानी का प्रभात का यह दृश्य देखिए—'वनस्थली के रंगीन संसार में अरुण किरणों ने इठलाते हुए पदार्पण किया और वे चमक उठीं। देखा तो कोमल किसलय और कुसुमों की पंखुरियाँ, बसंत-पवन के परों के समान हिल रही थीं। पीले पराग का अंगराग लगने से किरणें पीली पड़ गईं। बसंत का प्रभात था।' पात्रों के मनोभावों को प्रकृति से संबंधित करने का उनका कौशल अपूर्व है। 'आकाश-दीप' में चंपा का भावोल्लास ही जैसे प्रकृति में प्रतिबिंबित हो उठा है।

'सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में विस्तृत जलदेश में, नीलपिंगल संध्या, प्रकृति की सहृदय-कल्पना, विश्राम की छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी के रहस्यमय नील जाल का कुहुक स्फुट हो उठा—जैसे मदिरा से अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चंपा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का।' क्षितिज में जलधि-व्योम का यह मिलन 'प्रसाद' का बड़ा प्रिय प्रतीक है। अपनी एक सुन्दर कविता में उन्होंने अपने प्रियतम से प्रार्थना की है—'जीवन क्षितिज रहे चिर चुंबित।' यह महामिलन वस्तुतः उदार भावना का प्रतीक है। 'समुद्र-संतरण' की ये पंक्तियाँ भी देखने योग्य हैं। 'क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है। शांत-प्रदेश में शोभा की लहरियां उठ रही हैं। गोधूलि का करुण प्रतिबिंब, वेला की बालुकामयी भूमि पर दिगंत की प्रतीक्षा का आवाहन कर रहा है।' कहीं-कहीं प्रकृति द्रष्टा के भावों में फूल कर और भी खिल उठी है! 'चित्र-मंदिर' में आद्या के भावों से आंदोलित प्रकृति का यह

चित्र उदाहरण है—'नारी जैसे सपना देखकर उठ बैठी। प्रभात हो रहा था। उसकी आँखों में मधुर-स्वप्न की मस्ती भरी थी। नदी का जल धीरे-धीरे बह रहा था। पूर्व में लाली छिटक रही थी। मलयवात से बिखरे हुए केशपात को युवती ने हटाया। हिरनों का झुण्ड फिर दीख पडा। उसका हृदय समवेदनशील हो रहा था। उस दृश्य को निस्पृह देखने लगी।' इस प्रकार प्रकृति के एक दो नहीं, सैकड़ों चित्र मिलेंगे। कहीं वे स्वतंत्र चित्रमात्र हैं, कहीं उनमें मानवीय भावनाओं का आरोप है। कहीं मानव-भावों के घात-प्रतिघात के लिए प्रकृति पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित की गई है आधुनिक साहित्य में इतनी प्राकृतिक सूषमा और कहाँ है ? बंजारा कहानी में विंध्य की शैलमाला के गिरिपथ और 'विसाती' के हिमप्रदेश की सुषमा का चित्रांकन साधारण कोटि के चित्रकार के बूते की बात नहीं है। यह प्राकृतिक सुपमा अब तक हमारे लिए कहाँ प्राप्त थी ? 'स्वर्ग के खंडहर में' तो प्रकृति के ऐश्वर्य की जैसे अपूर्व झाँकी मिलती है। वह विश्व-साहित्य में भी अकेली चीज रहेगी। 'तितली' ग्रामीण-जीवन और ग्रामीण प्रकृति के सौन्दर्य से भरी हुई है। प्रत्येक वर्णन जगमगाता हुआ हीरा जान पड़ता है। 'तितली' पढ़कर यह लगता है कि हिन्दी के कलाकारों ने अभी तक अपनी गंगा-जमुना, अपने विंध्य-हिमालय, अपने वन-पर्वतों को थोड़ा भी नहीं पहचाना है। वह नगरों के वैभव में डूब गया है। उसके प्रेम और बलिदान के चित्रों के पीछे प्रकृति का किंचित मात्र भी स्पंदन नहीं है। प्रेमचन्द केवल 'गोदान' में प्रकृति के इस रूप को देख सके हैं। परन्तु 'प्रसार' के 'तितली' के चित्रों की कलात्मकता कहीं भी नहीं है।

'प्रसाद' की भाषा-शैली भावों के उत्थान-पतद को वाणी देने में पूर्णतया समर्थ है। 'आकाश-द्वीप' की रचनाओं में हमें पहली बार भावना के उत्कर्षपूर्ण चित्र मिलते हैं। बाद में भाव-गुंफों और संश्लिष्ट चित्रों का एक संसार ही 'प्रसाद' ने तैयार कर दिया। और कदाचित् इसी विशेषता के कारण प्रेमचंद स्कूल के साथ प्रसाद स्कूल के नाम से भी एक साहित्य-समुदाय चल पडा। प्रेमचंद वस्तुस्थिति और यथार्थ के चित्रकार हैं। वह भावनाओं को महत्व नहीं देते। उनमें पात्रों के भावों में डूबने-उतरने की क्षमता नहीं है। उन्होंने 'मनुष्य' को अपने साहित्य का केन्द्र बनाया है, वह भी कामकाजी मनुष्य को, व्यावहारिक मनुष्य को। 'प्रसाद' कवि हैं। उनके लिए भावों का अंतर्द्वन्द ही मनुष्य का सारतत्व है। फलतः उनके साहित्य की भंगिमायें नयी हैं। 'आँधी', 'इन्द्रजाल, 'स्कंदगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' और 'इरावती' में उनकी भाव-चित्रण शैली संपूर्ण उत्कर्ष के साथ सामने आती है। 'आकाश-द्वीप' में उनकी भाषा-शैली में जो प्राथमिक उन्मेष दिखाई पड़ा था, उसका निरन्तर विकास होता गया है और अन्त में भाषा-शैली संगीत और काव्य के सारे तत्वों को समेट कर नक्षत्र की

तरह झनमला उठी है। जीवन के चुहल, हास-विलास, ईर्षा-द्वेष, राग-रंग सब उसमें प्रतिध्वनित हैं। उत्तर 'प्रसाद' की रचनाओं में पंक्ति-पंक्ति में काव्यपूर्ण मधुरस उडलता चला आता है। छोटे छोटे भाव-खंड़ों को सजाकर कलापूर्ण रूप देना 'प्रसाद' की कला का अन्यतम रूप है। प्रेम, विलास और उन्माद के मनोहारी चित्र-बनाने में 'प्रसाद' से होड़ करना कठिन है। नाटकों में जहाँ भावनाओं का नाटकीय उत्कर्ष चित्रित है, वहाँ उपन्यासों और कहानियों में उनका काव्य-चित्र। दोनों क्षेत्रों में 'प्रसाद' पूर्णरूप से सफल हैं।

परन्तु 'प्रसाद' की भाषा-शैली में गंभीर और दार्शनिक भावों के वहन करने की भी शक्ति है। दाण्डायन और चाणक्य, व्यास, बुद्ध और कृष्ण जैसे महामहिम दर्शन-गंभीर पात्रों को उन्होंने चित्रपट पर उतारा है। इन पात्रों का एक-एक शब्द भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा से मंडित है। ऐसा लगता है कि जैसे 'प्रसाद' पूर्व युगों और देश के महती महीयानों की संपूर्ण चेतना लेकर साहित्य में अवतीर्ण हुए हैं। नियतिवाद, कर्मवाद, भोगवाद, आनन्दवाद—सब पर उन्होंने गँभीर तम विचार उपस्थित कराये हैं। यह आश्चर्य-सा लगता है कि यौवन और विलास के रमणीक कुंजों में विचरण करने वाला कवि जीवन का गंभीर चिंतक बन गया है। धातुसेन कहते हैं—'सरल-युवक! इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन—प्रलय हुआ। परिवर्तन ही दृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शाति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय स्त्री और पुरुष की गेंद लेकर दोनों हाथों से खेलता है। पुल्लिग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्प्रेक्षण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।' बिंबसार और दाण्डायन सृष्टि के ऊँचे-ऊँचे रहस्य को अत्यन्त सरल, स्वाभाविक भाषा में रख देते हैं। गौतम के मुख से 'प्रसाद' ने जो कहलाया है वह तो औपनैषिद ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भगवद्‌गीता के तत्व और अद्वैतवाद को कृष्ण के मुख से बड़ी ही सुन्दरता से प्रकाशित कराया गया है। इस प्रकार की उदात्त दार्शनिक विचारधारा को भाषा के माध्यम से प्रकाशित करना सरल कार्य नहीं है। परन्तु 'प्रसाद' की भाषा की व्यंजना-शक्ति अपूर्व है। वह सभी परिस्थितियों, सभी विषयों सभी रसों को सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित करने में समर्थ है। भाषा की ऐसी सामर्थ्य आधुनिक युग में बहुतों को प्राप्त नहीं है। भाषा की यह सुषमा, यह उठान, वह धारा वाहिकता, वह मधुमयता, 'प्रसाद' के नाटक को 'प्रसादत्व' से भूषित करती है।

'प्रसाद' के साहित्य का एक बहुत बड़ा आकर्षण वे सूक्तियाँ हैं जो सेंकड़ों की संख्या में उनकी रचनाओं के पृष्ठों पर फैली हुई है। उनमें जीवन का सारतत्व

इस सरलता से प्रगट कर दिया गया है कि हमें आश्चर्य होता है। 'प्रसाद' का संपूर्ण तत्वज्ञान, सारा जीवन-दर्शन इन सूक्तियों में आ जाता है। उन्होंने धर्म, दर्शन जीवन-व्यवहार, साहित्य, कला, देश और काल पर बहुत कुछ सोचा है। जहाँ व्यास-शैली में उन्होंने अपने प्रबन्धों और पात्रों के कथोपकथनों में इन पर विशद रूप से विचार किया है, वहाँ इन छोटी-छोटी चमत्कारक रचनाओं में वे समास-शैली का सहारा लेकर और भी प्रभावशाली हो उठे हैं। 'सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर'—यह उक्ति इन सूक्तियों के संबंध में पूर्णरूप से लागू होती हैं। इन्हें 'प्रसाद' के जीवन-चिंतन का छोटा-मोटा कोश समझना चाहिए।

यह नहीं कि 'प्रसाद' की भाषा-शैली में कुछ अवगुण हैं ही नहीं। मधुमयता, अलंकृति और संस्कृतगर्भिता का आधिक्य उनकी भाषा-शैली को रंगमंच के लिए कठिन बना देता है। भाषा की यह एकांतिक एकरूपता जब 'प्रसाद' जैसे कलाकार के द्वारा आती है तो हमें आश्चर्य होता है। साधारण-से-साधारण पात्र जहाँ दार्शनिकों और कवियों एवं पंडितों की भाषा में बोलने लगते हैं, वहाँ प्रेक्षक के लिए सारा दृश्य ही अस्पष्ट और हास्यास्पद हो जाता है। बात यह है कि 'प्रसाद' ने अपने व्यक्तित्व को अपने सभी पात्रों में किसी-न-किसी रूप में ढाल दिया है। इसी से सभी पात्र उनकी भाषा, उनकी काव्य-शैली उनकी दार्शनिकता को ग्रहण कर लेते हैं, यद्यपि यह पूर्णतया अस्वाभाविक है। वह अपने व्यक्तित्व को हटाकर पात्रों को देख ही नहीं सकते थे। देशी-विदेशी, सभ्य-असभ्य, नागरिक-ग्रामीण सभी पात्र एक ही तत्सम-प्रधान भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं। परन्तु इस एकांगीपन के साथ भी भाषा की एक अपनी शक्ति भी है। 'प्रसाद' की भाषा में रस-संचार की शक्ति साधारण है। मनोवेगों के साथ भाषा का रूप भी बदल जाता है और इस प्रकार विभिन्न अंशों की भाषा-शैली में थोड़ा परिवर्तन भी हो जाता है। क्रोध, दया, क्षमा, करुणा, पागलपन, दुःख, क्षोभ, आह्लाद—अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ नाटकों में मिलती हैं और इन परिस्थितियों के अनुरूप भाषा-शैली गढ़ने में 'प्रसाद' ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि 'प्रसाद' की भाषा-शैली उनके साहित्य का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है और वह उनके व्यक्तित्व से पूर्ण रूप से संयोजित है। उनमें रस संविधान, चरित्र-चित्रण, वर्णन, हास-चुहल की अपूर्व क्षमता है और संस्कृत-गर्भित और अलंकृत होने पर भी वह साहित्य-कला से मंडित और साधारण पाठक के लिए आकर्षक है। उनके एक-एक शब्द पर, एक-एक समास पर, एक-एक वाक्य पर उनकी अपनी भावुकता, उनके अपने चिंतन की छाप है।

# संक्षिप्त

पिछले पृष्ठों में जयशंकर 'प्रसाद' की बहुमुखी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। उनका साहित्यिक कर्तृव्य १९०९ से प्रारम्भ होता है और १९३६ के अंत तक चलता है। इस प्रकार उनके साहित्य में २५ वर्षों की साहित्य-साधना सुरक्षित है। १९२६ तक के साहित्य को हम प्रयोग-कालीन साहित्य मान सकते हैं। ऐसा लगता है जैसे वह अपना मार्ग ढूंढ़ रहे हैं और ढूंढ़ नहीं पा रहे हैं। रवीन्द्रनाथ की तरह संस्कारी परिवार प्राप्त करने का सौभाग्य नही मिला। यह ठीक है कि उनके पितामह और पिता साहित्य-रसिक थे और उनके विद्वज्जन उनके संसर्ग मे रहते थे, कदाचित् समस्यापूर्तियों और इसी प्रकार के साहित्यिक मनोविनोदों को भी उनका आश्रय प्राप्त था, परन्तु ठाकुर-परिवार के संस्कार कुछ भिन्न कोटि के थे और उनसे रवीन्द्रनाथ को अपने संस्कार गढ़ने में जो सहायता मिली वह अपूर्व थी। रवीन्द्रनाथ की तरह किशोर वय में ही परिवार का भार उन पर आ पड़ा और कौटुम्बिक और व्यावसायिक उलझनों के बीच में ही उन्हें अध्ययन और गंभीर मनन के द्वारा अपना मार्ग निर्दिष्ट करना पड़ा। यह अध्ययन और मनन वर्षों चलता रहा होगा तभी तो 'प्रसाद' इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र और धर्म के क्षेत्र में इतनी गंभीर मान्यताएँ उपस्थित कर सके हैं। इस अध्ययन के फलस्वरूप ही उन्होंने 'राज्यश्री' के दूसरे संस्करण में इतना परिवर्तन-परिवर्द्धन कर दिया कि चीज ही बदल गई। अजातशत्रु, चंद्रगुप्त मौर्य, स्कंदगुप्त और ध्रुवस्वामिनी की भूमिकाएँ और 'भारत का सम्राट' उनका लेख, उनके ऐतिहासिक गंभीर अध्ययन के साक्षी हैं। साहित्यिक अध्ययन की संपूर्ण छाप काव्य और कला शीर्षक निबंधों में मिलती है। इन निबंधों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' पूर्व-पश्चिम साहित्यिक मान्यताओं से पूर्ण रूप से

परिचित थे और काव्य, नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में उनका ज्ञान भण्डार छोटा नहीं था। इसी अध्ययन के बल पर उन्होंने हीगल की सौन्दर्य-शास्त्र संबंधी मान्यताओं और तदनुसार कलाओं के वर्गीकरण का विरोध किया और भारतीय साहित्यिक दृष्टि को बलपूर्वक उपस्थित किया। नये काव्य की भी उन्होंने समयानुकूल व्याख्या की और नई साहित्यिक-प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया। 'काव्य और कला' में साहित्य के सम्बन्ध में इतनी सामग्री है कि उनके आधार पर हम एक संपूर्णतः नवीन आलोचना शास्त्र ही उपस्थित कर सकते हैं। समकालीन विद्वानों और आचार्यों की मान्यताओं से 'प्रसाद' की ये भावनाएँ नितान्त भिन्न थीं। वह इस बात को पूर्णतयः जानते थे। परन्तु अपने सिद्धांतों का बलिदान कर वे किसी भी समझौते पर रुकने को तैयार नहीं थे।

'प्रसाद' सृजन-क्षेत्र में पहले कवि के रूप में आये। १९०७ में 'भारतेन्दु' में उनका पहला प्रकाशित पद्य मिलता है जो ब्रजभाषा का सवैया है। 'चित्राधार' में इस प्रकार की और भी रचनाएँ हैं। इस संग्रह में हमें 'प्रसाद' की काव्य, कथा, निबंध आदि के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त प्राचीन सामग्री मिल जाती है। उनके भक्तिपरक और प्रेमपरक कवित्त-सवैया-साहित्य के दो रूप हैं—प्रारम्भिक काव्य ब्रजभाषा में है, बाद का खड़ी बोली में। परन्तु दोनों पर भारतेन्दु की प्रतिभा की छाप है। भारतेन्दु के ब्रजभाषा काव्य में भाषा-शैली की मधुरता, नादात्मकता, सरसता और विषय-प्रकाशन की लाक्षणिक शैली पर आग्रह था। उसमें अनुप्रास और यमक की थोथी झंकार नहीं है। काव्यानुभूति की रसनिष्ठता और विदग्धता ही उसे समसामयिक और प्राचीन साहित्य से भिन्न बनाती थीं। 'प्रसाद' ने ये दोनों चीजें उन्ही से लीं और इस तरह उनकी काव्य-परम्परा विच्छिन्न न होकर विकास की एक निश्चित कड़ी बनकर आया। वह पश्चिम की कलम नहीं थी। उसकी जड़ भारतीय काव्य-दृष्टि में रोपी गई थी। बाद में जहाँ खड़ी बोली के कवित्त-सवैयों में अनुभूति की वही मार्मिकता और भावविदग्धता लाने की चेष्टा की गई, वहाँ, ब्रजभाषा में नये छन्दों के माध्यम से नवीनता लाने की चेष्टा भी उन्होंने की। सानेट, पयार, ग़ज़ल,—न जाने कितने अंग्रेजी उर्दू—बँगला छंदों का उन्होंने ब्रजभाषा में प्रयोग किया। जो नये विषय उन्होंने उठाये वे बाद में 'छायावाद' के प्रमुख अंग बन गये। प्रकृति का पहला स्वच्छंद उन्मेष और कल्पना का उपमुक्त विलास पहले-पहल इन्हीं प्रयोगात्मक छंदों में दिखाई दिया। एक तरह 'चित्राधार' का यह नये छंदों वाला ब्रजभाषा काव्य भारतेन्दु के साहित्य और 'छायावाद' में सेतुबंध का काम करता है। 'प्रसाद' ने छायावाद की व्याख्या भारतीय ढंग पर की है। वह उसे सहानुभूति की विवृत्ति के आधार पर लाक्षणिक अभिव्यंजक-मात्र मानते हैं। उनके अपने प्रयोग और उनकी अपनी काव्य-प्रवृत्ति इस व्याख्या के मूल में प्रतिष्ठापित हैं।

१९१३ के लगभग 'गीतांजलि' के प्रभाव के कारण यह काव्य-प्रयोग कुछ रुक गया। प्रारम्भ में 'गीतांजलि' का प्रभाव गद्य-गीतों को लेकर आया और स्वयं 'प्रसाद' ने गद्य-गीत लिखे। परन्तु बाद में उन्होंने इन गीतों को 'झरना' (१९२७) में बदल दिया। 'झरना' की कविताओं में आध्यात्मिक रहस्य की ही अधिक प्रवृत्ति है और 'प्रसाद' की शेष काव्यधारा से यह प्रवृत्ति कुछ बाहर ही पड़ती है। इस बीच में उन्होंने मुक्त छंद के क्षेत्रों में भी प्रयोग किये और 'काननकुसुम' (१९१२), प्रेम-पथिक (१९१३), महाराणा का महत्व (१९१४) की रचना भी की। 'कानन-कुसुम' की कविताएं 'चित्राधार' के काव्य का ही विकास है। इनकी भाषा खड़ी है और इनमें वह काव्योत्कर्ष दिखाई नहीं पड़ता जो 'प्रसाद' के प्रौढ़ काव्य को चमत्कृत बना देता है। काव्य के क्षेत्र में उनकी पहली प्रौढ़ अभिव्यक्ति 'आँसू' (१९२६) है और उसमें हमें रवीन्द्रनाथी रहस्यवाद के स्थान पर 'प्रसाद' की मूल काव्य-प्रवृत्ति ही मिलती है जो लाक्षणिक संविधानों में प्रकाशित होती है और जिसमें विचित्र भाव-भंगिमा को रसनिष्ट बनाकर उपस्थित किया जाता है। 'आँसू' के बाद उनकी काव्य परिमाण में अधिक नहीं है—मुक्तक के क्षेत्र में 'लहर' (१९३५) की प्रगीतियाँ और नाटकों के गीत और प्रबन्ध-गीति के रूप में 'कामायनी' (१९३६)। परन्तु 'प्रसाद' की कहानियाँ, उनके नाटक और उपन्यास उत्कृष्ट काव्य-चित्रों से भरे हैं और उनकी काव्य-प्रतिभा का मूल्यांकन करते समय इस विशद सामग्री की उपेक्षा करना अन्याय होगा।

काव्य के साथ कहानी और नाटक का क्षेत्र भी 'प्रसाद' ने आरम्भ से अपनाया था परन्तु १९२६ तक वे कहानी के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं बढ़ सके। तब तक 'छाया' (१९१२) और प्रतिध्वनि (१९२६) की २५ कहानियाँ-भर लिख सके हैं। 'छाया' की कहानियों में कलात्मकता का नितांत अभाव है और 'प्रतिध्वनि' की अधिकांश कहानियाँ रहस्यमय गद्यगीतों का विस्तार जान पड़ती हैं। उन्हें विशुद्ध भावनिष्ठ या चरित्रनिष्ठ कहानियाँ नहीं कहा जा सकता। 'प्रसाद' के तीनों श्रेष्ठ कहानी-संग्रह 'आकाशदीप' (१९२९), 'आँधी' (१९३९) और इंद्रजाल (१९३६) इसके बाद आते हैं। 'आकाशदीप' में कहानी के सम्बन्ध में एक निश्चित दृष्टिकोण मिलता है। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ भाव-प्रधान हैं, 'इंद्रजाल' की चरित्र-प्रधान। 'आँधी' की कहानियों को हम दोनों के बीच में रख सकते हैं।

नाटक में 'प्रसाद' कुछ अधिक रमे। भारतेन्दु का आदर्श उनके सामने यहाँ था और 'विशाख' (१९२१) तक की रचनाओं पर भारतेन्दु की छाप स्पष्ट रूप से मिलती है। १९२६ तक नाटक के क्षेत्र में 'प्रसाद' का योगदान महत्वपूर्ण ह चला था। 'राज्यश्री' (१९१५), 'विशाख' (१९२१), 'अजातशत्रु' (१९२२),

'कामना' ( रचनाकाल, १९२३–२४, प्रकाशनकाल १९२७ ) और 'जनमेजय का नागयज्ञ, ( १९२६ ) उनकी विशिष्ट रचनाएं थीं और इनके आधार पर वे नाटक के क्षेत्र में शीर्ष स्थान पर आ चुके थे। फिर भी उनका श्रेष्ठतम कर्तृत्व तो 'स्कंदगुप्त' ( १९२८ ), 'चन्द्रगुप्त मौर्य' ( १९३१ ) और 'ध्रुवस्वामिनी' ( १९३३ ) ही हैं। इन नाटकों में हमें उनकी प्रतिभा का संपूर्ण मधु मिल जाता है। इनमें कथा-वैचित्र्य भी है, काव्य-रस भी है और नाटकीय कला भी है। उपन्यास के क्षेत्र को उन्होंने बाद में, कदाचित् हिचकते हुए अपनाया, परन्तु इस क्षेत्र में भी उनकी देन कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'इरावती' में उनकी ऐतिहासिक कवि-प्रतिभा का ही विकास है। 'तितली' तो एक तरह से भारतीय ग्राम का कल्पित भावचित्र है। 'कंकाल' ( १९२९ ) अवश्य 'प्रसाद' की मूल स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के विपरीत जान पड़ता है, परन्तु कथा-सूत्रों की विविधता, अनेकता और कथानक की प्रेम-प्रधानता स्पष्ट ही उनकी रोमांटिक प्रवृत्ति की सूचक है। इस रचना का वस्तु-विन्यास और सामाजिक लक्ष्य—रक्तशुद्धि और वर्णाश्रम का विरोध—स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति से जरूर हट जाते हैं। 'प्रसाद' कलावादी है। प्रेमचन्द की भांति वे साहित्य को उपयोगितावाद और लोकमंगल की तुला पर नहीं तौलते। इसी से समसामयिकों को 'कंकाल' विवादी स्वर जैसा लगा था। उसमें वह काव्य-रस कहां था जो 'प्रसाद'-साहित्य की विशिष्ठ वस्तु थी ? परंतु उसकी समाज-चेतना इतनी क्रांतिवादी और सशक्त थी कि प्रेमचन्द जैसे कलाकार को भी उनका अभिनन्दन करना पड़ा था। 'कंकाल' पर लिखते हुए प्रेमचन्द ने कहा था—'कंकाल' प्रसाद जी का पहला ही उपन्यास है, पर आज हिन्दी में बहुत कम ऐसे उपन्यास है, जो इसके सामने रखे जा सकें। मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग आलापते हैं; ऐसी चीजें क्यों नहीं लिखते जिनमें वर्तमान समस्याओं की गुत्थियाँ सुलझाई गई हों। न जाने क्यों मेरी यह धारणा हो गई है, कि हम आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व की बातों और समस्याओं का चित्रण सफलता के साथ नहीं कर सकते। मुझे यह असंभव-सा मालूम होता है। हमको उस ज़माने के रहन-सहन, आचार-विचार का इतना अल्प ज्ञान है, कि क़दम-क़दम पर ठोकर खाने की संभावना रहती है। हमको बहुत कुछ कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है और कल्पना यथार्थ का रूप खड़ा करने में बहुधा असफल रहती है। शायद यह मेरी प्रेरणा का फल है, कि 'प्रसाद' जी ने इस उपन्यास में समकालीन सामाजिक समस्याओं को हल करने की चेष्टा है। मेरी पहली शिकायत पर कुछ लोगों ने मुझे खूब आड़े हाथों लिया था पर अब मुझे वे कठोर बातें बहुत प्रिय लग रही हैं। अगर ऐसी ही दस-पाँच लताड़ों के बाद ऐसी सुन्दर वस्तु निकल आये, तो मैं आज भी उनको सहन करने को तैय्यार हूं।" इस उपन्यास की चित्रपटी इतनी

विशाल है कि उसमें लाहौर से कलकत्ता तक का सारा महाप्रदेश सिमट आता है और हिन्दू धर्म के पंडा-पुरोहितों, सुधारवादियों और सनातनियों की धज्जियां बिखर जाती हैं। काशी में बैठे-बैठे 'प्रसाद' अपने मानस पटे पर समस्त हिन्दू-समाज की दुर्बलताओं की रेखाएँ अंकित करते रहे थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने जटिल प्रतिबन्धों और परम्परा पुष्ट दंभों को बड़ी सशक्त चुनौती दी थी। इसमें संदेह नहीं कि इस उपन्यास में हमारी उपन्यास-लेखन की यथार्थवादी परम्परा का आरम्भ होता है। विजय और घंटी जैसे स्वच्छंद चरित्र उपस्थित करके 'प्रसाद' ने नये पात्र-पात्रियों की एक नई लीक चलाई थी। घंटी के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने लिखा था—'घन्टी का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ है। उसने एक दीपक की भांति अपने प्रकाश से इस रचना को उज्वल कर दिया है। अल्हड़पन के साथ जीवन पर ऐसी सात्विक दृष्टि, यद्यपि पढ़ने में कुछ अस्वाभाविक मालूम होती है, पर यथार्थ में सत्य है। विरोधों का मेल जीवन का गूढ़ रहस्य है।' 'कंकाल' के विषय में प्रेमचंद के ये शब्द इसलिए और भी महत्वपूर्ण हैं कि इनमें प्रेमचन्द की आदर्शवादी नैतिक कलादृष्टि की नितांत उपेक्षा है।

'तितली' कुछ अधिक परम्परानिष्ठ है। उसमे घटना-क्रम प्रधान है, चरित्र-चित्रण गौण। घटनाक्रम की दृष्टि से इसे स्वच्छंदतावादी भी कहा जा सकता है। जहाँ तक कथासौष्ठव और वर्णनकला का संबंध है, यह 'कंकाल' से कहीं अधिक उत्कृष्ट है। मधुवन के चरित्र में 'प्रसाद' ने 'प्रेमाश्रम' के 'बलराज' की ही उद्धरिणी की है—दोनों तेजस्वी है और एक ही परिस्थिति में हत्या के आयोजन बन जाते हैं। इंद्रदेव के रूप में एक सुधारवादी तरुण जमींदार भी सामने आता है। यह स्पष्ट है कि समस्या के समाधान की ओर उपन्यासकार की दृष्टि नहीं है, वह चित्रण-मात्र तक सीमित रहता है। सुखदेव चौबे के रूप में दुर्बल और दुष्चरित्र ग्रामीण का भी चरित्र सामने आया है। रामनाथ में 'प्रसाद' का वह अतिमानव विकसित है जो उनके नाटकों में सद्वृत्तियों का प्रतीक बनकर सामने आता है। स्त्री पात्रों में शैला और तितली ( बंजो ) ही सबसे सुन्दर और आकर्षक रंगों मे रंगी गई है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद-साहित्य का अधिकांश प्रौढ़ भाग १९२६ के बाद या उसी समय के लगभग हमारे सामने आया। लगभग दस वर्ष तक 'प्रसाद' अपनी अपूर्व कृतियो से साहित्य को भरते रहे। काव्य के क्षेत्र में 'आंसू', 'लहर' और 'कामायनी', कहानी के क्षेत्र में 'आकाशदीप', 'आंधी' और 'इंद्रजाल', नाटक के क्षेत्र में 'स्कंदगुप्त', चन्द्रगुप्त, और 'ध्रुवस्वामिनी' और उपन्यास के क्षेत्र में तीनों कृतियाँ इन्हीं दश वर्षो के छोटे से काल-खण्ड में सामने आई। इन कृतियों ने उनका जीवन रस सोख लिया और उन्हें असमय ही क्षयग्रस्त होकर काल-कवलित हो जाना पड़ा। इतने थोड़े समय में इतनी उच्चकोटि की एक दर्जन से

लगभग रचनाएँ दे देना सचमुच ही बड़े साहस का काम था। 'प्रसाद' का साहित्य अन्तर्निष्ठ है और उसमें भावना ही प्रधान है। इसके सृजन में कवि-नाटककार की उच्चतम भावुक शक्तियों का उपयोग हुआ है। उनके पीछे अध्ययन, मनन और सृजनात्मक प्रेरणा के जो अक्षय स्रोत हैं, उन तक पहुँचना आज हमारे लिए असम्भव सा हो गया है। कवि गुप्त ने अपनी एक कविता में मानव की विवशता और कवि की कठोरता का गीत गया है। कुछ ऐसी ही विवशता 'प्रसाद' के सम्बन्ध में सत्य जान पड़ती है। उन्होने साहित्य को व्यवसाय नहीं बनाया। उनकी अधिकांश रचनाएं उनके मित्रो द्वारा प्रकाशित हुईं और उन्हें उनसे कोई भी आर्थिक लाभ नहीं हुआ। परन्तु साधना की भूमि अर्थ-अनर्थ कुछ भी नहीं जानती। कवि की प्रेयसि नियति की भाँति कठोर है। वह जिसे वर लेती है उसे परिशेष कर देती है। साहित्य के जो सपने अंतिम दिनों में 'प्रसाद' की आँखों के सामने घूम रहे थे वह अधूरे ही रह गये। क्षय का आभास होते ही वह जीवन की छलना को समझ गये थे और उन्होंने कदाचित् मुस्कराकर अपनी नौका मँझधार के हाथ में सौंप दी। वह अपनी पूर्ण शक्तियों के बीच में ही उठ गये और हम निरंतर उनकी सम्भावनाओं के संबंध में तर्क-वितर्क करते रहेंगे।

'प्रसाद' हिंदी प्रदेश की नई जीवन-चेतना का उसी प्रकार प्रतिनिधित्व करते हैं जिस प्रकार रविबाबू बंगाल की उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम बीस वर्षों और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों की जीवनचेतना का प्रतिनिधित्व करते है। पश्चिमी साहित्य के समीर ने शस्यश्यामलम् सुजलाम् सुफलाम् बंगभूमि के मार्ग से इस देश में प्रवेश किया और अनुकूल नारिकेलकुंज-छाया में उसने अपने लिए एक स्वप्ननीड़ का निर्माण कर लिया। हेमचन्द, माइकेल, रवीन्द्रचंद, द्विजेन्द्रराय और शरत ने उसका अभिनन्दन किया और इनके साहित्य में इस विदेशिनी ने भारतीय वेशभूषा को धारण किया। बंगाली मध्यवित्त की जीवन परिस्थितियाँ, उसके भावोच्छ्वास, उसके मिलन-वियोग के सपने, उसके आक्रोश और विद्रोह पश्चिम की प्रेरणा लेकर नये रूप-रंग के साथ उपस्थित हुए और उनके नवीन वेशविन्यास, उनकी सजधज ने इतर-प्रांतों के साहित्यकों के मन मोह लिये। उसके माध्यम से ही उन्होंने पश्चिम के साहित्य को जाना। हिंदी-प्रदेश में यह नई जीवन-चेतना बीसवीं शताब्दी के आरंभ होते-होते आई और उसके साहित्य को इतना अभिभूत कर लिया कि वह परंपरा और प्रयोग में संतुलन नहीं स्थापित कर सका। फलस्वरूप वह जनजीवन से विच्छिन्न हो गया और नये कवि और कलाकारों पर अस्पष्टता, रहस्य और अंधानुकरण की लांछना लगाई गई। इन्हीं दिनों 'प्रसाद' आये—पहली बार उन्हीं के साहित्य में यह नवोन्मेष दिखाई पडा। परन्तु 'प्रसाद' प्रतिभावान थे। उन्होंने अनुकरण से आरम्भ नहीं किया। उन्होंने रविबाबू, राय और माइकेल के बीच में उन्हीं के बन कर

भी अपना अलग मार्ग निकाल लिया। उनके प्रारंभिक साहित्य में यह पथ की खोज स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। पूर्वाचार्यों की वाग्विदग्धता, उर्दू के कवियों की लाक्षणिक शैली, रोमांटिक स्कूल के अंग्रेजी कवियों की भावस्फूर्ति, बँगला काव्य की गीतात्मकता और भावुकता का सहारा लेकर उन्होने नये काव्य की दाग-बेल डाली। केवल कुछ रहस्यात्मक गीतों और गद्य गीतों को छोड़कर उन्होंने अपने काव्य में रवीन्द्र-काव्य की पुनरुक्ति नहीं की, कथा के क्षेत्र में, विशेषत: छोटी कहानी के क्षेत्र में, वह रवीन्द्र की प्रतिभा से विशेष प्रभावित होते जान पड़ते हैं। उनके कथा-साहित्य का रूपविधान, उसकी अलंकृत शैली, उसकी कविदृष्टि रवीन्द्र के कथा-साहित्य से भिन्न नहीं हैं। नाटक के क्षेत्र में उन्होंने राय बाबू से स्वतन्त्र अपना निजी पथ प्रशस्त किया! उसमें पूर्व-पश्चिम नाटक-शैली का बहुत सुन्दर संगम था। उनकी प्रतिभा मुख्यत: गीतात्मक और स्वच्छंदतावादी थी, अत: माइकेल की भाँति वह किसी क्लासिकल महाकाव्य की सृष्टि नहीं कर सके, परन्तु 'कामायनी' में वह फिर भी एक अत्यंत वृहद् चित्रपटी लेकर चले है। उसे हम महागीति कह सकते हैं। उसमें उन्होंने महाकवि की भाँति जीवन की विशदतम चित्रभूमि चुनी है और इस भूमि पर भावों और चित्रों की ऐसी सूक्ष्म कल्पना प्रस्तुत की हैं कि हम मुग्ध रह जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि आधुनिकों में यदि 'प्रसाद' को किसी के साथ रखा जा सकता है तो वह कवि ठाकुर ही है। उन्हीं-सा रूप-विधान, उन्हीं-जैसी कवि-दृष्टि, उन जैसा भावगांभीर्य और गीतिमाधुर्य, उन्हीं के समान अलंकृत भाषाशैली। बंगला में रवीन्द्र, शरत् का जैसा युग्म है, हिंदी में 'प्रसाद'-प्रेमचन्द का युग्म भी वैसा ही है। प्राचीनों में सूर-तुलसी हठात् याद आ जाते हैं। शरत्, प्रेमचन्द और तुलसी लोक-जीवन की गंगा में बहे हैं। उन्होंने अपने स्वतन्त्र भावोच्छ्वास को समष्टि की देवी पर बलि चढ़ा दिया है। उनका साहित्य लोक-मंगल की भावना से अनुप्राणित है। वे भाषा-भावकला की छोटी-बड़ी चुहलों पर मुग्ध नहीं होते। यह जीवन में साहित्यरस ढूँढते है और साहित्य को जीवन के परिष्करण का एक महान् साधन बना देते हैं। सूर, रवीन्द्र और 'प्रसाद' जीवन और प्रकृति की प्रकृत भंगिमाओं पर मुग्ध हैं। वह भाव में डुबाने की शक्ति लेकर आये हैं। वह जीवन, यौवन, विलास, विनय, और रहस्य के गायक हैं। जहाँ उन्होंने समाज पर दृष्टि डाली है, वहाँ वह मूलत: कवि और गायक ही हैं, उपदेष्टा नहीं। उन्होंने गीतों के द्वारा मनुष्य के जीवन-भार को हलका करना चाहा है और माधुर्य और कल्पनाविलास के कुसुमायुधों से परम्परा और जड़ता की कठिन शृंखलाएं तोड़ने का प्रयत्न किया है। उनका साहित्य मानव की भावमुक्ति का

'प्रसाद' को रवीन्द्रनाथ की आयु नहीं मिल सकी—वे जीवन-परिस्थितयाँ भी नहीं मिलीं परन्तु फिर भी उन्होंने उतना ही विविध और उत्कर्षपूर्ण साहित्य हमें दिया जितना बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक रवि बाबू दे सके थे। यह हिंदी का दुर्भाग्य था कि वह अल्पायु में ही चले गये। इसमें संदेह नहीं कि भावी पीढ़ियाँ उनके साहित्यिक उत्कर्ष पर आश्चर्य करेगी और नवीन साहित्य के अग्रगण्य नेता के रूप में उन्हें जानेंगी। आज साहित्य में समाज-चेतना की प्रधानता है; लोक-जीवी साहित्य की माँग है; प्रेम, विलास, ऐश्वर्य, प्रकृति और कल्पना आज कदाचित् लांछित हैं। रवि बाबू के रहते हुए बंगाल के तरुण साहित्यकों ने उन्हें बार-बार चुनौती दी थी। हिंदी के नये सहित्यकार 'प्रसाद' के साहित्य को अभिजात्य वर्ग का प्रतिक्रियावादी कल्पना-विलासी साहित्य कहते हैं। वे उसे नये युगधर्मा का चारण नहीं मानते। उन्होंने 'प्रसाद' की लीक को छोड़ कर प्रेमचन्द की लीक पकड़ी है। परन्तु 'प्रसाद' प्रेमचंद से कम हिंदी के अपने नहीं हैं और रोटी-कपड़े की समस्या ही मनुष्य की अन्तिम समस्या नहीं है। मनुष्य भावों में भी जीता है और उसके लिये जीवन, प्रेम, जन्म-मरण, सुख-दुःख, प्रकृति और भावनाओं के घात-प्रतिघात सदैव चिरंतन आनंद और स्फूर्ति के विषय रहेंगे। जीवन की कोई भी साम्यवादी योजना इन प्रकृत तत्वों को बदल सकेगी, इसमें सन्देह ही रहेगा। जब तक ये है तब तक इनके गीत भी प्रिय रहेंगे और मनुष्य सपने देखने और प्रेम करने के अपने प्रकृत अधिकार को व्यर्थ नहीं जाने देगा। तब तक कालिदास, चंडीदास, शैली-कीट्स, सूर, विद्यापति, रवीन्द्र, 'प्रसाद' भी उपेक्षणीय नहीं हो सकेंगे। उनका साहित्य जीवन का सारतत्व रहेगा ही।